TO THE READER.

KINDLY use this book very carefully. If the book is disfigured or marked or written on while in your possession the book will have to be replaced by a new copy or paid for. In case the book be a volume of set which single volume is not available the price of the whole set will be realized.

SRI PRATAP COLLEGE,
SRINAGAR.

LIBRARY

Class No. 891.439

Book No. P 26 V

Accession No. 18261

सुमित्रानंदन पंत

(1) Sumitranandan Pant (2) criticism

(3) Vishwambhar 'Manav'

विश्वम्भर 'मानव'

PP. 439 Price Rs 5/8/-

Sh. GHULAM MOHAMAD & SONS
Book Sellers & Publishers Prop. Quran Mahal
Maisuma Bazar Amirakadal, Srinagar Kashmir

Library Sri Pratap College
Srinagar

Kitab Mahal, Allahabad

कि ता ब म ह ल
इ ला हा बा द

प्रथम संस्करण १९५१

द्वितीय परिवर्द्धित संस्करण १९५६

18261

प्रकाशक : किताब महल, ५६ ए ज़ीरो रोड, इलाहाबाद।

मुद्रक : राम प्रिंटिंग प्रेस, कीटगंज, इलाहाबाद।

Library Sri Pratap College
Srinagar

गिरिजा भाभी को

भूमिका

आलोचना के क्षेत्र में मेरा प्रवेश महत्त्वपूर्ण ग्रंथों के अध्ययन से प्रारंभ हुआ। जब भी कोई महत्त्वपूर्ण कृति प्रकाशित होती है, तभी उस पर कुछ लिखना मुझे बहुत अच्छा लगता है। अपनी मानसिक प्रतिक्रिया को व्यक्त करने के लिए समय-समय पर कामायनी, जयभारत, साकेत, प्रिय-प्रवास, गोदान, शेखर: एक जीवनी, विवर्त्त, मनुष्य के रूप, चंद्रगुप्त, हिंदी साहित्य का इतिहास और परिव्राजक की प्रजा आदि पर, जिनमें इस युग के महाकाव्य, उपन्यास, नाटक, साहित्यिक इतिहास और आत्म-कथा आदि सम्मिलित हैं, समीक्षात्मक निबंध लिखे गए। इनमें से कुछ का संग्रह 'खड़ी बोली के गौरव-ग्रंथ' नाम से हो चुका है। शेष 'साहित्य के आलोक-स्तंभ' नाम से पाठकों के सामने आ रहे हैं।

ग्रंथ विशेष के उपरांत कवि विशेष की ओर मेरा ध्यान गया। छायावाद-युग को आधुनिक काल का मैं स्वर्ण युग मानता आया हूँ। इसमें प्रसाद, पंत, निराला और महादेवी वैसे ही महत्त्वपूर्ण नाम हैं जैसे भक्ति-काल में तुलसी, सूर, जायसी और कबीर के। 'महादेवी की रहस्य-साधना' में पहले महादेवी के काव्य-सौंदर्य की ओर मेरा ध्यान गया और फिर 'सुमित्रानंदन पन्त' में पन्त जी के काव्य की विशेषताओं का विवेचन प्रस्तुत किया गया। इस ग्रंथ में, जो आपके हाथ में है, आधुनिक काव्य के विभिन्न वादों पर मैंने कुछ विस्तार से विचार किया है। कुछ लोगों का कहना है कि आज के काव्य का विश्लेषण वादों के आधार पर नहीं होना चाहिये। पर एक तो यह युग वादों का युग है, दूसरे पन्त जी किसी समय भी इन वादों से मुक्त नहीं रहे; इसी से उनके काव्य के मूल्यांकन के लिए वादों की चर्चा अनिवार्य हो उठी है। वादों के संबंध में अभी अंतिम रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। समीक्षकों में बहुत-सी बातों में मतभेद है। मैंने इन वादों को जिस अर्थ में ग्रहण किया है, उसकी व्याख्या निम्न प्रकार है—

१—प्रकृति में चेतना की अनुभूति को 'छायावाद' कहते हैं।

२—आत्मा-परमात्मा की पारस्परिक प्रणयानुभूति का नाम 'रहस्यवाद' है।

३—राजनीति में जो मार्क्सवाद हैं वही साहित्य में 'प्रगतिवाद।'

४—काव्य में अरविंदवाद का दूसरा नाम 'नवचेतनावाद' है।

विशेष ग्रंथ और विशेष कवि के उपरांत किसी विशेष युग को लेने की मेरी प्रवृत्ति हुई। इसके लिये मैंने नए युग को चुन कर १६३५ से आज तक के काव्य पर 'नई कविता' में विचार किया है। हुआ यह है कि नए काव्य को लेकर प्रगतिवादी समीक्षक अपने साथियों का प्रचार करते रहे हैं और प्रयोग-वादी अपने कवियों का। इन आंदोलनों से प्रभावित हमारे समीक्षकों ने इधर के नए गीतिकारों को, जो नई कविता के विकास में महत्त्वपूर्ण योग देते आये हैं, एकदम भुला दिया है। अपने नए समीक्षा-ग्रंथ में मैंने इस अन्याय की शक्ति को कुछ क्षीण करने का प्रयास किया है।

साहित्य के क्षेत्र में दलबंदी की दूषित मनोवृति आजकल बढ़ रही है और मैं जानता हूँ कि मेरा युग भ्रष्टाचार का युग है। इस दलबंदी से सदैव दूर रहने के कारण कुछ अन्य लेखकों के समान मुझे भी जीवन में बहुत सहन करना पड़ा है और हानि तो उठानी पड़ी ही है। लेकिन वह एक व्यक्तिगत बात है। आलोचना लिखने में सबसे आवश्यक बात मैं यह मानता हूँ कि साहित्यिक सहानुभूति के साथ आलोचक को कवि की उस मानसिक स्थिति से तादात्म्य प्राप्त करना चाहिए जिसमें डूबकर उसने सृजन किया है। यदि कवि का आशय आलोचक नहीं पकड़ पाता तो उसका कर्म व्यर्थ ही समझिए। यों बड़े से बड़े कवि की अपनी सीमाएँ होती हैं और फिर कवि के लिए उसका कृतित्व चाहे उसकी सिद्धि हो; पर जीवन की दृष्टि से वह एक साधन ही रहेगा। यदि कवि अपने कर्म को व्यापक जीवन के वृहत्तर आशय के सामंजस्य में नहीं रख पाता, तो समीक्षक का धर्म है कि वह उस ओर कवि का ध्यान आकर्षित करे।

—**मानव**

क्रम

व्यक्तित्व श्रौर साहित्य	१
पंत श्रौर उनका युग	१८
छायावाद	४१
पंत का छायावादी दृष्टिकोण	६८
रहस्यवाद	८०
पंत की रहस्यवृत्ति	६६
प्रगतिवाद	११६
पंत की प्रगतिशीलता	१५६
पंत श्रौर प्रकृति	१८६
पंत की प्रेम-भावना	२३१
मानव	२६५
मानवी	२७६
मानसी	२६०
व्यक्तिगत	२६८
महापुरुषों के प्रति	३०३
गीति-नाट्य काव्य-रूपक श्रौर पंत जी	३२५
नवचेतनावाद	३३६
विचार जगत	३४४
भाव श्रौर कला	३८०
मूल्यांकन	४३४

व्यक्तित्व और साहित्य

इलाहाबाद आने से पूर्व श्री सुमित्रानंदन पंत से मेरा परिचय केवल उनके काव्य के माध्यम से था। उनके ग्रंथों में उनके सुन्दर चित्र देखने को मिल जाते थे। इस सूक्ष्म परिचय और इन चित्रों के आधार पर ही इस कवि के संबंध में मैंने कुछ धारणाएँ बना ली थीं। पिछले कुछ वर्षों में जब समय-समय पर इलाहाबाद आना हुआ, तब यह जानकर कि पंत जी यहीं रह रहे हैं, उनसे भेंट करने की इच्छा स्वाभाविक रूप से जगी।

पहली बार उनके दर्शन बड़ी विचित्र स्थिति में हुए। शीत का प्रकोप कुछ कम हो गया था। चाँदनी रात थी। मैं बाहर घूमने सड़क पर निकल गया। सहसा एक रिक्शा कहीं से आता दिखाई दिया। उसमें जो व्यक्ति बैठा था उसने एक बार आकाश के नक्षत्रों की ओर देखा और फिर सड़क के किनारे खड़े मौन विटपों की ओर। रिक्शे को रोककर वह वहीं उतर पड़ा। शायद उसका निवास-स्थान पास में ही कहीं था। वृक्षों के नीचे छाया-प्रकाश आलिंगन में बद्ध पड़े थे। वह व्यक्ति उन छाया-चित्रों को जिन्हें प्रकृति ने किरणों की तूलिका से अंकित किया था, देखता हुआ धीरे-धीरे बढ़ गया। प्रत्यक्ष रूप में पंत जी के कवि-हृदय का परिचय मुझे उसी दिन मिला।

और तब एक दिन मैं 'बच्चन' जी के यहाँ गया। उन दिनों पंत जी 'बच्चन' जी के साथ एडल्फी में रह रहे थे। सोच रहा था भेंट हो भी पायेगी या नहीं। इतने में देखा बँगले के फाटक के पास ही पंत जी लीडर प्रेस के श्री वाचस्पति पाठक से बातें कर रहे हैं। दृष्टि मिलते ही मैंने हाथ जोड़कर पाठक जी को प्रणाम किया। पाठक जी और उनकी सहृदयता से मेरा परिचय बहुत पुराना है। उनकी दृष्टि ने कहा : अच्छा, यह बात है। इलाहाबाद आते हो और हमसे बिना मिले चुपचाप खिसक जाते हो। पर उनकी स्नेह-शीलता उमड़ आई और मुस्कराकर उन्होंने पंत जी को मेरा नाम बताया। पंत जी ने पाठक जी को तो बिदा दी और मुझे भीतर अपने साथ ले आये। संसार की गति-

विधि और कवि-कर्म पर कुछ देर बातें होती रहीं। सब कुछ कहने पर भी पंत जी ने अपने संबंध में कुछ नहीं कहा। उस दिन से मैंने आज तक देखा है कि अपनी ओर से पंत जी अपने संबंध में बहुत कम बातें करते हैं।

देखने में पंत जी अत्यन्त सुन्दर व्यक्ति हैं और केवल उनके निकट चुप बैठना ही एक अत्यन्त प्रिय अनुभव है। आज यद्यपि वे जीवन की प्रौढ़ावस्था में उतर गए हैं, पर उनके वर्ण की कांति में बहुत कम कमी आई है, उनके विशाल नेत्रों में अब भी वैसी ही जिज्ञासा, सरलता और सात्विकता है, केश अब भी वैसे ही लहरदार और आकर्षक हैं, मुख की मुद्रा में अब भी वैसी ही कोमलता है। पंत जी को कभी, कहीं और कैसी ही स्थिति में देखिए, उनकी दीर्घ, स्वस्थ, रम्य, सौम्य आकृति से यह सदैव झलकता है कि यह व्यक्ति किसी देश का कोई महान कलाकार है।

पंत जी शरीर से जितने सुन्दर हैं, उतने ही सुन्दर वे हृदय से भी हैं। दूसरों के संबंध में जब कभी वे चर्चा करते हैं; तब केवल उनके गुणों की। उनके हृदय में सबके लिए सद्भाव के अतिरिक्त और कहीं कुछ नहीं। वे किसी की बुराई नहीं करते; अतः विश्वास ही नहीं कर सकते कि उनकी कोई बुराई कर सकता है। आज के संदेहवादी युग में पंत के हृदय का सहज विश्वास एक आश्चर्य का विषय है। हृदय उनका जैसा निर्मल है, वैसा ही कोमल भी। साथ ही वे बड़े संकोचशील भी हैं। एक बार मुझे एक पुस्तक की आवश्यकता पड़ी। पूछने पर पता चला कि कोई सज्जन ले गए हैं। जब बहुत दिन तक वह पुस्तक नहीं लौटायी गई, तब विवश होकर मैंने एक दिन कहा : आप रहने दीजिए, मैं माँग लूँगा। बोले : नहीं, नहीं, ऐसा कैसे हो सकता है? अर्थात् उनकी कोई वस्तु कोई ले जाय तो फिर माँगी नहीं जा सकती। भला ऐसा कैसे हो सकता है?

शरीर और मन की इस सुन्दरता के साथ पंत जी के व्यक्तित्व से संबंधित एक तीसरे प्रकार की सुन्दरता भी है—वातावरण की। वे स्वस्थ, स्वच्छ और सुन्दर वातारण में रहने के अभ्यासी हैं। जहाँ वे रहते हैं, वहाँ सब वस्तुएँ ठीक स्थान पर ठीक ढंग से रखी हुई मिलेंगी। रंगों का ज्ञान उनका ऐसा है कि सब मिलाकर दृश्य बहुत नयनाभिराम लगता है। फर्श, द्वार के पर्दों, सोफ़े

के गद्दों, तकियों के खोलों और मेजपोश भिन्न रंग और डिज़ाइन के मिलेंगे, पर वे सब मिलकर पंत जी की किसी वर्ण-योजना के अंग बन जाते हैं। उनके कमरे में आजकल केवल महात्मा गांधी की एक मूर्ति है। इन कमरों में घूमते या बैठे हुए पंत जी बहुत आकर्षक लगते हैं। अपने बँगले के फूलों, लताओं और चित्रों में सबसे सुन्दर वस्तु स्वयं पंत जी ही हैं।

पंत जी बड़े सरल हृदय के व्यक्ति हैं। नीतिज्ञों के समान वे बातें करना जानते ही नहीं। कोई अधिक प्रतिवाद करता है तो दूसरे का दोष भी अपने सिर पर ओढ़ कर विवाद को शांत कर देते हैं। बात करते समय शिष्टता कभी उनका साथ नहीं छोड़ती। मैंने उन्हें कभी आवेश में आते नहीं देखा। बात को वे विवाद के धरातल से खींच कर और व्यक्तिगत संबंध से मुक्त करके एक उच्चत्तर स्तर पर ले आते हैं, जहाँ सभी प्रकार की क्षुद्रताएँ और संकीर्णताएँ स्वयं लुप्त हो जाती हैं। इस प्रकार वे बड़े विवेकशील व्यक्ति हैं।

पंत जी में कवियों की सी थोड़ी आत्म-विस्मृति पाई जाती है। वे शांत स्वभाव के चिंतनशील व्यक्ति हैं। वैसे आत्मविश्वासी और आशावादी हैं। प्रवृत्ति उनकी समन्वयात्मक और सृजनात्मक है। सत्य, शिव, सुन्दर के वे उपासक, प्रतिष्ठापक और प्रतीक हैं। उनका व्यक्तित्व वास्तव में बड़ा विशाल है।

आदर्श कलाकार कैसा होता है, इसका उदाहरण यदि मुझे देना पड़े, तो मैं पत जी का नाम लूँगा। यदि मैं एक वाक्य में पंत जी का वर्णन करना चाहूँ तो कहूँगा कि जो व्यक्ति शरीर, मन, बुद्धि और आत्मा से पूर्ण सुन्दर है, उसका नाम पंत है।

पुस्तक समाप्त होने पर जिस समय मैं हैमिल्टन रोड पर स्थिति पंत जी के बँगले पर पहुँचा, उस समय वृक्षों से पीले पत्ते झर-झर कर उड़ रहे थे। पत-झर का अंत और वसंत का प्रारंभ था। लगता था मानों प्रकृति ने अपने अंगों को निखारने के लिए अंगराग किया हो और वह धीरे-धीरे निखर रहा हो।

बाहर के छोटे कमरे पर चिक पड़ी थी। पंत जी भीतर बैठे कुछ लिख रहे थे। सोचने लगा इस समय विघ्न करना उचित भी होगा या नहीं। सृजन

Library Sri Pratap College
Srinagar.

के-कुछ विशेष पल होते हैं। उन पलों में कलाकार सृष्टि करले तो करले, नहीं तो बाह्य दृष्टि से उनसे सुन्दर पल मिलने पर भी सृष्टि संभव नहीं। संध्या हो या रात या प्रभात, हम घूमते हों या लेटे या बैठे, ऐसा लगता है जैसे झरने से जल, वैसे ही हृदय से एक धारा उमड़ती है। वह केवल धारा मात्र नहीं होती, उसकी ध्वनि स्पष्ट होती है। ऐसा लगता है कि आत्मा की एक भाषा है, वह उसी में कुछ कह रही है। जो उसे उसी समय नहीं सुनता, समझता, लिपिबद्ध करता, प्रयत्न करने पर भी वह निधि फिर हाथ नहीं लगती। इन्हीं को सृजन के पल कहते हैं। मन के पात्र में भीतर से उमड़ कर इतना भर जाता है कि समा नहीं पाता। छलकने लगता है। वे छलकने वाली बूँदें अमृत की बूँदें हैं। मृत इनका पान कर अमृत हो जाते हैं।

मैं लौटने ही वाला था कि भीतर से पंत जी ने देख लिया। चिक उठाकर वे बाहर आए। बोले : आइए।

मैं शांत भाव से भीतर जाकर बैठ गया। मैंने कहा : मैं परसों भी आया था और कल भी। परसों जब आया तो प्रभातकाल में रामकुमार जी और वाचस्पति पाठक आपके पास बैठे थे और संध्या समय आया तो अज्ञेय जी आपसे बातें कर रहे थे। कल आते ही देखा स्टेशन डाइरेक्टर श्री० एस० एन० मूर्ति की कार खड़ी है।

"हाँ, मैंने देखा आप बिना कुछ कहे ही चुपचाप उठकर चले गए।"

मैंने कहा : आपको अवकाश हो और कोई आपत्ति न हो तो आपके जीवन के संबंध में मैं कुछ प्रश्न करना चाहता हूँ। आपके काव्य पर एक आलोचनात्मक ग्रंथ मैं पिछले कुछ दिनों से लिख रहा था। वह अब पूरा हो गया है। आपके जीवन से संबंधित कई लेख मुझे देखने को मिले; परन्तु उन लेखों में से सामग्री एकत्र करने के स्थान पर मेरी दृष्टि से यह कहीं अधिक प्रामाणिक होगा कि जो मुझे जानना है वह सीधे आपसे ही जानूं। साहित्यिकों की जीवनी लिखने की हमारे यहाँ न तो प्रथा है और न हिन्दी के आलोचकों ने इस ओर अधिक ध्यान दिया है कि काव्य की समीक्षा करने के साथ ही लेखकों के जीवन की कम से कम उतनी बातें अवश्य दे दें जितनी पाठक जानना चाहता है। प्राचीन कवियों में तुलसी, सूर, कबीर, मीरा तक के संबंध

में हम बहुत सी बातें ठीक से नहीं जानते। आज से पचास वर्ष के उपरांत प्रसाद, निराला, पंत, महादेवी के संबंध में भी यही बात खड़ी होगी। आप बताइए सुविधा-पूर्वक आप किस समय मेरी बातों का उत्तर दे सकेंगे?

पंत जी मेरी ओर देखने लगे। बोले: ऐसी क्या विशेष बात पूछनी है?

विशेष नहीं, साधारण बातें पूछनी हैं।

तब सुविधा कब होगी, कौन जाने। जो पूछना हो अभी पूछ लीजिए। मैं उत्तर दूँगा।

जन्म आपका कब हुआ?

२० मई सन् १६०० को।

अपने जन्म-स्थान और परिवार के सम्बन्ध में कुछ कहिए।

जन्म-स्थान मेरा कौसानी है जो अल्मोड़े से ३२ मील उत्तर की ओर है। मेरे पिता कौसानी के टी गार्डन्स के मैनेजर थे और स्वतन्त्र रूप से लकड़ी का व्यापार करते थे। वे ख्याति-प्राप्त धनी व्यक्ति थे। हम चार भाई थे और चार ही हमारी बहनें थीं। इस समय सभी बहिनों एवं एक भाई की मृत्यु हो चुकी है। मेरे शेष दो भाई—श्री हरदत्त पंत और श्री देवीदत्त पंत—मुझसे बड़े हैं। पिता जी धार्मिक वृत्ति के उदार-हृदय व्यक्ति थे। प्रातःकाल चार बजे से उठकर आठ बजे तक वे पूजा-पाठ में लगे रहते। हरदत्त जी पहले मेयो कालेज अजमेर में थे फिर लखनऊ चले आये। कविता की प्रेरणा मुझे इन्हीं से मिली। देवीदत्त जी ने कांग्रेस में काम किया, जेल भी गये। वे अल्मोड़े में एडवोकेट हैं। आजकल देहली में भारतीय संसद के सदस्य हैं।*

आपके पिता जी का नाम क्या था? वे तो अब जीवित नहीं हैं न?

नाम पं० गंगादत्त पंत था। उनकी बड़ी इच्छा थी कि प्रयाग में उनका देहान्त हो और यही हुआ भी। यह १६२८ की बात है।

आपकी माता जी का नाम सरस्वती देवी था न?

हाँ। दिन में आठ नौ बजे मेरा जन्म हुआ और केवल ६ घंटे के उपरान्त उनका देहान्त हो गया।

---

* श्री देवीदत्त पंत अब नहीं रहे।

तब आपका पालन-पोषण किसने किया ?

मेरी फूफी ने। उनके पति साधू हो गये थे; अतः वे हमारे साथ ही रहती थीं।

आपकी प्रारम्भिक शिक्षा कहाँ हुई ?

अल्मोड़े के गवर्नमेन्ट हाई स्कूल में। नवीं कक्षा तक मैंने वहाँ शिक्षा पाई। फिर मैं काशी चला आया। वहाँ जयनारायण हाई स्कूल से मैट्रिक किया। जुलाई १९२० में प्रयाग में म्युअर सेंट्रल कॉलेज का विद्यार्थी बना। तब मैं हिन्दू बोर्डिंग हाउस में रहता था। सन् १९२१, असहयोग आन्दोलन का वर्ष था। उन दिनों महात्मा गाँधी प्रयाग पधारे थे और 'आनन्द भवन' में ठहरे थे। राजनीति में मेरी कोई अभिरुचि नहीं थी; पर विद्यार्थियों पर उनके भाषण का बड़ा प्रभाव पड़ा और सब के साथ मैंने भी कॉलेज छोड़ दिया। इस प्रकार मेरी शिक्षा यहीं समाप्त हो गई।

सबसे पहले आपने कविता कब लिखी ?

जब मैं सातवें दर्जे में था। उन दिनों स्वामी सत्यदेव जी परिव्राजक हिन्दी का प्रचार करने अल्मोड़े आये थे।

अपने साहित्यिक जीवन में आप किन विशेष व्यक्तियों के अधिक सम्पर्क में रहे हैं ?

कॉलेज छोड़ते ही इलाहाबाद विश्वविद्यालय के अँगरेजी के प्रोफेसर श्री शिवाधार पांडेय के सम्पर्क में मैं रहा। सन् १९२१–२४ के बीच उनसे मैंने अँगरेजी का अध्ययन किया। सन् १९२४ में दर्शन की ओर मेरा झुकाव हुआ जिसके चिह्न 'परिवर्तन' शीर्षक कविता में पाये जाते हैं। वीणा सीरीज की कविताएँ कुछ काशी में लिखी गईं, और कुछ प्रयाग में। 'पल्लव' की रचनाएँ १९१८–२४ के बीच इलाहाबाद में लिखी गईं। 'ग्रंथि' का प्रणयन सन् १९२० में कौसानी में हुआ। १९२४–२८ के बीच मैंने कुछ नहीं किया। इस बीच काफी पारिवारिक संकटों का सामना करना पड़ा। १९२९ में उमर खैयाम की रुबाइयों का अनुवाद मैंने किया। यह 'पल्लव' के बाद की मेरी रचना है। तभी एक दोपहरी में मैं बाहर निकला ही था कि लू लग जाने से बीमार पड़ गया। सर्जन नीलाम्बर जोशी उन दिनों भरतपुर में थे। उन्होंने बतलाया कि

प्लूरिसी के लक्षण हैं जो क्षय में परिवर्तित हो सकती है। ३ मास मैं उनके साथ रहा।

अच्छा, कुँवर सुरेशसिंह के सम्पर्क में आप कैसे आए ?

१९३० के ग्रीष्म में मैं पहाड़ लौट आया। नैनीताल में कालाकाँकर के राजा श्री अवधेश सिंह आये हुए थे। उन्हीं के साथ उनके छोटे भाई सुरेशसिंह भी थे। परिचय हुआ। परिचय मित्रता में परिणत हो गया। ग्रीष्म के बाद मैं कालाकाँकर चला गया। सन् ३१-३३ के बीच मैं वहीं रहा। 'गुंजन' और 'ज्योत्स्ना' की रचना वहीं हुई। ३४-३५ में अल्मोड़े रहा। वहाँ 'युगांत' लिखा गया और लिखी गईं 'पाँच कहानियाँ।' सन् १९३७-४० के बीच फिर कालाकाँकर में 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' की रचना हुई। सन् ४०-४२ के बीच कभी अल्मोड़ा रहा, कभी प्रयाग।

उदयशंकर के भी संपर्क में तो आप रहे हैं ? उनसे कहाँ भेंट हुई ?

अल्मोड़े में ही। सन् १९४३ में मैं उनके संस्कृति केन्द्र का सदस्य बन गया। सन् ४४-४५ का जो उनका 'विन्टर टूर' था उसमें कानपुर, लखनऊ, आगरा, बड़ौदा, बंबई आदि जाना हुआ।

उनके कल्पना चित्र में आपका कितना सहयोग है ?

केवल गीत दिए हैं। यह चित्र जैमिनी स्टूडियो में मद्रास में बना। इसी बीच पाँडेचेरी भी मैं गया। ४५-४६ में 'स्वर्ण किरण' और 'स्वर्ण धूलि' की कविताएँ लिखी गईं।

'बच्चन' जी के साथ कब रहना हुआ ?

दक्षिण से लौटने के बाद जुलाई ४७ में एडल्फी में। उन दिनों मैं प्रयाग लौट आया था। कुछ महीने बेली रोड पर भी रहा। प्रयाग मुझे बहुत प्रिय है।

नरेन्द्र शर्मा भी तो आपके सम्पर्क में रहे हैं ?

हाँ। जब 'रूपाभ' निकला तो वे उसके सहकारी संपादक थे। मैं तो प्रायः कालाकाँकर रहता था। कार्यालय का कार्य यहाँ वे ही देखते थे।

उन लोगों को आपने कैसा पाया।

किन लोगों को ?

जिनके सम्पर्क में आप अधिक रहे—प्रो० शिवाधार पाँडेय, कुँवर सुरेश-सिंह, नरेन्द्र शर्मा, बच्चन।

श्री शिवाधार पाँडेय जी से मुझे प्रोत्साहन बहुत मिला। सुरेशसिंह जी बड़े ही सहृदय और सुरुचिपूर्ण व्यक्ति हैं और साहित्य के भी बड़े प्रेमी हैं। वे स्वयं लेखक भी हैं। कालाकाँकर में मैं कई साल रहा हूँ और इसके लिए कुँअर सुरेशसिंह जी का बड़ा कृतज्ञ हूँ। वहाँ सबसे रम्य स्थान पर मेरा एक कॉटेज था—नाम था 'नक्षत्र'। सुरेश सिंह जी की पत्नी भी साहित्य की अनुरागिनी हैं। इनके पिता पन्ना के दीवान थे।

प्रकाशवती नाम है उनका?

हाँ। अपनी 'पल्लविनी' मैंने उन्हीं को समर्पित की है।

"मुझे मालूम है" मैंने कहा, "पल्लविनी में मैंने उनका चित्र देखा है। सौम्य, शांत, गंभीर प्रतीत होती हैं।"

१९३८ में 'रूपाभ' के प्रकाशन के उपरांत नरेन्द्र से घनिष्ठता हुई। बंबई जब जाना होता है, नरेन्द्र के साथ ही ठहरना होता है। पत्नी भी उन्हें बहुत अच्छी मिली हैं। चित्रकार हैं। गुजराती में कहानियाँ लिखती हैं। 'बच्चन' से १९४० में जब घनिष्ठता हुई, तब बेली रोड पर एक बँगले में रहना हुआ। नाम है 'बसुधा' (बच्चन-सुमित्रानंदन-धाम)। वह नाम मेरा ही दिया हुआ है। 'बच्चन' तब ख्याति प्राप्त कर चुके थे। 'निशा-निमंत्रण' प्रकाशित हो चुका था। 'बच्चन' और उनकी पत्नी तेजी दोनों ही बड़े स्नेह-शील हैं। दोनों ही मुझे बहुत अच्छे लगते है। नरेन्द्र और उनकी पत्नी भी बहुत स्नेह-शील हैं। वे दोनों भी मुझे बहुत प्रिय हैं। नरेन्द्र भावुक है—कवि हृदय। बच्चन बहुत ही समझदार व्यक्ति है और उसकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उसका स्वभाव बहुत संतुलित है। एक व्यक्ति को मैं और नहीं भूल सकता। वे हैं रामचन्द्र टंडन। कालाकाँकर से जब मैं प्रयाग आया, तो प्रायः उन्हीं के यहाँ ठहरता। कॉलेज में धीरेन्द्र वर्मा, बाबूराम सक्सेना, रामचन्द्र टंडन, रघुपति सहाय फिराक और मैं, आगे पीछे एक ही साथ थे। टंडन कला के प्रेमी, कला मर्मज्ञ और कला के आलोचक हैं। विद्वान् मिलनसार और स्नेही व्यक्ति हैं।

उदयशंकर के संबंध में आपकी क्या धारणा है?

प्रतिभाशाली कलाकार हैं। भारतीय नृत्य-कला को उन्हीं ने पुनर्जीवित किया है। वे ही हैं जिनके द्वारा भारतीय नृत्य-कला देश-विदेशों में प्रसिद्ध हुई। मेरे लिए तो वे मित्र की भाँति रहे हैं। बड़े शिष्ट व्यक्ति हैं।

श्री अरविंद के सम्पर्क में आप कैसे आए?

१९४१-४२ की बात है जब श्री अरविंद के सेक्रेट्री श्री ए० बी० पुराणी की कन्या श्री उदयशंकर के केन्द्र में नृत्य की शिक्षा पाने आई थीं। वे प्रायः श्री अरविंद के दार्शनिक विचारों की चर्चा करती थीं। उसी समय से उनके साहित्य के अध्ययन की ओर मेरी अभिरुचि हुई। अल्मोड़े में ही एक प्रसिद्ध अमरीकन चित्रकार मि० ब्रूस्टर रहते थे जो श्री अरविंद के बड़े भक्त थे। उन्होंने उनकी 'दि लाइफ डिवाइन' (The Life Divine) भेंट की। फिर ४५-४६ में मैं आश्रम में गया ही और वहाँ श्री अरविंद के दर्शन हुए।

रवीन्द्रनाथ ठाकुर से भी तो आपकी भेंट हुई थी?

हाँ, एक बार वे अल्मोड़े आये थे। तभी प्रथम बार दर्शन हुए। मेरी बहन की लड़की शांति-निकेतन में पढ़ती थी। उसे पहुँचाने जाना पड़ता था। अतः शांति-निकेतन मैं अनेक बार गया हूँ। एक बार श्री हजारीप्रसाद जी द्विवेदी के साथ गुरुदेव से भेंट हुई तो मैंने कहा : महात्मा जी को मैं आदर देता आया हूँ, पर स्नेह तो आपके ही प्रति है। इस पर गुरुदेव मौन दृष्टि से मुझे देखते रहे। सुन्दर आदमी थे वे और इसमें तो कहना ही क्या कि कला के अनन्य उपासक थे। इस युग में रवीन्द्रनाथ जैसा गीतकार नहीं हुआ। मैं तो उन्हें विश्व के कवियों में इस समय सर्वश्रेष्ठ गीतिकार मानता हूँ। वस्तु और कला दोनों क्षेत्रों में उन जैसी देन किसी की नहीं। इस युग के लिए जो काम उन्होंने किया वह किसी ने नहीं किया। 'शा' को भी मैं उन जैसा बड़ा साहित्यकार नहीं मानता। उनके गीतों में संगीत का तत्व तो ऐसा है कि चकित रह जाना पड़ता है। सूरदास के पदों में भी संगीत का वह गुण नहीं। यह मेरी व्यक्तिगत धारणा है। संभव है और लोग ऐसा न मानें। बँगला गीति-काव्य में चंडीदास से लेकर रवीन्द्रनाथ तक एक प्रगति रही है। रवीन्द्रनाथ उस गति के चरमविंदु हैं।

हिंदी के बड़े कवियों से भी तो आपके घनिष्ठ संबंध रहे हैं?

हाँ, रहे हैं। श्री मैथिलीशरण गुप्त की मुझ पर बड़ी कृपा रही है और उनका स्नेह मुझे मिला है। उनके चिरगाँव मैं हो आया हूँ। वहाँ मैंने बड़े सुख का अनुभव किया। श्री अयोध्यासिंह उपाध्याय का मेरे प्रति बड़ा सद्भाव रहा। उनके सभापतित्व में होने वाले प्रयाग के एक कवि-सम्मेलन में जब मैंने 'छाया' कविता पढ़ी, तो उन्होंने गद्‌गद् होकर अपने गले की माला मेरे गले में डाल दी थी। 'रत्नाकर' जी भी मुझे बहुत प्यार करते थे यहाँ तक कि एक चित्र भी उन्होंने मेरे साथ खिंचवाया था। श्रीधर पाठक जी से मेरा बड़ा घनिष्ठ संबंध रहा। रविवार की संध्या को मैं प्रायः उन्हीं के यहाँ खाना खाया करता था। प्रकृति के वे बड़े प्रेमी थे और मेरी वीणा की रचनाओं को बहुत पसंद करते थे। कभी-कभी कह दिया करते थे: तुम भविष्य के कवि (Future poet) हो। 'प्रसाद' जी के साथ तो, जब मैं काशी जाता, ठहरता ही था। उनकी अनेक मधुर स्मृतियाँ मेरे हृदय में हैं। वे अत्यंत मधुर स्वभाव के व्यवहार-कुशल व्यक्ति थे। स्वाभाविक रूप से कविता जिसके व्यक्तित्व में निवास करे, ऐसे प्राणी थे वे। निराला जी से सुहृद मित्र की भाँति घनिष्ठ संपर्क रहा है। पहली बार अपने जामाता के साथ वे मुझे मिले थे—इलाहाबाद में ही। मुझे स्मरण है, अपनी 'मौन निमंत्रण' कविता मैंने उन्हें सुनाई थी और उन्होंने उसकी बड़ी प्रशंसा की थी। जिन दिनों निराला जी लखनऊ में थे और मैं कालाकाँकर से वहाँ जाता तो उनसे भेंट होती रहती थी। हम साथ ही संध्या समय टहलने जाते और कभी-कभी अमीनाबाद में साथ बैठकर चाय पीते। उन दिनों का मुझे अब भी स्मरण है। 'निराला' जी एक बार कालाकाँकर भी आए थे और यह बात तो प्रसिद्ध ही है कि 'निराला' मुझे बहुत प्यार करते हैं। महादेवी जी से मेरा प्रथम परिचय धीरेन्द्र वर्मा के विवाह में हुआ। मुझे देखकर वे सहसा हँस दीं, इस समय इतना ही स्मरण है। कालाकाँकर से जब मैं आता तो उनसे भी मिलने जाता था। एक बार वे भी कालाकाँकर आयी थीं। 'साहित्यकार संसद' में इधर जब उपेन्द्रनाथ अश्क रहते थे तो वहाँ जाना रहता ही था। इसमें तो संदेह ही नहीं कि वे बड़ी प्रतिभाशालिनी हैं।

अपने जीवन से आपको किसी प्रकार का असंतोष रहा है क्या ?

असंतोष मुझे अपने जीवन से बहुत रहा है। विदेश जाने की मेरी बड़ी

भारी इच्छा किसी समय थी। वह पूरी नहीं हो सकी। यों बहुत भीतर कोई बाधा नहीं, पर बाहरी बाधाएँ रही हैं। यह मेरा स्वभाव समझिए या रहने का ढंग कि इतने परिवारों में मैं निभ पाया। ऐसी दशा में दूसरों की सुविधा का कितना ध्यान रखना पड़ता है यह मैं ही जानता हूँ। दूसरों की सुविधा की लय में लय मिलाकर रहना बहुत कठिन काम है। भला जीवन ने मुझे क्या सुविधाएँ दीं?

बात क्योंकि उठ पड़ी है और यदि आप मेरे प्रश्नों को अधिक व्यक्तिगत न समझें, तो इतना बतलाइए कि वैवाहिक जीवन की ओर से आप इतने उदासीन क्यों रहे हैं?

पंत जी अभी तक मेज पर हाथ रखे कुर्सी पर बैठे थे। अब खड़े होकर कमरे में धीरे-धीरे घूमने लगे। बोले: उदासीनता का प्रश्न नहीं भाई। अपने साथी को मैं मनचाहे ढंग से अच्छी स्थिति (Status) में नहीं रख सकता था। ऐसी दशा में मुझे किसी को दुःखी बनाने का क्या अधिकार था? सन् १९२१ में जब मैंने कॉलेज छोड़ दिया तो आर्थिक द्वार मेरे लिए बन्द हो गया। वैसे मैं अच्छे ढंग से पला हूँ, अच्छे ढंग से रहने का अभ्यासी हूँ और सभी बहुत अच्छे ढंग से रहें इस बात का पक्षपाती हूँ। ऐसी दशा में क्या यह संभव भी था कि मैं विवाह की बात सोचता?

पर इस समय तो आपको आर्थिक चिंता नहीं है। अब तो आप रेडियो सर्विस में हैं। क्यों नहीं किसी को जीवन-साथी बना लेते?

उफ़! कितनी बड़ी मज़ाक है यह। मैं पचास वर्ष का हुआ। ऐसी बात क्या अब सुहाती है? सोची भी जा सकती है?

अवस्था की क्या बात है? भारत सरकार के कई मन्त्रियों और उच्च पदाधिकारियों ने अपनी बढ़ी अवस्था में विवाह किया है और कवियों की बात लें तो एक हिन्दी-कवि ने भी उदाहरण प्रस्तुत कर ही दिया है।

इन बातों का भी एक समय होता है। अब मैं उसे ठीक नहीं समझता।

अच्छा, सच बतलाइए, विवाह न करने के पीछे केवल आर्थिक कारण रहे हैं? और कुछ नहीं?

और कुछ क्या?

जैसे अन्य कवियों के संबंध में वैसे ही आपके संबंध में बहुत सी बातें प्रचार पा गई हैं, यह आपको मालूम तो होगा ?

कवियों (Poets) और अविवाहितों (Bachelors) के संबंध में ऐसी बातें प्रचार पा ही जाती हैं। यह बहुत स्वाभाविक है। लेकिन क्या बात है, स्पष्टतः से कहो।

नहीं, मैं वैसी बातें एक कान से दूसरे कान तक पहुँचाने का अभ्यासी नहीं हूँ। साहित्य के बाहर मैं नहीं जाऊँगा। अच्छा, 'ग्रंथि' की कथा के मूल में क्या है ?

पंत जी हँसने लगे। बोले—कल्पना है—एकदम कल्पना।

यदि मैं विश्वास न करूँ ?

नहीं, मैं कह रहा हूँ, करना चाहिए। 'उच्छ्वास' और 'आँसू' में हो सकता है दस प्रतिशत सत्य हो, पर 'ग्रन्थि' की कथा तो एकदम काल्पनिक है। उस समय मैं उन्नीस-बीस वर्ष का था। प्रेम की कोई बात ठीक से समझता भी नहीं था।

पर प्रेम करने का तो सबसे उपयुक्त समय यही है—युवकों के लिए उन्नीस बीस की अवस्था, युवतियों के लिए सोलह-सत्रह की। आप कुछ भी कहें, पर संसार यह स्वीकार न करेगा कि आपके जीवन-भर अविवाहित रहने के पीछे केवल आर्थिक कारण थे, भाव का कोई संबंध कहीं नहीं !

पंत जी शांत भाव से घूमते रहे।

प्रसंग बदलना आवश्यक था। मैंने पूछा—आपकी 'लोकायन' की योजना का क्या रहा ?

एक संस्कृति पीठ के रूप में मैं 'लोकायन' की स्थापना करना चाहता था। 'लोकायन' की योजना सर्व प्रथम सन् १९४२ में मेरे मस्तिष्क में आ गई थी और उसकी रूप रेखा भी तब प्रकाशित हो चुकी थी। बाद में सन् १९४७ में धीरेन्द्र वर्मा, डा० बाबूराम सक्सेना, रामचंद्र टंडन, अज्ञेय और बच्चन आदि के साथ मिलकर 'लोकायन' का विधान और नियम बने। उद्देश्यों की पूर्ति के लिए इसमें ४ विभाग खोलने की बात थी (१) ज्योति द्वार (२) संस्कृति द्वार (३) कला द्वार और (४) जीवन द्वार। सांस्कृतिक

जीवन के प्रचार के लिए मैं अभिनय को अत्यन्त आवश्यक समझता हूँ। नृत्य और मंच संबंधी बातों के ज्ञान के लिए इसी से मैं उदयशंकर के साथ रहा और घूमा। 'लोकायन' के उद्देश्यों की पूर्ति के लिए धन की आवश्यकता है। एक बड़ा भवन चाहिए। स्थायी रूप में रहें, ऐसे विशेषज्ञ चाहिए। संगीतज्ञ और अभिनेता-अभिनेत्रियाँ चाहिए। उत्तर प्रदेश की सरकार ने सहायता के लिए आश्वासन दिया था, इसी से मैने यह योजना बनाई। उससे केवल दस हज़ार का एक अनावर्त अनुदान (Non- recurring grant) मिला। इससे क्या होता है! वह रुपया बैंक में जमा है। मेरे स्वास्थ्य, स्वभाव और क्षमता की ऐसी गति है कि रुपया भी एकत्र करने के लिए घूमता फिरूँ और साहित्यिक कार्य भी करूँ, यह मुझसे नहीं हो सकता। बहुत दौड़-धूप करने से मेरे लिखने के कार्य में बाधा पड़ती है।

ऐसी दशा में आप क्या सोच रहे हैं?

अभी तो बाहरी विरोध बहुत हैं। देश में बहुत सी ऐसी समस्याएँ उठ खड़ी हुई हैं कि पहले वे सुलझनी चाहिए। इस समय कला की ओर न सरकार ध्यान दे सकती है और न जनता। सांस्कृतिक कार्यों के लिए अभी वातावरण नहीं। परन्तु मैं निराश नहीं हूँ। जब हमारे देश में सांस्कृतिक प्रयोगों के लिए अनुकूल स्थितियाँ उत्पन्न होंगी तभी कुछ हो सकेगा।

'श्री अरविंद पाठ-चक्र' की स्थापना यहाँ किसकी प्रेरणा से हुई? वहाँ क्या होता है? आपका सहयोग उसे किस रूप में प्राप्त है?

भारत के प्रमुख नगरों बंबई, कलकत्ता, मदरास, दिल्ली में श्री अरविंद पाठ-चक्र (Shri Aurobindo Study Circles) स्थापित हैं। यहाँ तो 'पाठ-चक्र' की स्थापना अमृत बाजार पत्रिका के संपादक श्री० पी० के० सेन की प्रेरणा से हुई। बहुत दिनों से ये श्री अरविंद-दर्शन के प्रशंसक हैं और पाँडेचेरी जाते रहते हैं। प्रति शनिवार की संध्या को श्री अरविंद दर्शन पर वहाँ विचार विनिमय होता है। समय-समय पर श्री अरविंद-साहित्य और दर्शन के विशेषज्ञों के व्याख्यान होते रहते हैं। मैं उसका सभापति हूँ।

क्या यह आंदोलन एक धार्मिक आंदोलन है?

नहीं, नहीं। इसमें सभी जातियों के, सभी धर्मों के, सभी देशों के लोग

सम्मिलित हैं। यह एक जीवन-दर्शन है। धर्म, नीति, सदाचार इसके पहलू अवश्य हैं, पर यह आध्यात्मिक दृष्टिकोण इनसे बहुत ऊँचा है। अब तक हमारे यहाँ ऐहिक और पारलौकिक के बीच एक खाई सी रही। संसार को माया बतलाया गया, उसका तिरस्कार किया गया, दूसरे—व्यक्ति की मोक्ष-प्राप्ति ही साध्य था, समष्टि नहीं आती थी। इस दर्शन में व्यक्ति, संसार और ईश्वर एक दूसरे से जुड़े हुए हैं, संसार का तिरस्कार नहीं है। सब का मोक्ष, सब का आत्म-कल्याण ही वास्तविक मोक्ष या कल्याण है।

आप तो कवि हैं। आपका इससे क्या संबंध है ?

मुझे इससे प्रेरणा मिलती है। जीवन के इस दृष्टिकोण से प्रभावित होकर मैं उसे काव्य में अभिव्यक्ति देता हूँ।

यह तो आप मानेंगे कि यह दर्शन सहज-ग्राह्य नहीं। जनता उसे नहीं समझ सकती। समझेंगे बहुत थोड़े। तब जन-जीवन के लिए इसकी क्या उपयोगिता रही ?

उच्चतर मानसिक विकास वाले तो इसे ग्रहण कर सकेंगे। आपका ध्यान संख्यापर है। दर्शन की उत्कृष्टता पर नहीं। गंभीर प्रकार के आंदोलन पहले बहुत थोड़े लोगों में फैलते हैं, फिर धीरे-धीरे प्रसार पाते हैं। एक प्रतिशत लोग भी यदि प्रारंभ में प्रभावित हो जायँ; तो हम उसे थोड़ा नहीं समझते।

आप थक तो नहीं गए ?

नहीं।

रेडिओ सर्विस आपने किस स्थिति में स्वीकार की ?

जनवरी ५० से ही इस संबंध में बातचीत चल रही थी। मेरे गीत 'जय जन भारत' के रैकर्डिंग के लिए मुझे दिल्ली से बुलावा आया। वह रैकर्ड हो गया। उसी समय हिंदी कार्य-क्रम के संगठन की बातचीत उठ खड़ी हुई। काम बहुत भारी था। पर हिंदी के हित का ध्यान रखते हुए जिन सुविधाओं की बात मैंने उठाई वे शर्तें उन्होंने मान लीं। सांस्कृतिक मान्यताओं की शिक्षा और प्रसार के लिए रेडिओ को मैं एक बड़ी शक्ति मानता आया हूँ। अतः मैंने इस कार्य-भार को उठाना स्वीकार कर ही लिया।

क्या यह कार्य आपके मन के अनुकूल है ?

बिल्कुल अनुकूल है।

क्या इससे आपके किसी साहित्यिक कार्य में बाधा नहीं पड़ेगी?

साहित्यिक केवल साहित्यक कार्य ही करे यह आवश्यक नहीं। इसके द्वारा मेरा आत्म-शिक्षण (Self Education) एक और दिशा में भी हो जायगा। सिनेमा और रेडिओ आज के सब से शक्ति-सम्पन्न साधन हैं। वे विश्व मन के प्रतीक हैं। जन-शिक्षा की असंख्य संभावनाएँ वे अपने में छिपाए हुए हैं। उनके द्वारा विचारों का प्रचार जैसा हो सकता है वैसा अन्य साधनों द्वारा नहीं। नई मान्यताओं का प्रचार उनके माध्यम से किया जा सकता है, इसमें संदेह नहीं। आप जानते हैं, मैं स्वप्नद्रष्टा हूँ। हिंदी को मैं कोरी भाषा ही नहीं मानता, एक संस्कृति मानता हूँ। रेडिओ द्वारा हिंदी की शक्ति से सांस्कृतिक निर्माण का कार्य संभव हो सकेगा।

क्या आप समझते हैं आपकी सारी योजनाएँ कार्यान्वित हो सकेंगी?

आशा करना व्यक्ति का धर्म है। यों मैं मनुष्य हूँ। मुझसे भूल भी हो सकती है।

पिछली अर्द्ध शताब्दी के साहित्य में, जिसमें आपने साधना की है, आपको कोई विशेष बात लगती है?

पिछले पचास वर्ष में, साहित्य में बहुत-सी नई दिशाएँ खुलीं, पर पूर्णता तक कोई नहीं पहुँची। साहित्यिक प्रगति में तीव्र गति आ गई है। मेरी ही आँखों के सामने कई युग बदल गए हैं। आर्य-समाज युग, रामकृष्ण परमहंस का युग, टैगोर का युग, गाँधी युग और फिर मार्क्सवादी युग इन सबको एक नवीन विश्व सामंजस्य में बँधना है। पर आज इतने साधनों के होते हुए भी कहीं पूर्णता नहीं दिखाई देती। कला लोकोपयोगी भी नहीं बन पा रही। मैं तो अपने से संतुष्ट नहीं। यदि मैं कुछ नहीं कर सका, तो मुझे बड़ा असंतोष होगा।

आपकी नई दिशा अब क्या होगी?

अभी हमारे साहित्य में मान्यताओं का संघर्ष चल रहा है। उनके प्रति दृष्टिकोण स्पष्ट हो जाय तो अच्छा हो। मैं तो दो वर्ष तक अभी चुप रहना चाहता हूँ।

हिन्दी को लेकर क्या भविष्य के लिए आपका कोई संदेश है ?

भविष्य में हिन्दी आने वाली नवीन चेतना की सांस्कृतिक भाषा होगी, ऐसा मेरा विश्वास है। अँगरेजी में बौद्धिक सक्रियता और बौद्धिक आलोचना के तत्व हैं, पर सांस्कृतिक अर्थ में वह अंतर्राष्ट्रीय नहीं। इस दृष्टि से विश्वक भाषा होने की संभावना अकेली हिन्दी में ही है। हिन्दी में जो ध्वनि-संगीत है, जो शांति की सूक्ष्म झंकारें परिव्याप्त हैं, जो पवित्रता है, वे बेजोड़ हैं। भावी मनुष्यत्व के तत्वों से हिन्दी परिपूर्ण होगी। भविष्य में संस्कृति का जो नवीन संचरण होगा, उसे हिन्दी अपने में समाहित करेगी। आने वाले युग की संस्कृति में जिन गुणों का समावेश होगा वे गंभीर, व्यापक और उच्च स्तर के होंगे। नवीन संस्कृति को व्यक्त करने के लिए भाषा झरने की तरह फूट निकलेगी, भाव उमड़-उमड़ कर आयेंगे। हिन्दी भाषा का सौंदर्य ही कुछ विलक्षण है। मुझे विश्वास है कि एक दिन आयेगा जब हिन्दी विश्व की सांस्कृतिक भाषा होगी। मैंने बाइबिल को पढ़ा है, कुरान की बातें अनुवाद से जानी हैं और साथ ही उपनिषदों का अध्ययन भी किया है। मुझे यही लगता है कि आध्यात्मिक अंतर्चेतना का जो विकास हमारे यहाँ हुआ, वह कहीं नहीं। भारत की देन के बिना संसार कुछ नहीं।

और तब मैं उठ आया।

* * *

पंत जी आज पिछले ४० वर्ष से निरंतर काव्य-साधना कर रहे हैं। उनके प्रथम काव्य-ग्रंथ 'वीणा' की अधिकतर रचनाएँ सन् १६१८ में लिखी गईं। अब तक उनके निम्नलिखित काव्य-ग्रंथ प्रकाशित हो चुके हैं—

वीणा	१६१८
ग्रंथि	१६२०
पल्लव	१६१८—२४
गुंजन	१६१६—३२
युगांत	१६३४—३६
युगवाणी	१६३७—३६
ग्राम्या	१६३६—४०

स्वर्ण किरण	१९४७
स्वर्ण धूलि	१९४७
युगांतर	१९४८
उत्तरा	१९४९
रजतशिखर	१९५१
शिल्पी	१९५२
अतिमा	१९५५

Library Sri Pratap College.
Srinagar

* 'मधु ज्वाल' के रूप में उमर ख़ैयाम की रुबाइयात का अनुवाद सन् १९२९, 'ज्योत्स्ना' नाटिका की रचना सन् १९३४ और 'पाँच कहानियाँ' का प्रकाशन सन् १९३६ में हुआ।

नोट—अपने इंटरव्यू में पंत जी ने इस बार हल्के से परिवर्तन कर दिए हैं।

पंत और उनका युग

भारतेन्दु हरिश्चंद्र एक ऐसे साहित्यकार हैं जो प्राचीन और नवीन के संगम पर खड़े हैं। उनके उगते ही रीति-काल समाप्त होता है और आधुनिक काल प्रारंभ। एक नवीन युग के वे जन्मदाता थे। जन्मदाता ही नहीं, वे उसके पोषक भी थे। प्राचीनता से अपना सम्बन्ध बनाए रख कर भी उन्होंने हिंदी कविता को नवीन विषयों की ओर मोड़ा।

हिंदी कविता के आधुनिक युग में यह पहला संक्रांतिकाल है जब रीति-काल समाप्त होकर एक नए युग का समारंभ होता है। राजनीति, धर्म, विज्ञान, समाज, सभी क्षेत्रों में हलचल दिखाई पड़ती है। इसी काल में सिपाही-विद्रोह हुआ और विक्टोरिया का घोषणा-पत्र सुनाया गया। आगे चलकर इसी युग में इंडियन नेशनल काँग्रेस की स्थापना हुई और देश में राजनीतिक चेतना जगी। बंगाल में ब्रह्मसमाज की स्थापना उन्नीसवीं शताब्दी के तृतीय दशक में ही हो गई थी और इस युग में आर्यसमाज की स्थापना होते ही स्वामी दयानंद के आन्दोलन ने बल पकड़ा। ईसाई अपना प्रचार का कार्य धीरे-धीरे कर ही रहे थे। इन सब ने मिल कर सुधार, उदारता और सहिष्णुता का पाठ पढ़ाया। सिपाही-विद्रोह के दमन के उपरान्त अँगरेजी शासन के दृढ़ होते ही भारतवासी भी वैज्ञानिक आविष्कारों से लाभ उठाने लगे और देश में रेल, तार, डाक, नहरों, सड़कों का जाल बिछ गया। इसी काल में कई विश्वविद्यालयों की स्थापना हुई और अँगरेजी शिक्षा के प्रचार से तथा धार्मिक आंदोलनों के प्रतिक्रिया-स्वरूप तथा उनसे बल पाकर समाज-सुधार की ओर लोग झुके। विधवा-विवाह, बाल-विवाह, वृद्ध-विवाह, गोरक्षा, स्त्री-शिक्षा आदि की समस्याओं पर लोग विचार करने लगे। देश का धन बाहर जाने लगा, अतः देश की दरिद्रता की ओर ध्यान जाना स्वाभाविक था। इन राजनीतिक, धार्मिक, सामाजिक, आर्थिक परिस्थितियों का साहित्य पर भी प्रभाव

पड़ा और भारतेन्दु हरिश्चंद्र, बदरीनारायण चौधरी प्रेमघन, प्रतापनारायण मिश्र, बालमुकुन्द गुप्त की रचनाओं में इन स्थितियों की प्रतिक्रिया प्रतिबिंबित हो उठी। यह एक ऐसा युग था जब कविता रीतिकाल की रूढ़ि से मुक्त हो विविधता-समन्वित नए-नए विचारों की ओर उन्मुख हुई।

महावीर प्रसाद द्विवेदी दूसरे समर्थ साहित्यिक थे जिन्होंने अपने युग के साहित्य को प्रभावित किया और आधुनिक युग के दूसरे संक्रांति काल के प्रारंभ में हिन्दी की बागडोर को सँभाला। १९०० से लेकर १९१५ तक का काल उन्हीं के नाम पर द्विवेदी-युग कहलाता है। सन् १९०३ से सरस्वती पत्रिका से संपादक के रूप में द्विवेदी जी ने हिन्दी की बड़ी सेवा की। राजनीति के क्षेत्र में इस युग में बंग-भंग के कारण स्वदेशी आन्दोलन चल पड़ा। देश की भलाई के लिए काँग्रेस के प्रयत्न चलते रहे। प्रथम महायुद्ध भी इसी युग में प्रारंभ हुआ। धर्म में आर्य-समाज, थ्यौसौफ़ीकल सोसाइटी, रामकृष्ण मिशन आदि क्रियाशील रहे। समाज के क्षेत्र में विधवा-विवाह, स्त्री-शिक्षा, अछूतोद्धार आदि की समस्याओं पर विचार होता रहा। भारतेन्दु युग में राजभक्ति और देश-भक्ति का समन्वय पाया जाता है। द्विवेदी युग में देश-भक्ति की भावना कुछ तीव्र हुई, राज-भक्ति चली गई। धर्म में नैतिकता ने और जोर पकड़ा। किसानों की दीन दशा की ओर अधिक ध्यान दिया जाने लगा।

द्विवेदी युग की एक बहुत बड़ी विशेषता काव्य में खड़ी बोली का ग्रहण है। भारतेन्दु ने नये विचार तो दिये थे, नई भाषा न दी थी। वे ब्रजभाषा के बड़े प्रेमी थे। सैकड़ों पद उन्होंने ब्रजभाषा में ही लिखे। उनमें शृंगार का पूरा पुट है। अश्लीलता भी यहाँ-वहाँ काफ़ी है। उनके ब्रजभाषा के कवित्त-सवैये रीतिकाल के कवित्त-सवैयों की भाँति प्रेम-रस से सराबोर हैं। खड़ी बोली का आन्दोलन द्विवेदी जी के हिन्दी-क्षेत्र में पदार्पण करने के पूर्व ही चल पड़ा था, पर उसको बल मिला द्विवेदी जी ही के व्यक्तित्व से। इस प्रकार काव्य के क्षेत्र में उन्होंने नई भाषा दी—खड़ी बोली। और तब मैथिलीशरण गुप्त, गोपालशरण सिंह, नाथूराम शंकर शर्मा, गयाप्रसाद शुक्ल सनेही, अयोध्यासिंह उपाध्याय आदि ने खड़ी बोली काव्य को समृद्ध कर दिया।

सन् १९१५ से आधुनिक हिंदी काव्य फिर एक नई दिशा की ओर मुड़ता है और १९३५ तक एक धारा में बँधकर चलता है। इस काल में भारतेन्दु अथवा महावीरप्रसाद द्विवेदी की भाँति कोई एक ऐसा व्यक्तित्व नहीं है जो सब पर छा जाय और अन्य व्यक्ति उससे प्रेरणा ग्रहण करें। इसी से इस काल का नामकरण किसी व्यक्ति के नाम पर न होकर एक प्रमुख प्रवृत्ति के नाम पर हुआ है। बीस वर्ष के इस काल को 'छायावाद काल' कहते हैं। मेरी दृष्टि से यह काल खड़ी बोली की कविता का स्वर्ण-काल है। राजनीति के क्षेत्र में महात्मा गाँधी का अवतरण इस युग की अत्यन्त महत्त्वपूर्ण घटना है। इसी युग में असहयोग आंदोलन और सविनय अवज्ञा आंदोलन चले, जिन्होंने आगे बल पाकर ब्रिटिश साम्राज्य की नींव हिला दी। महात्मा गाँधी का व्यक्तित्व इतना महान् था कि उनके राजनीतिक मंच पर आने के बाद का युग गाँधी-युग कहलाता है। इस युग को कविता में श्री मैथिलीशरण गुप्त ने और गद्य में स्वर्गीय प्रेमचंद ने प्रतिबिंबित किया। बीसवीं शताब्दी के साहित्य में गाँधी-युग के ये दो गगन-चुंबी आलोक-स्तंभ हैं। गाँधी जी को केवल राजनीतिज्ञ मानना उसी प्रकार का भ्रम होगा जिस प्रकार मार्क्स को केवल अर्थशास्त्री मानना। मार्क्स के समान ही गाँधी जी ने विराट जीवन को देखने के लिए एक विराट दृष्टि दी—एक जीवन दर्शन दिया। उनका प्रभाव राजनीति, धर्म, समाज सभी पर पड़ा। इतना होते हुए भी गाँधीवादी कवि इस युग में बहुत थोड़े हुए—उदाहरण के लिए माखनलाल चतुर्वेदी, सियारामशरण गुप्त, सुभद्रा कुमारी चौहान, सोहनलाल द्विवेदी आदि। मैथिलीशरण जी को छोड़कर इस युग ने जिन अन्य महान् कवियों को उत्पन्न किया वे और ही थे। उनका व्यक्तित्व एक भिन्न ही दिशा में विकसित हो रहा था। उन्हीं के कारण यह युग 'छायावादी युग' कहलाया। गाँधीवाद के प्रति उनकी सहानुभूति थी, किन्हीं अंशों में वे उसके समर्थक और पोषक भी रहे; परन्तु उन्हें गाँधीवादी नहीं कहा जा सकता। गाँधीवाद अपनी सीमा में उन्हें बाँधकर नहीं रख सका। वे थे जयशंकर प्रसाद, सुमित्रानंदन पंत, सूर्यकांत त्रिपाठी निराला और महादेवी वर्मा। इनमें से कोई एक भी उन चार कवियों से जिनके नाम ऊपर गिनाए गए हैं मिलाकर तौल में भारी बैठेगा।

१९३५ से इधर का काल प्रगतिवादी युग कहलाता है और इसका यह नाम उपयुक्त ही है। यह बड़े परिताप की बात है कि बीस वर्ष व्यतीत हो जाने पर भी प्रगतिवाद का विशेष विकास अभी हिन्दी में नहीं हो पाया और प्रगतिवादी अभी तक कोई बड़ा साहित्यिक उत्पन्न नहीं कर सके। इसके कई कारण हैं। प्रगतिवाद मार्क्सवादी दर्शन के आधार पर चलता है और १९४७ तक जब देश स्वतन्त्र हुआ, महात्मा गाँधी के व्यक्तित्व ने जन-मन की भावनाओं को आच्छादित कर रखा था। साम्यवाद (Communism) को हमारे देश में अब तक पथ-प्रदर्शन के लिये महात्मा गाँधी जैसा नेतृत्व (Leadership) प्राप्त नहीं हुआ। समाजवाद के माध्यम से मार्क्सवादी दर्शन का कुछ प्रचार हो सकता था, और समाजवादियों के पास आचार्य नरेन्द्रदेव, जयप्रकाश नारायण और राममनोहर लोहिया जैसे नेता थे, पर अभी तक तो वे काँग्रेस के साथ समझौता किये हुए थे और जब उससे पृथक् भी हुए तो जनता को अपनी ओर विशेष नहीं मोड़ पाए। लगता है उस शान्ति की वाणी के उपरान्त क्रांति की ललकार को छोड़कर बीच का कोई मार्ग नहीं है। काव्य के क्षेत्र में यदि हम दृष्टि डालें तो अब एक बात स्पष्ट दिखाई देती है। हमारा साहित्य विश्व-साहित्य के सम्पर्क में पूर्ण रूप से आ गया है और हिन्दी का पाठक इतना प्रबुद्ध हो गया है कि उसे कोई हल्की चीज जँचती नहीं। आज वही कवि, वही उपन्यासकार, वही नाटककार और वही कहानी-लेखक ठहर पाएगा जिसके साहित्य को देखकर यह आभास मिल सके कि यह विश्व के प्रौढ़ साहित्यिकों की पंक्ति में खड़े होने योग्य है। प्रगतिवादी आलोचकों के पास नाम लेने को बड़े कवि थे ही नहीं और जिन दस-पाँच बालकों के नाम वे गिनाते थे उन्हें जब छायावादी कवियों—प्रसाद, पंत, निराला, महादेवी—की छाया में रखकर देखा जाता था तो हँसी आती थी। इन चारों के रहते हुए यह सम्भव नहीं कि कोई नया कवि उभर सके। अतः प्रगतिवाद को सबल बनाने के लिये एक मार्ग यह शेष रह गया था कि छायावादी कवियों में से ही कोई आगे बढ़ कर उस पक्ष को पुष्ट करे और यह मानना पड़ेगा कि जब पन्त जी उधर झुके तो प्रगतिवाद का पौधा लहलहाने लगा था। पर वे वहाँ न ठहर सके। इसी बीच कट्टर प्रगतिवादी आलोचक डा० रामविलास शर्मा ने धीरे-धीरे अनेक श्रेष्ठ साहित्यिकों

के विरोध में निन्दात्मक ढंग से लिखना प्रारम्भ किया। परिणाम यह हुआ कि प्रगतिवाद की गति इस समय रुकी सी प्रतीत होती है। मैं जानता नहीं कि प्रगतिवादी आलोचकों की दृष्टि क्या देख रही है; परन्तु हिन्दी के साहित्यिक अत्यन्त स्वाभाविक रूप से प्रगतिवाद की ओर बढ़ रहे थे। यदि उसका विकास रुकता है तो उस दोष के भागी बहुत अंशों में डा० रामविलास शर्मा रहेंगे। उन्होंने बहुत से अच्छे साहित्यिकों को, जिनमें भविष्य के कवि, उपन्यासकार, नाटककार और आलोचक सम्मिलित थे, अपने लेखों के द्वारा विरोधी बनाया है। फिर भी भविष्य के सम्बन्ध में मैं इतना निराश नहीं हूँ। इस शताब्दी के शेषांश में ही कोई ऐसा महान् साहित्यकार उत्पन्न होगा जो प्रगतिवाद को गौरवान्वित करेगा। छायावादी महान् कवियों में भी प्रसाद की मृत्यु हो गई, निराला विक्षिप्त हो गये, महादेवी के चरण शिथिल पड़ गए और पन्त सूक्ष्मतर होते जा रहे हैं। किसी नवीन भास्वर नक्षत्र के उगने के लक्षण हैं ये।

द्विवेदी युग के कवियों में से कुछ तो इस संसार में अब हैं ही नहीं जैसे श्रीधर पाठक, नाथूराम शंकर शर्मा, स्वयं द्विवेदी जी और अयोध्यासिंह उपाध्याय, कुछ ने लेखनी को विश्राम दे दिया जैसे रामनरेश त्रिपाठी, रामचरित उपाध्याय और लोचन प्रसाद पांडेय ने, पर कुछ अभी साथ चल रहे हैं। उदाहरण के लिये गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही', गोपालशरण सिंह, माखनलाल चतुर्वेदी, सियारामशरण गुप्त और सबके ऊपर श्री मैथिलीशरण जी गुप्त। इन कवियों में कुछ विषय की दृष्टि से सीमित रहे हैं, कुछ ने बहुत कम परिमाण में साहित्य का सृजन किया है, कुछ का काव्य पुरानी परिपाटियों में ही उलझा रहा और युग के विकासशील तत्त्वों का साथ उन्होंने नहीं दिया। कुछ तो अभिव्यंजना की परिपाटी की देहली को भी नहीं लाँघ सके। जब सारे काव्य-जगत ने कवित्त-सवैयों से पीछा छुड़ा लिया, तब भी वे उसके मोह-पाश में जीवन-भर आबद्ध रहे। जिन थोड़े-से कवियों ने विषय और छन्द की नवीनता को ग्रहण किया, उनके काव्य में वांछित गम्भीरता और गहराई नहीं है। इस प्रकार इस युग के केवल दो कवि ऐसे बच जाते हैं जो उस पंक्ति में खड़े हैं जहाँ सुमित्रानंदन पन्त हैं। वे हैं श्री मैथिलीशरण गुप्त और पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय। दोनों श्रेष्ठ महाकाव्यकार होने से प्रथम श्रेणी के कवि हैं। इस दिशा में गुप्त जी

निश्चित रूप से उपाध्याय जी से बड़े हैं। उनके काव्य-ग्रंथों में जयभारत, साकेत और यशोधरा इस युग की बड़ी महत्त्वपूर्ण कृतियाँ हैं। मैथिलीशरण जी की काव्य-साधना पन्त जी से पहले ही प्रारम्भ हुई और आज भी वह रुकी नहीं है। पचास वर्ष के इस युग को पार करने पर भी दोनों की दो दिशाएँ रही हैं। यों गुप्त जी ने गीत लिखे हैं (झंकार) और पन्त जी ने प्रबन्ध (ग्रंथि); पर गुप्त जी मुख्यतः प्रबन्ध-काव्यकार हैं और पन्त जी गीतिकार। पन्त जी समय के साथ बदलते चले जाते हैं और गुप्त जी भी। गुप्त जी में जब परिवर्तन होता है, तब थोड़ा, पन्त जी में आमूल। गुप्त जी दूसरों का साथ देते हुए एक ही रेखा में बढ़ रहे हैं, पर पन्त जी जब बदलते हैं तो दिशा ही बदल देते हैं।

(सुमित्रानंदन पन्त का जन्म बीसवीं शताब्दी के लगते ही हुआ और अब तक उनकी काव्य-साधना चल रही है। इस प्रकार पिछली अर्द्ध शताब्दी का वे किसी न किसी प्रकार प्रतिनिधित्व करते हैं। द्विवेदी युग में उनके संस्कार बने, छायावादी युग के नेताओं में से वे रहे और प्रगतिवादी युग में चरण से चरण मिलाकर बढ़े चले जा रहे हैं। स्वयं पण्डित सुमित्रानन्दन पन्त ने अपने ऊपर द्विवेदी युग के सर्वश्रेष्ठ कवि श्री मैथिलीशरण गुप्त का प्रभाव अपनी काव्य-साधना के शैशव में स्वीकार किया है और गुप्त जी तथा द्विवेदी जी दोनों की गीति-प्रशस्तियाँ लिखी हैं। इतना होने पर भी रीतिकाल, भारतेन्दु काल और द्विवेदी काल तीनों से वे उस समय पृथक खड़े दिखाई देते हैं जब उनकी लेखनी नए ढंग की रचनाएँ प्रारम्भ करती है।)

छायावादी युग में थोड़े आगे-पीछे तीन उज्ज्वल नक्षत्र उदित हुए। वे थे जयशंकर प्रसाद, सूर्यकांत त्रिपाठी निराला और स्वयं पण्डित सुमित्रानन्दन पंत। इनके प्रसिद्ध हो जाने पर काव्य-गगन के क्षितिज पर एक और उज्ज्वल कोमल तारिका उदित हुई। नाम था महादेवी!

प्रसाद की प्रतिभा बहुमुखी थी और उनके 'आँसू' के प्रकाशन ने हिन्दी जगत को चकित कर दिया था। निराला भी अपने विद्रोही स्वभाव और ओजस्विनी वाणी से हिन्दी संसार को हिला रहे थे। पन्त अपनी कोमलता और प्रकृति-प्रेम के कारण सहृदयों को अपनी ओर आकर्षित करने लगे।

महादेवी ने अपनी वेदना की आरती से वाणी के मन्दिर को सुरभित किया। बीस वर्ष के इस छोटे से युग में समान शक्ति वाले चार प्रतिभावान् महाकवियों को उत्पन्न करना साहित्य का एक चमत्कार था। ये चारों साहित्यिक एक दूसरे से मिल-जुलकर और परिचय पाकर प्रसन्न होते थे। प्रसन्न होते थे कि हिंदी काव्य में अपने ढंग की एक नवीन ढंग की क्रान्ति वे कर रहे हैं। प्रसन्न होते थे कि भावों के अमूल्य रत्नों से भारती के भण्डार को भर रहे हैं। परन्तु बाहर से दिखाई न देने पर भी उनके भीतर-भीतर एक स्पर्धा का भाव काम कर रहा था। सोचते थे वे कि हम चारों में से बीसवीं शताब्दी का सर्वश्रेष्ठ कवि कौन होगा! महत्त्वाकांक्षी थे वे, बड़ा होना चाहते थे; पर सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह थी कि वे किसी को गिराकर या गिरा देखकर बड़ा होना नहीं सीखे थे। यही कारण था कि उस समय श्रेष्ठतम काव्य का सृजन हुआ। इन चारों कवियों में सौहार्द्र बराबर बना रहा। इस स्पर्धा का अन्त किया जयशंकर प्रसाद ने—कामायनी लिखकर। यदि वे कामायनी न लिखते तो कहाँ ठहरते, कहा नहीं जा सकता। परन्तु कामायनी जैसा प्रौढ़ महाकाव्य फेंककर इन चारों में वे प्रथम पद के अधिकारी हुए।

आधुनिक काल पिछली शताब्दियों से एकदम पृथक खड़ा दिखाई देता है। अनेक नवीन प्रवृत्तियों ने इस युग में प्रवेश पाया और बहुत सी बातों में आमूल परिवर्तन हो गया। सबसे महान् और पहला परिवर्तन जो छायावाद काल में दिखाई दिया वह था प्रेम की भावना में। वीरगाथा काल में कवियों ने यदि प्रेम का वर्णन किया है तो अपने आश्रयदाताओं के ही। अपने हृदय की चिन्ता करते वे नहीं दिखाई देते। भक्तिकाल में भी लौकिक प्रेम की भावना दबी ही रही। यही दशा रीति-काल की है। अपने मन की बात कम ही कही गई है; कही गई है तो राधा-कृष्ण के प्रेम की ओट में। व्यक्तिगत प्रेम की चर्चा हम भारतेन्दु काल और द्विवेदी युग में भी नहीं के बराबर पाते है। व्यक्तिगत लौकिक प्रेम के उदाहरण बिल्कुल नहीं पाए जाते, ऐसा मैं नहीं कहता। घनानन्द, ठाकुर, आलम, बोधा आदि व्यक्तिगत प्रेम को भी लेकर चले। घनानन्द तो 'सुजान' नाम की वेश्या पर आसक्त थे और उसके प्रेम के कारण अपने शहर से निकाल दिए गए थे। इसी प्रकार आलम, शेख नाम की

रँगरेजिन के रंग में ऐसे डूबे कि उसके कारण हिन्दू से मुसलमान हो गए। इन दोनों ने अपनी-अपनी प्रेमिकाओं को लक्ष्य करके कवित्त-सवैये लिखे हैं। पर दोनों ही की प्रेम-भावना आगे चलकर कृष्ण-भक्ति में परिणत हो गई। घनानन्द ने अपनी कविता में 'सुजान' शब्द का प्रयोग इस प्रकार किया है कि वह प्रेमिका के लिए प्रयुक्त हुआ है या सुजान कृष्ण के लिए, यह भेद करना कठिन है। ठाकुर बोधा आदि की प्रेमिकाएँ भी जिनके लिए वे गलियों में चक्कर काटते फिरते थे आगे चलकर सामान्य नायिकाओं का रूप धारण कर लेती हैं। उनके वर्णन से कोई विशिष्ट मूर्ति सामने नहीं आती। परन्तु इस युग के सम्बन्ध में ऐसी बात नहीं कही जा सकती। एक महादेवी जी को छोड़-कर जिनका प्रणय-निवेदन वैसा ही है जैसे निर्गुण के क्षेत्र में कबीर का या सगुण के क्षेत्र में मीरा का, सभी प्रेमी कवियों ने लौकिक प्रेम का किसी न किसी रूप में अनुभव किया है। रहस्यवादी कवियों में से पन्त, प्रसाद, निराला की रचनाएँ केवल रहस्यवाद से ही सम्बन्ध नहीं रखतीं। 'प्रसाद' के 'आँसू' और 'पंत' की 'ग्रंथि' प्रेम की पीड़ा की बड़ी तीखी पुकारें हैं। अपनी प्रिया को सम्बोधित निराला की फुटकल रचनाएँ भी कम मार्मिक नहीं। ऐसी ही मर्म-वेधिनी करुण कृति 'बच्चन' की 'निशा-निमंत्रण' है। इनके अतिरिक्त भगवती-चरण वर्मा, नवीन, रामकुमार, नरेन्द्र, तारा पांडे, अञ्चल, सुमित्राकुमारी सिनहा, विद्यावती कोकिल, शान्ति एम० ए० की रचनाओं में प्रेम की एक अक्षय निधि रक्षित है। प्रगतिवाद के प्रचारात्मक साहित्य के होते हुए भी लौकिक प्रेम की पुकार अभी मन्द नहीं पड़ी है। पत्र-पत्रिकाओं में प्रेम सम्बन्धी कभी-कभी ऐसी मार्मिम रचनाएँ पढ़ने को मिल जाती हैं कि कभी तो हृदय-कमल की पंखुड़ियाँ एकदम खिल उठती हैं और कभी मन सहसा उदासी में डूब जाता है। रूप और प्रतिभा के सम्पर्क से इन नवयुवक कवियों ने जो प्रेरणा ग्रहण कर काव्य का दान दिया है आने वाले युग में ही उसका उचित मूल्यांकन होगा। इतना अवश्य कहा जा सकता है कि इनकी रचनाओं में कृत्रिमता कहीं नहीं। प्रेम का अनुभव उन्होंने किया है और वे इस बात को न तो छिपाना ही चाहते हैं और न किसी आवरण में लपेट कर कहने के अभ्यासी हैं। लौकिक प्रेम को वे कोई पाप की बात नहीं समझते। आघात पाए हुए

हृदयों की वे झंकारें हैं। पर चोट पाकर भी हृदय से निकलने के पूर्व ये झंकारें कला की मन्दाकिनी में स्नान करके आई हैं। आधुनिक युग के इस प्रणय-काव्य के मूल्यांकन की बात तो दूर, अभी ठीक से किसी ने सुधि भी नहीं ली है। सुधि लेने का अभी समय भी नहीं आया। ऐसे कवियों में जो कुछ वर्षों से बहुत ध्यान आकर्षित कर रहे हैं, गिरिजाकुमार माथुर, हंसकुमार तिवारी, शम्भूनाथ सिंह, रामदयाल पांडे, शांति मेहरोत्रा, चन्द्रमुखी ओझा 'सुधा', धर्मवीर भारती, गिरधर गोपाल, शिवचन्द्र नागर, रमानाथ अवस्थी, देवनाथ पांडेय 'रसाल', जगदीश गुप्त आदि हैं।

दुःख की अभिव्यक्ति छायावाद-काल में अधिक हुई।

यह दुःख बहुत कुछ व्यक्तिगत था और प्रेम की निराशा से उत्पन्न हुआ था। प्रसाद जी की 'झरना' की रचनाएँ तथा आँसू खंड-काव्य प्रेम में आघात का परिणाम हैं। पन्त जी के पल्लव में उच्छ्वास तथा आँसू और विशेष रूप से 'ग्रंथि' खंड-काव्य प्रेम में असफलता का परिणाम हैं। महादेवी जी के नीहार, रश्मि, नीरजा, सांध्य-गीत और दीप-शिखा आदि काव्य-ग्रंथ आध्यात्मिक विरह के ग्रंथ हैं जिनमें उस प्रियतम से पृथक होने पर आँसू बहाये गये हैं। निराला ने भी 'परिमल' और 'अनामिका' में जो संयत उच्छ्वास फेंके हैं वे अपनी प्रियतमा की स्मृति में। इसी प्रकार 'बच्चन' का निशा-निमंत्रण व्यक्तिगत चोट से उत्पन्न कराह की प्रतिध्वनि है। यही दशा भगवतीचरण वर्मा, रामकुमार, दिनकर, नरेन्द्र, अञ्चल आदि की प्रेम-सम्बन्धी रचनाओं की है। कोई अपनी प्रेमिका के लिए विकल है, कोई अपनी पत्नी के लिए। ये शुद्ध प्रेम की कविताएँ हैं। इसके अतिरिक्त दुःख को कहीं-कहीं व्यक्तिगत संबंध से पृथक करके देश-व्यापी विस्तृत आधार पर भी चित्रित किया गया। यह दुःख देश की परतंत्रता की भावना से उत्पन्न हुआ था। हजारों देश-भक्त इस युग में कारागार में बंद थे और विदेशी सत्ता के अत्याचार दिन प्रति दिन बढ़ रहे थे। सफलता अभी दूर थी। ऐसी भावनाओं को अभिव्यक्ति दी माखनलाल चतुर्वेदी, बालकृष्ण शर्मा नवीन और सुभद्राकुमारी चौहान ने। दोनों प्रकार के इन दुःखों के मनोवैज्ञानिक और राजनीतिक कारण स्पष्ट हैं। छायावाद काल के उपरांत इस समय देश आर्थिक संकट का सामना कर रहा है और हम अपने वर्तमान समाज की व्यवस्था

से भी असंतुष्ट हैं। इन स्थितियों से प्रभावित होकर कुछ कवियों में तो निराशा का जन्म हुआ, पर कुछ ने उग्रता धारण की और निर्माण से पहले नाश की बात उन्होंने उठाई। इस प्रकार पीड़ा के क्षेत्र में मनोवैज्ञानिक और राजनीतिक कारणों के साथ सामाजिक और आर्थिक कारण भी आ मिले। पीड़ा की चर्चा करने वाले कवियों को लक्ष्य करके एक आलोचक ने उनके लिए 'दुखिया कवियों की टोली' कहा। पर इस प्रवृत्ति के लिए 'निराशावाद' का स्वाभाविक नाम ही उपयुक्त लगता है।

अपने चारों ओर के संसार से हम किसी न किसी रूप में असंतुष्ट रहते हैं। आर्थिक स्थिति मन के अनुकूल नहीं है, धार्मिक दशा आत्मा के अनुकूल नहीं है, सामाजिक परिस्थिति बुद्धि के अनुकूल नहीं है और राजनीतिक वातावरण जीवन के अनुकूल नहीं है। ऐसी दशा में जब किसी प्रकार की स्थिति व्यक्ति को दबा देती है तो उस पर कई प्रकार की प्रतिक्रियाएँ हो सकती हैं। एक प्रतिक्रिया होती है विवशता की, उससे उच्छ्वास और आँसू उमड़ते हैं। इसे 'निराशावाद' कहते हैं। एक दूसरी प्रतिक्रिया होती है क्रोध और निंदा की। इसमें तोड़-फोड़ की भावना होती है। छायावादी कवियों में यह भावना भगवतीचरण, नवीन और दिनकर में पाई जाती है और अब वही काम प्रगतिवादी कर रहे हैं। इसे 'नाशवाद' कह सकते हैं। पर 'निराशावाद' से अधिक स्वस्थ और 'नाशवाद' से अधिक कल्याणकारिणी एक और वृत्ति होती है जो संसार को प्यार करने से उत्पन्न होती है। वह होती है उसे अधिक सुन्दर, शान्त और विकासशील देखने की। यह कामना तुलसीदास में विद्यमान थी और इधर पंत में पाई गई है। धर्म में इस कामना के प्रतीक भगवान बुद्ध थे और राजनीति में महात्मा गाँधी। संसार के प्रति ऐसा ही प्यार पंत के युगांत, युगवाणी, ग्राम्या, स्वर्ण किरण, स्वर्ण धूलि, उत्तरा रजत शिखर और शिल्पी में पाया जाता है। इन कृतियों में सुंदर भविष्य की कल्पना में कवि डूब-डूब गया है। जीवन में निराशा नहीं आती, यह मैं नहीं कहता, पर है वह एक अस्वस्थ भावना ही। जितने शीघ्र संभव हो, उससे पीछा छुड़ाना चाहिए। क्रोध का जीवन में स्थान नहीं, यह भी मैं नहीं कहता। पर उससे मन का संतुलन नष्ट हो जाता है। हिंदी के कुछ साहित्यिक

Library Sri Pratap College.
Srinagar.

इधर घृणा को बहुत बड़ी शक्ति बतला रहे हैं—प्रेम से भी बड़ी शक्ति। उन्हें इस पर फिर से विचार करना चाहिए। भारतीय संस्कृति और वाङ्मय आशा के ही उद्घोषक रहे हैं। दुःख को वे साध्य बनाकर नहीं चले—नहीं चले वे नाश को साध्य बनाकर। सत्य, सुन्दर और शिव को ही उन्होंने अपना साध्य बनाया था। अतः 'निराशावाद' और 'नाशवाद' के साथ 'आशावाद' को भी आधुनिक काव्य की एक प्रवृत्ति स्वीकार करना चाहिए और उस प्रवृत्ति के सबसे सुन्दर प्रतीक हैं सुमित्रानंदन पंत।

इस युग की रचनाओं में प्रकृति-वर्णन के क्षेत्र में भी महान् परिवर्तन हुआ। प्राचीन कविता में प्रकृति की ओर विशेष ध्यान न दिया जाता था और वह प्रायः उपेक्षा का ही विषय रही है। प्रकृति को कहीं आध्यात्मिक भावों के लिए ग्रहण किया गया है, कहीं उससे उपदेश दिलाए गए हैं, इसी प्रकार कहीं उद्दीपन के रूप में उसे स्वीकार किया गया है और कहीं अलंकारों के लिए प्रयुक्त। यह एक आश्चर्य का विषय अवश्य है कि जिस देश में समस्त ऋतुएँ इतना सुन्दर रूप धारण करके समय पर आती हों और जहाँ प्रकृति का वैभव कण-कण में बिखरा पड़ा हो, वहाँ के कवि स्वतंत्र रूप में उसके सौंदर्य का वर्णन नहीं कर पाये। आधुनिक युग में प्रकृति, वर्णन का एक स्वतंत्र विषय ही बन बैठी। आकाश, समुद्र, पर्वत, पृथ्वी, पक्षी, फूल, सरोवर, झरने, वर्षा, वसंत, पतझर, ग्रीष्म, छाया, चाँदनी, उषा, संध्या आदि पर सैकड़ों कविताएँ लिखी गईं। इस युग में प्रकृति को इतने रूपों में देखा गया जितने रूपों में पिछले एक हज़ार वर्षों में कुल मिलाकर भी नहीं देखा गया था। अयोध्यासिंह उपाध्याय, मैथिलीशरण गुप्त, जयशंकर प्रसाद, सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला, सुमित्रानंदन पंत, महादेवी वर्मा, गोपालशरण सिंह, गुरुभक्तसिंह आदि प्रकृति वर्णन की अपनी-अपनी विशेषताओं के साथ आए। इनमें भी पंत और गुरुभक्तसिंह को इस क्षेत्र में बड़ी ख्याति मिली। प्रकृति के रम्य दृश्यों के वर्णन के लिए पंत ने और उसके उपेक्षित सामान्य वर्णनों के लिए गुरुभक्तसिंह ने अपने-अपने क्षेत्र चुने। उपाध्याय जी सरल यथार्थवादी वर्णनात्मक दृश्यों तथा गुप्त जी और गोपालशरण सिंह ग्रामीण चित्रों के लिए प्रसिद्ध रहे। प्रसाद और महादेवी की दृष्टि प्रकृति के वैभवशाली पक्ष पर

रही। निराला ने प्रकृति के शृङ्गारी और विद्रोही रूप को चुना। इस युग के प्रायः सभी कवियों ने प्रकृति को चेतना से युक्त देखा है। प्रसाद, पंत, निराला, महादेवी, रामकुमार, प्रेमी आदि ने उसे आध्यात्मिक भावों की अभिव्यक्ति के लिए भी ग्रहण किया। प्रकृति के भयंकर पक्ष की ओर किसी का ध्यान नहीं गया था। उसकी पूर्ति 'प्रसाद' ने 'कामायनी' में प्रलय के वर्णन द्वारा की।

रीतिकाल में ब्रजभाषा के कवियों ने राधा-कृष्ण के नाम की ओट में अपने हृदय की समस्त वासना को कविता में उड़ेल दिया और दूसरे, शरीर का नख से लेकर शिखा तक इतना बाहरी वर्णन किया कि काव्य की आत्मा आकुल हो उठी। अतः सब से पहला परिवर्तन कविता में यही हुआ कि हृदय की सूक्ष्म भावनाओं का कवि वर्णन करने लगे और एक प्रकार की वासना-विहीन कविताओं का जन्म हुआ। दृष्टि नारी से हटकर प्रकृति और परमात्मा पर जा पड़ी।

साहित्य में उस समय दो शब्द सुनाई पड़ने लगे—छायावाद और रहस्यवाद।

छायावाद शब्द को लेकर साहित्य के जिज्ञासुओं, विचारकों और आलोचकों ने बड़ा भ्रम फैलाया। जिसके मन में जो आया उसने वह कहा। किसी-किसी ने चिढ़कर कहा जो समझ में न आये उसे छायावाद कहते हैं। बहुत दिनों तक लोग छायावाद और रहस्यवाद में कोई भेद ही नहीं कर सके। दोनों को एक समझ कर चलते रहे। सारे छायावाद काल में छायावाद पर कोई सुन्दर पुस्तक नहीं लिखी गई और न छायावाद को समझाया गया। पर आगे चलकर छायावाद और रहस्यवाद दोनों प्रवृत्तियों को पृथक्-पृथक् स्वीकार किया गया। छायावाद का सम्बन्ध प्रकृति से जोड़ा गया और रहस्यवाद का परमात्मा से। अब तक प्रकृति को अनेक रूपों में देखा गया था, पर उसकी स्वतंत्र सत्ता को स्वीकार न किया गया था, उसे आलंबन के रूप में न माना गया था, वह भी चेतन हैं इस बात पर दृष्टि न गई थी। आधुनिक काल में इन सब बातों को स्वीकार किया गया। प्रकृति में चेतना का आरोप

इस युग की विशेषता है। प्रसाद, पंत, निराला, महादेवी आदि छायावादी कवियों में यह बात समानरूप से पाई जाती है। प्रकृति में हृदय की प्रतिष्ठा और उसकी भावनाओं का विश्लेषण इन कवियों ने बड़ी मार्मिकता से किया है।

भारतेन्दु काल कुछ अंशों में रीति-काल का उत्तराधिकारी था; अतः हिंदी के कवियों में आस्तिकता का भाव बराबर बना हुआ था। भारतेन्दु हरिश्चंद्र के हृदय में कृष्ण के प्रति वैसी ही भावना पायी जाती है जैसी भक्ति-काल के कवियों के हृदय में। आगे चलकर विज्ञान के प्रभाव, स्वामी दयानंद के आर्यसमाजी आंदोलन, रामतीर्थ विवेकानंद के अद्वैतवादी प्रचार और ऐनी बिसेंट के थ्यौसोफिकल सोसाइटी के कोमल सम्पर्क ने शिक्षित जनता में अवतारवाद की भावना को शिथिल किया। यद्यपि द्विवेदी युग में दो परम आस्तिक कवि—मैथिलीशरण गुप्त और अयोध्यासिंह उपाध्याय—उत्पन्न हुए; पर उनकी वैष्णव भावना भी युग के अनुकूल परिवर्तित रूप में पाई जाती है। गुप्त जी एवं उपाध्याय जी ने राम-कृष्ण में पूर्ण आस्था रखते हुए भी काव्य में अलौकिकता के पुट को दूर रखने का पूरा प्रयत्न किया। न तो मैथिलीशरण गुप्त के राम तुलसी के राम हैं और न उपाध्याय जी के कृष्ण सूर के कृष्ण। अतः छायावादी युग के प्रारंभ होते-होते यह स्पष्ट हो गया कि यदि अब ईश्वर को काव्य का विषय बनाना होगा तो निर्गुण निराकार के रूप में। जयशंकर प्रसाद, सूर्यकांत त्रिपाठी निराला; सुमित्रानंदन पंत और महादेवी आदि ने यही किया। ब्रह्म को उन्होंने विचार का विषय ही नहीं, प्रेम का आधार भी बनाया। परिणाम यह हुआ कि रहस्यवाद की धूम मच गई।

रहस्यवाद का थोड़ा बहुत विरोध तो उसके जन्म-काल से ही होता रहा, परन्तु १९३५ के उपरांत इस विरोध ने अधिक बल पकड़ा। रहस्यवादियों की भावनाओं के संबंध में यह प्रश्न बराबर पूछा जाता रहा है कि कहाँ तक वे अनुभूति-जन्य हैं, कहाँ तक काल्पनिक? इन रहस्यवादियों के जीवन में साधना नहीं है, इन्होंने अपने लौकिक प्रेम को ही अलौकिक बना दिया है, ऐसा बराबर कहा जाता रहा। इस प्रकार इन्हें लेकर एक संदेहवाद का जन्म

हुआ। इस प्रकार के विचारों को फैलाने में पंडित रामचंद्र शुक्ल और डा० देवराज का बहुत बड़ा हाथ रहा है।

संसार के अन्य देशों और साहित्यिकों के संपर्क में तो भारत प्रथम महायुद्ध काल में ही आगया था, पर दूसरे महायुद्ध काल में वह और भी निकट आया। इस काल में रूस के जीवन, साहित्य और कला की ओर वह बहुत आकर्षित हुआ। वहाँ के विचारों को ग्रहण करने पर वहाँ के धर्म संबंधी विचारों से भी नहीं बचा जा सकता था। साम्यवादी ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास नहीं करते और धर्म को अफीम का नशा बतलाते हैं। अतः हिंदी में प्रगतिवाद के फैलने के साथ ही रहस्यवाद का क्षेत्र संकुचित होने लगा।

पर यह सुमित्रानन्दन पंत ही थे जिन्हें न छायावाद का शून्य आकाश घेर पाया, न प्रगतिवाद की संकीर्ण कारा। अपने काव्य के राजहंस की मुक्त उड़ान के लिए प्रगति और अध्यात्म के दोनों पक्षों की रक्षा उन्होंने की। भौतिक क्षेत्र के समान अध्यात्म के क्षेत्र में भी वे प्रगति (विकास) को स्वीकार करते हैं। इस दिशा में उन पर प्रसिद्ध दार्शनिक अरविंद का बड़ा प्रभाव है। आज के युग में अध्यात्म की रक्षा केवल चेतना की महत्ता और विकास की स्वीकृति के रूप में ही हो सकती है, राम की भक्ति या असीम के प्रणय के रूप में नहीं। चेतना का यह आग्रह पंत की 'स्वर्ण किरण', 'उत्तरा' और 'अतिमा' में पूरा-पूरा दिखलाई देता है।

रहस्यवाद आत्मा परमात्मा के पारस्परिक प्रेम को कहते हैं। रहस्यवाद हिंदी के लिए कोई नवीन प्रवृत्ति नहीं है। प्राचीन-काल में संत और सूफी दोनों रहस्यवादी सम्प्रदाय थे। इसमें कहीं तो ईश्वर को प्रियतम और आत्मा को दुलहिन मानते हैं, जैसे कबीर ने माना और कहीं उसे नारी और अपने को उसका प्रणयी समझते हैं, जैसे जायसी के काव्य में। आधुनिक काल में इस प्रवृत्ति ने फिर जन्म लिया। महादेवी, प्रसाद, पंत, निराला, रामकुमार, प्रेमी आदि इस युग में प्रसिद्ध रहस्यवादी हुए। पूरे बीस वर्ष तक यह भावना हिंदी-साहित्य को आच्छादित किए रही। रहस्य-भावना प्रेम-भावना ही है। अतः प्रेम के क्षेत्र में अत्यंत पूत भावनाएँ प्रचुर परिमाण में हिंदी काव्य-कोष में भर गईं। भावपक्ष एवं कला-पक्ष दोनों में यह साहित्य इतना पुष्ट है कि

सारे हिंदी काव्य में अपनी समता नहीं रखता। गीति-काव्य का उच्चतम विकास इसी भावना के माध्यम से हुआ। दार्शनिक भावों की अत्यंत सरस अभिव्यक्ति आधुनिक काल में रहस्यवाद के प्रादुर्भाव के कारण हुई। साम्प्रदायिकता की भावना से मुक्त होकर धर्म की सार्वभौमिकता और सार्वदेशिकता की काव्य में प्रतिष्ठा रहस्य-वृत्ति के कारण ही संभव हुई। सूक्ष्मतम भावों का काव्य-वितान रहस्यवाद के कारण ही तना। इन सब विशेषताओं के होते हुए भी रहस्यवाद अपने मूल में ही एक दुर्बलता छिपाए है जिसके कारण यह वृत्ति न तो बहुत दिनों तक पनप सकती है और न अधिक व्यापक बन सकती है। वह यह कि यह आकाश की ओर ताकती है, मिट्टी की ओर ध्यान नहीं देती। यही कारण है कि धरती की पुकार जब बहुत दिन तक उपेक्षित रहती है, तब कवि को फिर किसी न किसी रूप में स्वर्गीय स्वरों की बात अधूरी छोड़ कर पृथ्वी के कोलाहल की ओर लौटना पड़ता है।

शीघ्र ही हिन्दी में हालावाद का शोर मचा। यह शोर 'बच्चन' जी के कारण हुआ। पहले उन्होंने 'रुबाइयात उमर खय्याम' का अनुवाद किया, फिर स्वयं 'मधुशाला' नाम से एक पुस्तक लिखी जो नवयुवकों को बहुत प्यारी लगी और उसके छंदों को गुनगुनाकर वे मस्ती से झूमने लगे। 'बच्चन' जी प्रसिद्ध हो गए। इस युग में हिन्दी का शायद ही कोई कवि इतने शीघ्र प्रसिद्ध और लोक-प्रिय हुआ हो। 'बच्चन' जी की मदिरा संबंधी रचनाओं में अध्यात्म ढूँढ़ने का प्रयत्न करना व्यर्थ होगा। वे यौवन, प्रेम और मस्ती की तानें हैं। इसी में उनका सौंदर्य है। मदिरा पर हिन्दी के कुछ और भी कवियों ने लिखा है और बहुत अच्छे ढंग से जैसे श्री बालकृष्ण शर्मा नवीन ने। और कवियों ने इस प्रतीक को लिया मात्र है, पर बच्चन ने इसे अपना ही लिया। 'बच्चन' की 'मधुशाला' के अनुकरण पर कम प्रतिभाशाली व्यक्तियों द्वारा 'टी शाला' 'बध शाला' आदि की रचना हुई। इससे 'बच्चन की' लोकप्रियता ही सिद्ध होती है। रहस्यवाद की सूक्ष्म रचनाओं के कारण लोक के हृदय में जिस प्रतिक्रिया ने जन्म लिया था, 'बच्चन' की रचनाओं ने उसे प्रतिध्वनित करते हुए निकास का अवसर दिया। इस कार्य में अधिक स्थूलता, थोड़ी नग्नता और कम कलात्मकता के साथ 'अंचल' ने भी थोड़ा योग-दान दिया।

सिपाही विद्रोह के शांत होने पर देश में कुछ दिन के लिए शांति छा गई। यह शांति ऊपरी थी। किसी भी देश के स्वतंत्र-चेता कवि विदेशी शासन का समर्थन नहीं कर सकते। हरिश्चंद्र युग में इसी से राजभक्ति और देशभक्ति साथ-साथ चलती हैं। अँगरेजी शासन, इंगलैंड की महारानी, राजकुमारों और भारत के किसी-किसी वायसराय की प्रशस्तियाँ जो भारतेन्दु ने लिखी हैं वे एक तो इसलिए कि उनकी दृष्टि से भारतवासियों को उस शासन में धर्म आदि के क्षेत्र में विकास की वह स्वतंत्रता प्राप्त थी जो पिछले मुगल-सम्राट औरंगजेब आदि के काल में नहीं थी। दूसरे वे यह आशा करते थे कि अँगरेज वास्तव में भारत के सच्चे हितैषी हैं। अपने अंतिम दिनों में उनकी यह आशा बहुत कुछ विफल हुई और इसका परिणाम यह हुआ कि विदेशी शासन के प्रति वे कुछ तीखे पड़े। पर तभी वे केवल पैंतीस वर्ष की अवस्था में चल बसे।

द्विवेदी युग में राष्ट्र-प्रेम मातृ-भूमि के प्रति अनुराग के रूप में उमड़ा। श्रीधर पाठक, रामनरेश त्रिपाठी, मैथिलीशरण गुप्त आदि ने स्वदेश-वंदन में रचनाएँ लिखीं। सन् १६२१ में महात्मा गाँधी के राजनीतिक बागडोर सँभालते ही राष्ट्र-प्रेम को एक दिशा मिली। देश में राष्ट्र-प्रेम की एक लहर उठी जिसमें पं० माखन लाल चतुर्वेदी, पं० बालकृष्ण शर्मा नवीन, सुभद्राकुमारी चौहान और इधर सोहनलाल द्विवेदी ने अपनी साहस वाणी सुनाई। इनमें से गुप्त जी, चतुर्वेदी जी, नवीन जी और श्रीमती चौहान को जेल की यात्राएँ भी करनी पड़ीं। इस क्षेत्र की रचनाएँ परिमाण में बहुत कम हैं और कुछ खुलकर कहने का साहस बहुत कम कवियों में पाया जाता है। गिनेचुने नाम हैं, गिनीचुनी कविताएँ। पिछली अर्द्ध शताब्दी में दो महायुद्ध हो गए और भारत में इतनी महान् जन-क्रांति; परन्तु हिन्दी के कवियों पर इनका कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ा, यह एक आश्चर्य की बात है। छायावादी कवियों के काव्य को देखकर तो यह अनुमान लगाना कठिन हो जायगा कि इनके युग में देश स्वतंत्र हुआ।

भारतेन्दु काल से लेकर अब तक राष्ट्रीय चेतना की वाणी को हम उतना प्रबल नहीं पाते हैं जितनी वह होनी चाहिए थी। यह वाणी निरंतर कुछ दबी हुई सी है। राजनीतिक आन्दोलन को ज्यों का त्यों केवल राजनीतिक व्यक्ति ही

ध्वनित कर सकता है—ऐसा व्यक्ति जो राजनीतिक भी हो और कवि भी, कवि से अधिक राजनीतिक हो। कविता से अधिक राजनीति जिसका प्राण हो, वह उन संकटों के लिए कटि-बद्ध हो सकता है जो राजनीतिक संघर्ष में पड़ने से झेलने पड़ते हैं। प्रत्येक कवि चाहे वह अपने क्षेत्र में कितना ही महान् हो, उन झंझटों से थोड़ा बचना चाहता है जो पुलिस द्वारा उस पर कड़ी निगरानी रखने और जेल जीवन के लिए भूमिका बनकर आती हैं। यह एक प्रकार की मानसिक दुर्बलता है जो कुछ अंशों में काम करती है। परन्तु इसका एक दूसरा शुभ पक्ष यह है कि वह सृजनात्मक कार्यों के लिए अधिक समय निकाल सकता है। दूसरे, राजनीतिक आन्दोलन को ज्यों का त्यों ध्वनित करना साहित्यकार का लक्ष्य है भी नहीं। एक तो इसलिए कि वह ऐसे साहित्य को सामयिक समझ कर मरणशील समझता है। दूसरे, राजनीति की नीति कोई स्थिर नीति नहीं है, चौथे दिन बदलती है। उसका साथ वह कैसे दे? तीसरे, राजनीति का काव्य में अनुवाद करने से काव्य-कला को बड़ा आघात लगता है। इन्हीं सब कारणों से साहित्यकार राजनीति को अपने ढँग से अपनाकर देश और राष्ट्र का कल्याण करता है। राजनीति के अनुशासन में चलना कवि के लिए कठिन है। कवि से उस उग्रता की आशा करना भूल होगी जो राजनीतिज्ञ का स्वभाव है।

हिन्दी में इधर सबसे नवीन आन्दोलन है प्रगतिवाद का। प्रगतिवाद का आधार अभी राजनीतिक है, अर्थात् राजनीति में जो साम्यवाद (Communism) है, वही साहित्य में प्रगतिवाद। पर पिछले कई वर्ष से बनारस के 'हंस' में जो प्रगतिवाद का प्रमुख पत्र है जैसी रचनाएँ प्रकाशित हुईं, वे बहुत कुछ तुकबंदी मात्र हैं। काव्य का स्वरूप उन्हें नहीं मिला। वे वर्णन-प्रधान, प्रचारात्मक, अश्लील और नीरस हैं। अभी कहीं आल्हा की तर्ज पर या गीतों के नाम से जो पद्य लिखे जा रहे हैं उन्हें देखकर कविता संकोच का अनुभव करती है। प्रगतिवादियों को जो अपने पथ पर बढ़ने में रुकावटें हुई हैं अथवा शिक्षित व्यक्तियों की सहानुभूति जो उन्हें अभी कम मिली है उसका सारा दोष उन्हीं के कन्धे पर है। सबसे भूल का काम उनके आलोचकों ने यह किया कि छूटते ही हिन्दी के बड़े-बड़े कवियों की निन्दा की, उन्हें पलायनवादी (Escapist) और

प्रतिक्रियावादी (Reactionary) कहा। उनमें शोर अधिक है, पर सार अभी कम, नाश की भावना अधिक है, निर्माण की कम।

प्रगतिवाद अभी अपने शैशव में है और उस दिशा में अभी कुछ हुआ नहीं है। उज्ज्वल भविष्य के वह अपने में बीज छिपाये हुए है यह सत्य है, पर उस दिन की प्रतीक्षा में उसके साहित्यकों को अभी तपस्या करनी होगी।

प्रगतिवादियों में सबसे तीव्र राजनीतिक चेतना नागार्जुन में पाई जाती है। रामविलास शर्मा काव्य के क्षेत्र में इतने उग्र नहीं। सुमन और केदारनाथ अग्रवाल में आवेश होते हुए भी जन भावना का विकास स्वस्थ दिशा में ही अधिकतर हुआ है। इनके अतिरिक्त जिन अन्य साधकों में शक्ति के बीज निहित हैं वे हैं—नेमिचंद्र जैन, भारतभूषण अग्रवाल, गजानन माधव मुक्तिबोध और नामवर सिंह।

हिन्दी में प्रगतिवादी युग के प्रारम्भ होते ही सुमित्रानन्दन पंत उस ओर मुड़ते दिखाई देते हैं। परन्तु छायावाद-युग और प्रगतिवाद-युग के बीच की एक साहित्यिक कड़ी है और उस कड़ी को जोड़ने वाला केवल एक ही व्यक्ति है और अपनी भिन्न प्रवृत्ति के कारण वह अकेला ही अत्यंत महत्वपूर्ण है। वह व्यक्ति है—'बच्चन।'

आगे का युग 'बच्चन' के व्यक्तित्व के महत्व पर क्या निर्णय देगा यह मैं नहीं जानता। परन्तु उन पर विचार किए बिना न छायावाद का इतिहास पूरा होगा और न प्रगतिवाद का। वे छायावाद का उपसंहार और प्रगतिवाद का प्राक्कथन हैं। छायावाद की अति भावुकता, अशरीरी कल्पना और स्वप्नमय विचारों का अन्त अकेले बच्चन की मांसल भावना, ठोस कल्पना और क्रियात्मक विचारों ने किया है। इस प्रकार जाने या अनजाने उन्होंने प्रगतिवाद के पनपने की भूमि तैयार की। एक ही प्रकार के वायवी गीतों की अति हो जाने से, वेदना की अतिशयता से ऊब जाने से, नारी को देवी बनाने या 'जूही की कली' और 'शेफालिका' में छिपाने से हिन्दी जनता चाहने लगी थी कि कोई नित्य के जीवन की बात करे, ठोस पृथ्वी की बात करे, हृदय में जो सुखदुःख, विरह मिलन, मादकता पवित्रता की बातें स्वाभाविक रूप से उठती हैं, उनकी कोई बात करे। कविता ऐसी न हो कि कहने वाला ही समझे। ऐसी हो कि एक कहे

Library Sri Pratap College
Srinagar.

और दूसरा समझे ! हृदय की बात हृदय में उतर जाए, अस्पष्ट संकेतों में न चले। इस ऊब का अन्त किया बच्चन ने, इन भावनाओं को अभिव्यक्ति दी बच्चन ने, इस सरल प्रत्यक्ष मार्मिक शैली को अपनाया बच्चन ने। बच्चन ने समय की गति को पहचाना, यही कारण था कि समय ने उन पर ख्याति की मुहर लगा दी। उन्होंने लोक की घुटती भावनाओं को पुनर्जीवित किया, उसे वाणी दी। यही कारण है कि वे लोकप्रिय हो गए।

बच्चन के गीत-संग्रहों की संख्या पंत के काव्य-ग्रन्थों की संख्या से कम नहीं है, पर यह निर्विवाद है कि बच्चन पंत जैसे बड़े कलाकार नहीं। हिन्दी में उनकी स्थिति अँगरेजी में शेली या कीट्स की जो स्थिति है कुछ-कुछ वैसी रहेगी। उन्होंने इतना सब कुछ न लिखकर, यदि निशा-निमंत्रण, मिलन-यामिनी और अपने संग्रहों से केवल सौ गीत लेकर जितना लिखा होता, तब भी उनकी स्थिति में कोई अन्तर न आता।

नई कविता जहाँ से एकदम नया मोड़ लेती है, उसके छोर पर ही एक और कवि अपना मौलिक और चिन्तनशील व्यक्तित्व लेकर आया। इस व्यक्ति का नाम है अज्ञेय।

भाषा के क्षेत्र में आधुनिक युग की सबसे प्रत्यक्ष विशेषता है खड़ी बोली का ग्रहण। कबीर पढ़े लिखे न थे; अतः उनकी भाषा एक प्रकार से खिचड़ी रही। हिन्दी के मुसलमान सूफी कवियों ने जिनमें मलिक मुहम्मद जायसी प्रमुख हैं, अवधी को अपनाया। इधर सूरदास ने ब्रज की बोली को निखारा। हिन्दी में तुलसी अकेले ऐसे कवि थे जिनका ब्रज और अवधी दोनों पर समान अधिकार था। उन्होंने अपनी रामायण परिमार्जित अवधी में लिखी। अवधी में लिखने वाला एक और पुराना लेखक है। उसका नाम है अब्दुर्रहीम खानखाना। इस प्रकार अवधी का प्रचार काव्य में अधिक नहीं हुआ। उसके लेखक गिने चुने हैं। पर सूर, तुलसी, केशव, बिहारी, देव, मतिराम, घनानन्द, पद्माकर आदि प्रसिद्ध कवियों के साथ भक्तिकाल और पूरे रीति-काल में हजारों कवियों ने ब्रज भाषा में लिखा। पिछले सैकड़ों वर्ष में ब्रज की बोली काव्य की एक मात्र बोली रही। आधुनिक काल में भी इसने रत्नाकर, सत्यनारायण कविरत्न, वियोगी हरि जैसे कवि दिए। मँजते-मँजते इस भाषा में इतनी कोमलता,

इतनी मिठास, इतना संगीत और इतना रस आ गया था कि जब खड़ी बोली में कविता आरम्भ हुई तो लोग चौंके और उन्होंने इसका खुलकर विरोध किया। कहा इसमें कविता नहीं हो सकती और यदि हो सकती है तो वह बात नहीं आ सकती जो ब्रज में है।

द्विवेदी युग में काव्य के लिए ब्रजभाषा के विरोध में खड़ी बोली को स्वीकार किया गया। ब्रजभाषा और खड़ी बोली की श्रेष्ठता के सम्बन्ध में वाद-विवाद चलते रहे और ये वाद-विवाद प्रायः कटुता की सीमा को पहुँच जाते थे। पुराने ढंग के साहित्यिकों की प्रतिद्वन्द्विता में पंत जी ने भी खड़ी बोली के पक्ष में अपनी वाणी ऊँची की। उन्होंने कहा—

"हिन्दी के जिन वयोवृद्ध आचार्यों को ब्रजभाषा ही में काव्योचित माधुर्य मिलता है, जो खड़ी बोली को काव्य की भाषा का स्थान देने में भी सशंकित रहते हैं, उसका मुख्य कारण उनके यही हृद्गत संस्कार है, जिनसे उनकी रुचि का रक्त बन चुका। मुझे तो उस तीन-चार सौ वर्षों की वृद्धा के शब्द बिलकुल रक्त-मांस-हीन लगते हैं; जैसे भारती की वीणा की झंकारें बीमार पड़ गई हों, उसके उपवन के लहलहाये फूल मुरझा गए हों, जैसे साहित्याकाश का 'तरणि', ग्रहण लग जाने से निष्प्रभ 'तरनि', बन गया हो, भाषा के 'प्राण' चिरकाल के क्षय-रोग से पीड़ित तथा निःशक्त होकर अब 'प्रान' कहे जाने योग्य रह गए हों, 'पत्थर' जैसे ज्वालामुखी के उदर में दग्ध हो जाने से अपने ओज-पूर्ण कोनों को खोकर, गल, घिसकर 'पाहन' बन गये हों; वैसे ही ब्रज-भाषा की क्रियाएँ भी—'कहत' 'लहत' 'हरहु' भरहु'—ऐसी लगती हैं, जैसे शीत या किसी अन्य कारण से मुँह की पेशियाँ ठिठुर गई हों, अच्छी तरह खुलती न हों; अतः स्पष्ट उच्चारण करते न बनता हो।

यह अत्यन्त हास्यजनक तथा लज्जास्पद हेत्वाभास है कि हम सोचें एक स्वर में, प्रकट करें उसे दूसरे स्वर में; हमारे मन की वाणी, मुँह की वाणी न हो; हमारे गद्य का कोष भिन्न, पद्य का भिन्न हो; हमारी आत्मा के सा रे ग म पृथक हों, वाद्ययन्त्र के पृथक; हमारी भाव तंत्री तथा शब्द तन्त्री के स्वरों में मेल न हो, मूर्धन्य 'ष' की तरह हमारे साहित्य का हृदय, देश की आत्मा, एक कृत्रिम दीवार देकर दो भागों में बाँट दी जाय!" **प्रवेश : पल्लव**

भाषा के साथ दूसरा परिवर्तन छंदों के क्षेत्र में हुआ। चौपाई और बरवै को छोड़कर प्राचीन कवियों में दोहे, कवित्त और सवैयों की भरमार रही। कबीर, सूर और मीरा ने राग-रागिनियों के आधार पर पद्य लिखे। इधर इन छन्दों का चलन बहुत कम हो गया। कवित्त-सवैयों को पकड़े रहने का आग्रह जीवित कवियों में ठाकुर गोपालशरण सिंह में ही अधिक पाया जाता है। उपाध्याय जी ने संस्कृत के वर्णवृत्तों में अपना प्रसिद्ध प्रबन्ध-काव्य प्रिय-प्रवास लिखा। दूसरी ओर मात्रिक छंदों पर सबसे अधिक अधिकार श्री मैथिलीशरण गुप्त ने प्रदर्शित किया। हिन्दी में आज कल गीतों का अधिक प्रचार है। ये गीत एक ओर अँगरेजी की 'लिरिक' (lyric) से इस बात में भिन्न हैं कि इनके छंद भारतीय हैं, इनकी आत्मा भारतीय; और दूसरी ओर सूर, तुलसी या मीरा के पदों से इस दृष्टि से पृथक-कोटि के हैं कि उनके ढाँचे राग-रागिनियों के आधार पर हैं और ये मात्रिक छंदों का सहारा लेकर चलते हैं। कहीं-कहीं ग्राम्य गीतों की टेक और लय लेकर कवियों ने बहुत ही मधुर गीत लिखे हैं। गीति-काव्य के लेखकों में श्रीमती महादेवी वर्मा, जयशंकर प्रसाद, सुमित्रानंदन पंत, सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला, बच्चन, रामकुमार, नरेन्द्र, और दिनकर को बड़ी ख्याति मिली। इधर सिनेमा संगीत का प्रभाव कुछ नवयुवक कवियों के छंदों पर पड़ता दिखाई दे रहा है। उर्दू ग़ज़लों के अनुकरण पर भी कुछ कवि हिन्दी ग़ज़लें लिख रहे हैं, जिसमें विशेष सफलता मिलने की सम्भावना नहीं।

इस युग में छंदों ने एक और नया ढंग पकड़ा। इन्हें मुक्त छंद कहते हैं। ऐसे छंद मात्राओं की गिनती पर न चलकर लय पर चलते हैं। 'प्रसाद' ने अपनी 'लहर' और 'निराला' ने 'परिमल' एवं 'अनामिका' में ऐसे छंदों का प्रयोग किया है। सियारामशरण गुप्त और सोहनलाल द्विवेदी ने भी ऐसे छंदों का सफल प्रयोग किया है। देखने में ऐसी रचनाओं की कोई पंक्ति छोटी, कोई बड़ी दिखाई देगी; पर वे एक दूसरी से संबंधित और एक गति में बँधी होती हैं। प्रवाह उनकी विशेषता है। इस छंद का प्रयोग इस विश्वास पर होता है कि जब हृदय उमड़ता है तब यह अनावश्यक ही नहीं, अस्वाभाविक भी है कि तुकें मिलती चलें।

तीसरा परिवर्तन अलंकारों और शैली के क्षेत्र में हुआ। कोरे चमत्कार-

विधायक अलंकारों जैसे अनुप्रास या यमक का प्रयोग आज कोई जान बूझकर नहीं करता। अनुप्रास यदि किसी का प्रिय छंद है तो केवल निराला जी का ही। जो अलंकार स्वयं आ जाते हैं, उन्हें आजाने दिया जाता है। अलंकारों में उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, अन्योक्ति और समासोक्ति की अधिकता है। आज की कविता में प्रतीकों (Symbols) का प्रयोग बहुत होता है। कवि बात सीधी न कहकर किसी प्रतीक के आधार पर कहता है। इसके अतिरिक्त अमूर्त्त (Abstract) वस्तुओं के लिए मूर्त्त (Concrete) रूप देने, शब्दों के लाक्षणिक प्रयोग करने, सूक्ष्म भावनाओं का मानवीकरण (Personification) करने में आज का कवि विशेष रुचि रखता है।

आधुनिक युग गीतों का युग अवश्य है, पर प्रबंधों की ओर से उपेक्षा हुई हो ऐसी बात नहीं है। मैथिलीशरण गुप्त ने अत्यंत सफल छोटे-बड़े एक दर्जन प्रबंध-काव्य लिखे जिनमें 'जयभारत' सर्वश्रेष्ठ है। प्रबंधों के क्षेत्र में उपाध्याय जी के प्रिय-प्रवास और गुप्त जी के साकेत को बड़ी ख्याति मिली। पहिला श्रीकृष्ण और दूसरा भगवान राम के जीवन को आधुनिक रुचि के मेल में उपस्थित करता है। प्रेम को लेकर चलने वाले दो ऐतिहासिक प्रबंध-काव्य नूरजहाँ और विक्रमादित्य अत्यंत सरस और मर्म-स्पर्शिणी शैली में गुरुभक्तसिंह जी ने लिखे। इधर काशी के पं० श्यामनारायण पांडे के दो प्रबंध-काव्य 'हल्दी-घाटी' और 'जौहर' प्रकाशित हुए हैं। ये दोनों राजपूत काल से संबंध रखते हैं और वीर रस से सराबोर हैं। रामायण के अनुकरण पर पं० द्वारिकाप्रसाद मिश्र का वैसा ही वृहद् महाकाव्य कृष्णायन भी उल्लेखनीय है। प्रबंध-काव्यों में इधर 'दिनकर' के कुरुक्षेत्र को भी अच्छी ख्याति मिली। खंड-काव्यों में प्रसाद का आँसू, निराला का तुलसीदास, पंत की ग्रन्थि तथा गुप्त जी की पंचवटी ने भी हिन्दी जनता का समय-समय पर बहुत ध्यान आकृष्ट किया है। पर हिंदी का सबसे प्रौढ़ प्रबंध-काव्य और रामचरितमानस के उपरांत हमारी भाषा का अमर महाकाव्य 'प्रसाद' की कामायनी है। यह काव्य मन, श्रद्धा और बुद्धि के रूपक (Allegory) को जलप्लावन की एक प्राचीन-कथा के आधार पर लेकर चलता है। अपनी गंभीरता के कारण अभी इस काव्य को पूरा-पूरा समझा भी नहीं गया है।

एक बात और। इन प्रबंध-काव्यों के कथानक चाहे कितने ही प्राचीन हों, पर इन्हें पढ़कर लगता है कि ये बीसवीं शताब्दी की ही देन हो सकते हैं। कुछ को छोड़ कर शेष प्रबंध-काव्यों में आधुनिकता का पुट किसी न किसी रूप में विद्यमान है। राम और कृष्ण दोनों ही स्वदेश-प्रेमी दिखाए गए हैं। सीता सुधारवादिनी हैं और राधा पूरी समाज-सेविका। कामायनी में मशीनों द्वारा उत्पन्न अशांति और रक्त की वर्षा करने वाले महायुद्धों की चर्चा है। कुरुक्षेत्र में हिंसा-अहिंसा की समस्या पर विचार किया गया है। पांडे जी की पुस्तकों में राष्ट्रीयता की भावना यहाँ-वहाँ उमड़ पड़ी है।

परिवर्तन के भैरवी आज हमें जगाने आई है! देश बदल गया, राजनीतिक स्थिति बदल गई, धार्मिक विचार बदल गए, सामाजिक रीतियाँ बदल गईं, भाषा बदल गई, भाव बदल गए, दृष्टिकोण बदल गए और जीवन बदल गया। इस प्रभातकाल में नवीन ज्ञान की जो उज्ज्वल किरणें हमारे हृदय के वातायन को पार करके आ गई हैं, उन्हें छूकर हम और भी आकुल हो उठे हैं। आज हम पुरानी रूढ़ियों को छिन्न-भिन्न करना चाहते हैं, धार्मिक कट्टरता की दीवालों को ढा देना चाहते हैं, अपनी सत्ता को घोषित करना चाहते हैं। हमें ऐसे कवियों की आवश्यकता है जो हममें प्राण फूँक सकें, जो हमें यह दृष्टिकोण दे सकें कि मनुष्य की पहचान मनुष्य होना है। जीवन से सुंदर कहीं कुछ नहीं, मानव से बड़ा कोई नहीं।

छायावाद

आधुनिक हिंदीं कविता में छायावाद सबसे अधिक प्रसिद्ध शब्द है और साथ ही ऐसा शब्द भी जिसे सबसे कम समझा गया है। आज की कविता के अनेक वादों में से यह सबसे अधिक विवादास्पद वाद है। साहित्य का जिज्ञासु इतने वर्ष व्यतीत हो जाने पर भी यह समझने के लिए अभी उत्सुक है कि छायावाद शब्द से वास्तव में क्या अर्थ अभिप्रेत है।

छायावाद के आलोचक

हिंदी आलोचना क्षेत्र में इस शब्द को लेकर जैसी उलझन खड़ी की गई और उसके अर्थ के संबंध में जैसा मतभेद रहा, शायद ही कभी किसी शब्द के संबंध में ऐसी उलझन और विचार-विभेद उत्पन्न हुआ हो। नीचे हम हिंदी के कुछ आलोचकों और विचारकों की छायावाद के संबंध में उनकी अपनी धारणाएँ देते हैं और देखेंगे कि किस प्रकार वे न केवल एक दूसरे से ही मतभेद रखते हैं; वरन् स्वयं अपने में भी उलझे हुए हैं।

पं० रामचंद शुक्ल

शुक्ल जी छायावाद को हिंदी कविता का स्वाभाविक विकास मानते हैं। उनका कहना है कि पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी के काल में काव्य का रूप गद्य-वत्, रूखा, इतिवृत्तात्मक और अधिकतर वाह्यार्थ निरूपक हो गया था; अतः जो प्रतिवर्त्तन हुआ वह छायावाद कहलाया। इसी समय अँगरेजी से प्रभावित रवीन्द्रनाथ की बँगला रचनाओं का प्रभाव हिंदी कवियों पर पड़ा। कुछ कवि लाक्षणिक प्रयोगों का अनुवाद अँगरेजी से सीधा और ज्यों का त्यों करने लगे। शुक्ल जी इस प्रकार छायावाद को वस्तु और शैली दोनों मानते हैं देखिए—

"छायावाद जहाँ तक आध्यात्मिक प्रेम लेकर चला है वहाँ तक तो रहस्य-वाद के अंतर्गत ही रहा है। उसके आगे प्रतीकवाद या चित्रभाषावाद नाम की काव्य-शैली के रूप में गृहीत होकर भी वह अधिकतर प्रेमगान करता रहा।"

शुक्ल जी का विचार है कि छायावाद शब्द हिंदी में बँगला से आया है और बँगला में अँगरेजी से उधार लिया गया है। रहस्यवाद के रूप में छायावाद की व्याख्या उन्होंने इस प्रकार की है—

"पुराने ईसाई संतों का छायाभास (Phantasmata) तथा योरोपीय काव्य-क्षेत्र में प्रवर्तित आध्यात्मिक प्रतीकवाद (Symbolism) के अनुकरण पर रची जाने के कारण बँगला में ऐसी रचनाएँ 'छायावाद' कही जाने लगीं।"

जहाँ तक शैली का संबंध है वहाँ शुक्ल जी छायावाद में लाक्षणिक वैचित्र्य, चित्रमयी भाषा, मूर्त प्रत्यक्षीकरण, गूढ़ व्यंजना, प्रतीक, अन्योक्ति, अप्रस्तुत विधान और कोमल सरस पदावली आदि को लेते हैं। छायावाद के संबंध में उनका कहना है—

"छायावाद शब्द का प्रयोग दो अर्थों में समझना चाहिए। एक तो रहस्यवाद के अर्थ में जहाँ उसका संबंध काव्य-वस्तु से होता है अर्थात् जहाँ कवि उस अनंत और अज्ञात प्रियतम को आलंबन बनाकर अत्यन्त चित्रमयी भाषा में प्रेम की अनेक प्रकार से व्यंजना करता है। छायावाद शब्द का दूसरा प्रयोग काव्य-शैली या पद्धति-विशेष के व्यापक अर्थ में है।"

शुक्ल जी के पास छायावाद के प्रति आकर्षण तो बहुत दूर की बात है समालोचक की आवश्यक सहानुभूति भी न थी। यही कारण है कि छायावादियों की रचना में 'अन्विति की कमी, 'वस्तु-विन्यास की विशृंखलता' 'अवास्तविक कल्पना' 'जगत और जीवन से पलायन' आदि को दिखाते हुए उन्होंने उनके प्रति बड़ा असंतोष प्रकट किया है। ऐसी दशा में सहृदयता के साथ काव्य-गुणों को परखने का प्रश्न ही नहीं उठता। हिंदी साहित्य के इतिहास के एक अध्याय को पूरा करने के लिए उन्हें छायावाद का विश्लेषण करना पड़ा। वे उसमें सौंदर्य के दर्शन नहीं कर सके। इसे हम उनका रूढ़िवादी संस्कार कहकर चुप होते हैं।

नन्ददुलारे वाजपेयी

'हिंदी साहित्य—बीसवीं शताब्दी' में वाजपेयी जी ने यत्रतत्र छायावाद पर

अपने विचार प्रकट किए हैं। इस प्रसंग में 'अध्यात्म का आवरण' 'आध्यात्मिक उड़ान' आदि शब्दों के प्रयोग से यह स्पष्ट है कि वे छायावाद को अध्यात्म की छाया के अंतर्गत लेते हैं।

(१—यदि वह (प्रसाद का आँसू काव्य) छायावाद है तो इसी अर्थ में कि वह मानवीय प्रेम अपने उत्कर्ष में एक अलौकिक आध्यात्मिक छाया से सम्पन्न हो उठा है।

२—प्रेम और सौंदर्य की सूक्ष्म मानसिक विवृत्ति तक में पंत जी की कल्पना समर्थ हुई है और यत्र-तत्र यही कल्पना आध्यात्मिक उड़ानें भी लेती है। इसे ही प्रचलित शब्दावली में छायावाद कहा जाता है।

३—मानव अथवा प्रकृति के सूक्ष्म किन्तु व्यक्त सौंदर्य में आध्यात्मिक छाया का भान मेरे विचार से छायावाद की एक सर्वमान्य व्याख्या हो सकती है।

४—सम्प्रति एक विद्रोह छायावाद की सूक्ष्म आध्यात्मिकता, अशरीरी सौंदर्य-कल्पना और भावातिरेक के विरुद्ध उठ रहा है जिसके उन्नायकों में 'अञ्चल' एक प्रमुख हैं।

((इस पुस्तक में वाजपेयी जी ने दो बातें कही हैं—(१) अभिव्यक्ति की एक लाक्षणिक प्रणाली विशेष ही छायावाद नहीं है, उसमें दर्शन की नियोजना भी है। (२) छायावाद और रहस्यवाद को पृथक रखना चाहिए।)

प्रश्न यह है कि जब दोनों ही अध्यात्म के अंग हैं तो उनमें भेद क्या है? वाजपेयी जी का कहना है कि यह भेद व्यष्टि सौंदर्य दृष्टि (छायावाद) और समष्टि सौंदर्य दृष्टि (रहस्यवाद) का है। व्यष्टि सौंदर्य बोध सार्वजनीन अनुभूति है, हृदय स्पर्शी है, सक्रिय है, समष्टि सौंदर्य बोध यद्यपि उच्चतर अनुभूति है, पर रूढ़िबद्ध है, इसमें इंद्रियानुभूति की सहज प्रगति या विकास के लिए स्थान नहीं, यह धर्म के कठघरे में बन्द होने की अभिरुचि रखती है। छायावादियों में जहाँ उन्होंने प्रसाद, पंत, निराला आदि को लिया है, वहाँ रहस्यवादियों में कबीर और ईरान तथा फारस के कुछ सूफी कवियों को।))

इन व्याख्याओं के लेखक छायावाद और रहस्यवाद को समझने-समझाने तथा उन्हें एक दूसरे से पृथक करने के लिए उत्सुक प्रतीत होता है और अपनी

समझ के अनुसार उसने एक विभाजक रेखा भी दोनों के बीच खींची है; पर दोनों पर अध्यात्म का प्रभाव स्वीकार करने से घपले की सम्भावना है। थोड़ी देर के लिये हम उससे यह प्रश्न नहीं भी करेंगे कि रहस्यवाद हृदय-स्पर्शी क्यों नहीं, अथवा उसमें इन्द्रियानुभूति के सहज विकास के लिए स्थान क्यों नहीं है, पर हम यह विश्वास नहीं कर सकते कि वह प्राकृतिक अथवा मानवीय वर्णनों में अपनी व्याख्या के अनुसार सदा ही यह ठीक से बता सकेगा कि यह रहस्यवाद का उदाहरण है अथवा छायावाद का। महादेवी वर्मा वाले लेख में वाजपेयी जी ने एक उदाहरण दिया है—

जाग जाग सुकेशनी री—
अनिल ने आ मृदुल हौले,
शिथिल वेणी-बंध खोले,
पर न तेरे पलक डोले,
बिखरती अलकें, झरे जाते सुमन वर-वेषिनी री!
छाँह में अस्तित्व खोये,
अश्रु से सब रंग धोये,
मंदप्रभ दीपक सँजोये,
पंथ किसका देखती तू अलस स्वप्न-निवेशिनी री!

यह प्रकृति का वर्णन है, इस पर आध्यात्मिक पुट है, व्यष्टि-सौंदर्य-बोध है; अतः वाजपेयी जी के अनुसार यह छायावाद का उदाहरण है। पर वाजपेयी जी ने टिप्पणी दी है :—

"पाठक देखेंगे कि यह सौंदर्य चित्रण आध्यात्मिक रहस्य-मुद्राओं से परिपूर्ण है, इसे छायावाद की परम्परा में नहीं ले सकते। इसमें एक विलक्षण उदासीनता, सात्विकता, शान्ति और निश्चलता झलकती है। छायावाद की चेतनता, चांचल्य और चटक इनमें नहीं।"

पूछना यह है कि ये नए विशेषण कहाँ से निकल पड़े?

रामकुमार वर्मा

रामकुमार वर्मा छायावाद और रहस्यधाद को एक ही समझते हैं।

'साहित्य समालोचना' में उन्होंने आत्मा परमात्मा की पारस्परिक चर्चा करते हुए कहीं छायावाद शब्द का प्रयोग किया है और कहीं रहस्यवाद का। दोनों में वे अन्तर नहीं कर पाते। इतना ही नहीं, 'छाया' शब्द के पीछे चक्कर काटने वाले लोगों में से वे भी हैं, "परमात्मा की छाया आत्मा में पड़ने लगती है और आत्मा की छाया परमात्मा में। यही छायावाद है।" छायावादियों में उन्होंने शमसी तब्रीज, कबीर, जलालुद्दीन रूमी और सेंट आगस्टाइन को गिना है। आधुनिक कवियों में 'प्रसाद' और माखनलाल चतुर्वेदी को। कुछ आगे चलकर पन्त, महादेवी और अपने को भी।

रामकृष्ण शुक्ल

आधुनिक आलोचकों में पं० रामकृष्ण शुक्ल एक ऐसे आलोचक हैं जिन्होंने छायावाद की परिभाषा को एक रूप दिया। 'आलोचना समुच्चय' में उन्होंने इस बात का खंडन अत्यन्त विदग्धता और पटुता से किया है कि अस्पष्टता या गहरी लाक्षणिकता छायावाद नहीं है, जैसा प्रायः भ्रम से समझा जाता रहा है। मनुष्य-प्रकृति और जड़ प्रकृति के सामंजस्य की भावना ही अपने अधिक विकास में छायावाद को जन्म देती है, जिसमें प्रकृति जीवन का प्रतीक बन जाती है। यद्यपि छाया शब्द से इन्हें भी मोह है, पर वे उसकी उलझन में नहीं फँसे। बड़ी योग्यता के साथ उन्होंने छायावाद और रहस्यवाद का अन्तर स्पष्ट किया है—

"छायावाद प्रकृति में मानव जीवन का प्रतिबिम्ब देखता है; रहस्यवाद समस्त सृष्टि में ईश्वर का। ईश्वर अव्यक्त है और मनुष्य व्यक्त है। इसलिए छाया मनुष्य की, व्यक्ति की, ही देखी जा सकती है, अव्यक्त की नहीं। अव्यक्त रहस्य ही रहता है।"

आगे चलकर उन्होंने रहस्यवादियों के समान छायावादियों के 'विचारक' और 'कवि' जो दो वर्गीकरण किए हैं और अन्योक्तिकार दीनदयालगिरि को जो छायावादी माना है वह थोड़ा चिन्त्य है।

महादेवी वर्मा

महादेवी वर्मा पहिली कवि आलोचक हैं जिन्होंने छायावाद की एक स्पष्ट व्याख्या दी। उन्हीं की बात को थोड़ा घुमाफिरा कर गंगाप्रसाद पांडेय और

नगेन्द्र ने कहा है। स्थूलता के प्रतिवर्तन में सूक्ष्मता को ग्रहण करने वाली वृत्ति को छायावादी विशेषता मानने वालों में महादेवी जी प्रमुख हैं। उन्हीं के शब्दों में देखिये—

"सृष्टि के बाह्याकार पर इतना लिखा जा चुका था कि मनुष्य का हृदय अपनी अभिव्यक्ति के लिए रो उठा। स्वच्छन्द छन्द में चित्रित उन मानव-अनुभूतियों का नाम छाया उपयुक्त ही था और मुझे तो आज भी उपयुक्त ही लगता है।"

इन अनुभूतियों को विशिष्टता प्रदान करने के लिये महादेवी ने प्रकृति और मानव-मन में सम्बन्ध-सूत्र बाँधा है।

"छायावाद ने मनुष्य के हृदय और प्रकृति के उस सम्बन्ध में प्राण डाल दिये जो प्राचीन काल से बिम्ब-प्रतिबिम्ब के रूप में चला आ रहा था और जिसके कारण मनुष्य को अपने दुःख में प्रकृति उदास और सुख में पुलकित जान पड़ती थी। छायावाद की प्रकृति घट, कूप आदि में भरे जल की एक-रूपता के समान अनेक रूपों में प्रकट एक महाप्राण बन गई; अतः अब मनुष्य के अश्रु, मेघ के जलकण और पृथ्वी के ओस-बिन्दुओं का एक ही कारण, एक ही मूल्य है।"

छायावाद और रहस्यवाद के मध्य की विभाजक रेखा महादेवी के लेखों में जितनी सूक्ष्म है उतनी ही स्पष्ट। अयोग्य हाथों में पहुँचकर यही भ्रमात्मक बन गई। उनका तात्पर्य कुछ इस प्रकार है—

समस्त सृष्टि में जिसमें प्रकृति और प्राणी दोनों सम्मिलित हैं एक ही ब्रह्म व्याप्त है—एक ही महाचेतना अनुस्यूत है। अत: प्रकृति जड़ है और मनुष्य चेतन ऐसा विभेद व्यर्थ है। दोनों ही चेतन हैं। इतना ही नहीं देखने में दोनों दो दिखाई देते हों, पर प्राण दोनों के एक हैं। चेतना का एक ही तार दोनों के हृदयों के पार गया है। दार्शनिक भाषा का सहारा लें तो छायावाद से तात्पर्य उनका 'सर्ववाद' से है। इस सर्ववाद को अनेक रंगीनियों में उपस्थित करना ही छायावाद है।

जब छायावाद या सर्ववाद में भी ब्रह्म मूर्त और अमूर्त विश्व में सभी कहीं है—सर्वं खल्विदं ब्रह्म—और रहस्यवाद में भी भावना ब्रह्म के चारों ओर भाँवरें

डालती है, तब छायावाद और रहस्यवाद में अन्तर कहाँ रहा ? महादेवी का कहना है कि छायावाद में इतना ज्ञानमात्र पर्याप्त है कि इस विराट विश्व में एक महाचेतना व्याप्त है। पर इस महान् के प्रति प्रणय-सम्बन्ध रहस्यवाद का विषय है, छायावाद का नहीं। अर्थात् मनुष्य का प्रकृति से तादात्म्य छायावाद है और ब्रह्म से तादात्म्य रहस्यवाद।

छायावाद में प्रकृति के स्वरूप को ठीक से समझने के लिये कई बातों का ध्यान रखना होगा :—

(१) प्रकृति चेतन है।
(२) चेतना सम्पन्न होने से उसका एक व्यक्तित्व है।
(३) यह व्यक्तित्व नर-नारी जैसा ही है।

महादेवी ने प्रकृति की चेतना की परीक्षा वेदों से लेकर कालिदास भवभूति जैसे संस्कृत के कवियों और प्रसाद, निराला, पन्त जैसे हिंदी के साहित्यकारों के काव्य में से उद्धरण दे दे कर की है। छायावाद पर अस्पष्टता, करुणा की अतिशयता, पलायन, अयथार्थता आदि के जो दोष लगाए जाते हैं उनसे उन्होंने अनेक तर्क देकर उसे मुक्त किया है। उनका लेख क्योंकि अनुभूत विषय से सम्बन्ध रखता है, अतः अपने में मनन की सामग्री निहित किए हुए है। छायावाद के सम्बन्ध में उनकी यह धारणा उनके लेख का सार-संपुट सी है :

"छायावाद तत्वतः प्रकृति के बीच जीवन का उद्गीथ है।"

नगेन्द्र

नगेन्द्र छायावाद को आधुनिक युग का एक विद्रोह मानते हैं। इस "विद्रोह का अर्थ है उपयोगिता के प्रति भावुकता का विद्रोह, धार्मिक रूढ़ियों के प्रति मानसिक स्वातन्त्र्य का विद्रोह और काव्य के बन्धनों के प्रति स्वच्छन्द कल्पना का विद्रोह।" यह विद्रोह बड़ा व्यापक है। इसमें रीति-काल की नखशिख वर्णन प्रधान रचनाओं के स्थान पर नीति की बेड़ियाँ तोड़ने को, प्राचीन अलङ्कारों और छन्दों के स्थान पर नवीन अलंकारों और छन्दों को, साथ ही प्राचीन दृष्टिकोण के स्थान पर नवीन दृष्टिकोण को सम्मिलित किया गया है। आश्चर्य की बात यही है कि सभी प्रकार की प्राचीनता के विरोध को छायावाद का पर्याय मानते हुए अतीत की ओर प्रत्यावर्तन को नगेन्द्र ने

छायावाद के अन्तर्गत कैसे रखा ? प्रसाद के अतीत के मोह और 'परिवर्तन' कविता में पन्त के पुरातन के प्रति आकर्षण को इस आलोचक ने इसी कोटि में समेट लिया है।

नगेन्द्र से भूल यह हुई है कि महादेवी की व्याख्या के सहारे उठायी हुई अपनी परिभाषा को इन्होंने पुष्ट नहीं किया; वरन् जो कवि छायावादी के नाम से प्रसिद्ध हैं जैसे पन्त, निराला, प्रसाद आदि, उनमें क्या-क्या पाया जाता है, यह गिनाया है और उस परिगणन में स्वाभाविक रूप से ऐसा भी सम्मिलित हो गया है जो छायावाद से असंबन्धित है।

रीतिकाल के संबन्ध में यह बहुत भारी भ्रम फैला हुआ है कि उसमें कोरा नखशिख वर्णन है और आन्तरिक भावों के चित्रण से वह अछूता है। हिंदी के नवीन आलोचकों ने इस एकांगी निर्णय को बिना परीक्षा के स्वीकार कर लिया है। नखशिख वर्णन रीतिकालीन कविता का एक अंग अवश्य है, पर मनोव्यथा के चित्रण भी उसमें भरे पड़े हैं। वर्णन कहीं-कहीं अतिशयोक्तिपूर्ण हो गये हैं, यह दूसरी बात है, पर जिस युग का धर्म विशेषरूप से प्रेम पर लेखनी चलाना हो, वह मनोव्यथा के अंकन से बचकर निकलेगा, यह बात अपने मूलरूप में ही अनर्गल है।

जो भाव नगेन्द्र विद्रोह शब्द से व्यक्त करना चाहते हैं, वह परिवर्तन शब्द से भी हो सकता था। परिवर्तन जीवन और काव्य दोनों का स्वभाव है। समय के परिवर्तन के साथ साहित्य की विचार-धारा में परिवर्तन होते रहते हैं। आज का प्रगतिवादी भी अपने को विद्रोही कहता है। धार्मिक रूढ़ियों के प्रति विद्रोह को जिसे नगेन्द्र ने छायावाद के अन्तर्गत माना है, समाजवादी प्रगतिवाद के अन्तर्गत मानेगा। अँगरेजी और बँगला के अलंकारों और छन्दों के विद्रोह को छायावाद का लक्षण माना गया है। ऐसा विद्रोह कब नहीं हुआ ? लाक्षणिकता और मूर्तिमता दोनों प्राचीनतम-कविता में विद्यमान हैं, और पदों की असंख्य टेकों और छन्दों की विविधता के संबन्ध में तो कहें ही क्या ?

शांतिप्रिय द्विवेदी

'संचारिणी' में शांतिप्रिय द्विवेदी ने 'छायावाद का उत्कर्ष' शीर्षक से जो लेख दिया है, उससे अंत तक यह पता नहीं चलता कि वे कहना क्या चाहते

हैं। केवल एक शब्द ऐसा है जिसका प्रयोग उन्होंने छायावाद के संबंध में बार-बार किया है—वह है अन्तश्चेतना। पर इस चेतना की कौन सी वृत्ति छायावाद कहलाती है इसका निर्देश वहाँ नहीं। देखिए:—

१—गांधीवाद ही रहस्यवाद है, अपनी कलात्मक अनुभूतियों में छायावाद उसी का एक 'सब्जेक्टिव स्टेज' भी है।

२—उसने भक्ति को मधुर बनाकर ग्रहण किया और वही मधुर भक्ति है अनुराग या छायावाद।

यहाँ 'गाँधीवाद' या 'अनुराग' से उनका क्या तात्पर्य है, बहुत सोचने से भी समझ में नहीं आता।

अन्त में उन्होंने यह निष्कर्ष निकाला है :—

"छायावाद केवल एक काव्य-कला नहीं है। जहाँ तक साहित्यिक टैकनीक से उसका संबंध है वहाँ तक वह कला है और जहाँ दार्शनिक अनुभूतियों से उसका संबंध है, वहाँ एक प्राण है, एक सत्य है। अतएव, छायावाद, काव्य की केवल एक अभिव्यक्ति ही नहीं, बल्कि इसके ऊपर एक श्रेष्ठ अभिव्यक्त भी है। 'छाया' शब्द यदि उसकी कला के स्वरूप (अभिव्यक्ति) को सूचित करता है तो 'वाद' उसके अंतः प्रकाश 'अभिव्यक्त' को। छाया की तरह उसके कला-रूप में परिवर्तन होता रहता है, किन्तु उसका प्रकाश अक्षुण्ण रहता है।"

यहाँ लगता है 'दार्शनिक अनुभूतियों' को छायावाद कहते हैं।

डा० देवराज

डा० देवराज ने छायावाद के विरोध में एक पूरी पुस्तक ही लिख डाली। नाम है—छायावाद का पतन।

पहले उनके द्वारा की गई छायावाद की व्याख्या देखिए :—

"छायावाद क्या है, इस प्रश्न के उत्तर में कहा जा सकता है कि वह (१) गीति काव्य है (२) प्रकृति काव्य है और (३) प्रेम काव्य अथवा रहस्यवादी काव्य है। छायावाद के ये वर्णन मिथ्या न होंगे, पर वे एकांत सत्य भी नहीं। ...वस्तुतः छायावाद साधारण गीति काव्य, प्रेम काव्य या रहस्यवादी काव्य नहीं है। न्यूनाधिक यह सब होते हुए भी उसकी कुछ अपनी विशेषताएँ हैं जो उसे एक निराली स्थिति दे देती हैं।

Library Sri Pratap College.
Srinagar

ये विशेषताएँ हमारी समझ में तीन हैं, अर्थात्—

(१) धूमिलता या अस्पष्टता

(२) बारीकी या गुंफन की सूक्ष्मता

(३) काल्पनिकता और कल्पना-वैभव

हमारा विचार है कि छायावाद के निराले गुण-दोषों का रहस्य उसकी उक्त विशेषताओं में निहित है।"

वास्तव में यह छायावाद की कोई व्याख्या नहीं है। लेखक प्रारंभ में एक बात कहता है। उसे लगता है वह बात को ठीक से नहीं कह पाया, अतः उस अर्द्ध-सत्य में कुछ और जोड़ता है। अपनी बात को बदलकर दूसरी बात कहता है। फिर भी छायावाद की व्याख्या न करके वह छायावाद की विशेषताएँ गिनाता है। ये विशेषताएँ उसकी मानी हुई या मनमानी हैं। पहले ही उसने यह स्वीकार कर लिया कि छायावादी काव्य अस्पष्ट और काल्पनिक है। ऐसी दशा में उससे न्याय और निष्पक्षता की बहुत कम आशा की जा सकती है।

इसके उपरांत वे छायावादी कवियों की योग्यता पर निर्णय देते हुए कहते हैं, "किन्तु छायावादी कवियों में हम कोई उच्च कोटि का साहित्यिक विचारक नहीं पाते। इस दृष्टि से 'पल्लव' का 'प्रवेश' नितांत स्थूल और नीचे धरातल पर चलता हुआ दिखाई देता है। पंत ने वहाँ 'कविता के अंतरंग पर' दृष्टि नहीं डाली, शायद उनकी दृष्टि में बहिरंग का विचार ही अधिक महत्वपूर्ण था।" पता नहीं डा० साहब ने प्रसाद की 'काव्य कला तथा अन्य निबंध' 'महादेवी का विवेचनात्मक गद्य', निराला के निबन्ध संग्रहों और पंत के काव्य ग्रंथों की भूमिकाओं को पढ़ा है या नहीं। मुझे संदेह ही है। वे पश्चिम के साहित्य और आलोचकों से अत्यधिक प्रभावित और आतंकित हैं। हिन्दी की अपेक्षा अँगरेजी का उनका अध्ययन अधिक है। पुस्तक के 'निवेदन' में उन्होंने स्वीकार भी किया है, "प्रस्तुत लेखक ने कभी कॉलेज में हिन्दी नहीं पढ़ी।" ऐसी दशा में उनके निर्णय कुछ विलक्षण और अधकचरे हों तो आश्चर्य नहीं।

'पल्लव' के प्रवेश के संबन्ध में यह कहना है कि पंत जी ने वहाँ काव्य के बहिरंग पर ही प्रकाश डाला है। इस बात को उन्होंने वहीं स्वीकार कर लिया

है। अतः 'शायद' का प्रश्न ही नहीं उठता। पर शायद जल्दी में डा० साहब की दृष्टि इन पंक्तियों पर नहीं पड़ी :—

"पुस्तक के प्रारम्भ में एक भूमिका भी जोड़ दी है। मेरी इच्छा थी उसमें 'काव्य-कला' के आभ्यन्तरिक रूप पर भी एक साधारण दृष्टिपात किया जाय; पर विस्तार भय से ऐसा न हो सका। काव्य के वाह्य रूप पर ही थोड़ा बहुत लिख कर संतोष करना पड़ा।"

छायावादी काव्य की जो विशेषताएँ डा० देवराज से बतलाई हैं उन्हें एक-एक करके नीचे लेते हैं।

(१) शब्द-मोह, चित्र-मोह, कल्पना-मोह

—आक्षेप—

"छायावादी काव्य अथवा शैली की एक विशेषता शब्दों, चित्रों और अलंकारों का मोह है।

तप रे मधुर मधुर मन !
अपने सजल-स्वर्ण से पावन,
रच जीवन की मूर्ति पूर्णतम,
स्थापित कर जग में अपनापन,
ढल रे ढल आतुर-मन।
तेरी मधुर-मुक्ति ही बंधन,
गंध हीन तू गंध-युक्त बन,
निज अरूप में भर स्वरूप, मन।
मूर्त्तिमान बन, निर्धन !
गल रे गल निष्ठुर मन !

तथा

तुम आओगी, आशा में
अपलक हैं निशि के उडुगण !

आओगी, अभिलाषा से
चंचल, चिर नव, जीवन क्षण !

इन पद्यों में रेखांकित पद सार्थक प्रतीत नहीं होते।"

—उत्तर—

पहली रचना में मन को विश्व-वेदना में तपने का उपदेश दिया गया है; अतः उस दिशा में कवि अधीर (आतुर) मन को एक पूर्ण मूर्त्ति के रूप में ढलने का आदेश देता है। इसका गौण भाव यह भी हो सकता है मन जो स्वभावतः व्याकुल (आतुर) रहता है वह निजी व्यग्रता को समेट कर संसार के लिए चिंताशील हो। 'आतुर' शब्द की यही सार्थकता है।

मनुष्य चाहता है मुक्ति ! परन्तु संसार से विरक्त होकर ज्ञान में लीन होना मुक्ति नहीं है। विश्व की सेवा ही वास्तविक मुक्ति है, अर्थात् बन्धन ही मुक्ति है—मुक्ति है समष्टि से लिए व्यष्टि का बलिदान। अतः वह मन जो दूसरों के दुःख में निष्ठुर रहा है, गले। यह है 'निष्ठुर' का आशय।

दूसरी रचना प्रेम से संबंध रखती है। उसका विषय है प्रतीक्षा। उसमें यह दिखाया गया है कि प्रियतमा की प्रतीक्षा आकाश में उषा संध्या करती हैं, सरोवर में लहरें; शून्य में समीर करता है, डालों पर मुकुल; रात को तारे भी इसी आशा में जगकर पथ तकते रहते हैं कि शायद वे आयें। प्रतीक्षा का अर्थ ही होता है जाग्रति। न जाने वे किस क्षण आजायँ; प्रत्येक पल सजग रहना पड़ता है। इस प्रतीक्षा का प्रत्येक क्षण यदि नव नहीं होगा तो क्या होगा ? यही कारण है कि यहाँ 'चिर-नव' का प्रयोग किया गया है।

अतः देवराज जी जो यह समझते हैं कि ऐसे शब्दों का कोई आशय नहीं, यह बात नहीं है।

(२) केन्द्रापगामी व्यंजना वृत्ति

—आक्षेप—

"स्कूल के विद्यार्थी भी जानते हैं कि प्रत्येक लेख या निबंध पैराग्राफों में विभक्त होता है और प्रत्येक पैराग्राफ में एक केन्द्रगत विचार होता है। पैराग्राफ के सब वाक्य मिलकर इस केन्द्रगत विचार को पुष्ट या पल्लवित करते हैं। इसी

प्रकार विभिन्न पैराग्राफ समग्र निबंध के आशय या विषय की पुष्टि अथवा स्पष्टीकरण के लिए होते हैं। प्रत्येक श्रेष्ठ गीत या कविता में इसी प्रकार अनुक्रम या व्यवस्था होती है। छायावादी कविताओं में इस व्यवस्था का मिलना दुर्लभ है।"

इसका अर्थ यह है कि डा० देवराज गीत लिखना और निबंध लिखना एक ही बात समझते हैं। अस्तु, उन्होंने हिंदी के चारों प्रथम कोटि के कवियों, पंत निराला, महादेवी और प्रसाद में यह दोष ढूँढ़ा है। नीचे उनके उदाहरणों की हम परीक्षा करेंगे।

(क) पंत—

—आक्षेप—

"कवि शेली के ढंग की केन्द्रापगामिता—गौण चित्रों में बहक जाने की प्रवृत्ति—भी पंत में पाई जाती है, पर कुछ कम मात्रा में। उदाहरण के लिए 'पल्लव' के निम्न पद्य पर विचार कीजिए :—

सुरपति के हम ही हैं अनुचर
जगत्प्राण के भी सहचर;
मेघदूत की सजल कल्पना
चातक के चिर जीवन धर;

*   *   *

मुग्ध शिखी के नृत्य मनोहर—

*   *   *

जलाशयों में कमल-दलों-सा
हमें खिलाता नित दिनकर
पर बालक-सा वायु सकल दल
बिखरा देता चुन सत्वर;

—बादल

यहाँ वर्णन का विषय, उपमेय, बादल हैं : तृतीय पद्य के पूर्वगामी पद्यों में उसके उपमानों का विस्तार है। तीसरे पद्य की प्रथम दो पंक्तियाँ इस अट्ट-

क्रम के अनुकूल ही हैं; पर शेष दो पंक्तियाँ इस क्रम को भंग कर देती हैं। उनमें कवि कमल-दल उपमा से आकृष्ट होकर प्रकृत उपमेय 'बादल' को भूल जाता है।"

—उत्तर

तीसरे पद्य में बादल कहते हैं कि सूर्य हमें सरोवरों में वैसे ही खिलाता है जैसे वह कमलों को विकसित करता है। परन्तु हमारे उठते ही पवन हमें उसी प्रकार छितरा देता है जिस प्रकार कोई बालक कमल की पंखड़ियों को पृथक-पृथक करके बिखेर दे। यह अर्थ इतना स्पष्ट है कि स्कूल के विद्यार्थी भी इसे समझते हैं। तीसरे पद्य की अंतिम दो पंक्तियों में भी वर्ण्य विषय, 'बादल' ही है। अतः कवि प्रकृति उपमेय बादल को कहाँ भूला है? पर डा० साहब अर्थ क्या करते हैं, पूरा अनर्थ करते हैं।

(ख) निराला—

—आक्षेप—

(("निराला की निम्न कविता में यह दोष ज्यादा स्पष्ट है।

आज नहीं है और मुझे कुछ चाह
अर्ध विकच इस हृदय-कमल में आ तू
प्रिये, छोड़ कर बंधनमय छंदों की छोटी राह
गजगामिनि, वह पथ तेरा संकीर्ण
कंटकाकीर्ण,
कैसे होगा उसमें पार?
काँटों में अंचल के तेरे तार निकल आएँगे
और उलझ जाएगा तेरा हार
मैंने अभी-अभी पहनाया
किंतु नजर भर देख न पाया—कैसा सुन्दर आया।
—प्रगल्भ प्रेम))

यह कविता खंड केन्द्रापगामिता का उत्कृष्ट उदाहरण है। हिन्दी मुक्त छन्द का प्रवर्त्तक कवि अपनी कविता को सम्बोधित करके उसे हृदय-कमल

में आने को आमंत्रित कर रहा है। प्रगल्भ प्रेमी नम्र होकर हृदय-कमल को अर्ध-विकच क्यों कह रहा है, यह समझ में नहीं आता। इसी प्रकार पहली पंक्ति का दैन्य भी अप्रासंगिक है, अस्तु। कवि उसको बंधनमय छन्दों की राह छोड़ने को कहता है, क्योंकि वह पथ संकीर्ण और कंटकाकीर्ण है। यहाँ तक सब साफ है। किन्तु इसके बाद कवि असली विषय को भूलकर 'कण्टकाकीर्ण' विशेषण के मोह में पड़ जाता है और कविता की गति उसी से निर्धारित होने लगती है। कण्टकाकीर्ण पथ से कविता कैसे पार होगी? उसके अंचल के तार निकल जायँगे। इसके आगे 'तार' शब्द की तुक मिलाने के लिए 'हार' की स्थापना आवश्यक हो जाती है, और 'हार' शब्द के प्रयोग के बाद कवि को याद आता है—जिसे उसने अभी पहनाया था और नजर भर के देख भी न सका था कि वह गले पर कैसा सजा है।

यहाँ कवि भूल जाता है कि ऊपर प्रयुक्त 'कण्टकाकीर्ण' शब्द एक अलंकार, वर्णन का एक ढंग मात्र था, यथार्थ का उल्लेख नहीं, और उसका विशेष्य 'छोटी राह' थी। अलंकार को यथार्थ का महत्त्व देकर और दूसरे अलंकारों द्वारा घसीट कर कवि ने मूल वक्तव्य के प्रभाव को एकदम नष्ट कर दिया है। निराला जी की रचना में यह दोष प्रचुर परिमाण में पाया जाता है।"

—उत्तर—

इस रचना में कविता को एक सुन्दर रमणी के रूप में चित्रित किया गया है। सम्बन्ध की दृष्टि से उसने उसे प्रियतमा कह दिया है। रमणी का इसमें एक सम्पूर्ण चित्र है। कविता कामिनी सुन्दर साड़ी पहने है, उसके गले में कवि ने अभी-अभी हार पहनाया है। उस हार को धारण कर वह कितनी सुन्दर लगती है, इसे वह दृष्टि भर कर अभी देख भी नहीं पाया। गजगामिनी कविता के चलने के लिए बन्धनमय छन्दों की संकीर्ण, कण्टकाकीर्ण छोटी राह है। कवि कहता है प्रियतमे, अब उधर न जाओ। उधर जाने से तुम्हारे अंचल के फटने और हार के उलझने का भय है। आओ, मेरा अर्द्ध विकसित हृदय-कुञ्ज तुम्हारा स्वागत करेगा। यदि तुम मेरी हृदयेश्वरी बनोगी, तब संसार में मुझे और कुछ न चाहिये। इस प्रकार यह चित्र एकदम निर्दोष और रम्य है।

कवि लोग हृदय-कमल को दो दृष्टियों से अर्ध-विकच कहा करते हैं। एक तो वे जितना अनुभव करते हैं उतना कभी कह नहीं पाते। दूसरे भाव के अतिरिक्त काव्य के क्षेत्र में अभिव्यक्ति का ढंग आधा खुला और आधा ढका रहता है। कवि-हृदय की पंखुरियाँ कभी पूरी खुलती ही नहीं। एक तीसरी बात और है और वह यह कि कवि-कर्म के प्रारम्भिक दिनों में, प्रेम के प्रारंभिक दिनों के समान, प्रयत्न करने पर भी हृदय पूरा नहीं खुल पाता। इसी से प्रेयसी से अर्ध-विकच हृदय-कमल में आने के लिए कहा गया है। डा० देवराज को पहली पंक्ति में दैन्य दिखाई दिया है। परन्तु वहाँ तो कवि कहता है कि संसार में मुझे किसी वस्तु की अपेक्षा नहीं है। इस भाव में दीनता कहाँ बसी है, यह हम सोचकर भी न सोच सके।

प्रतिभाशाली कवि प्रत्येक प्रकार की संकीर्णता के विरुद्ध बराबर विद्रोह करते आये हैं। उर्दू के सर्वश्रेष्ठ कवि ग़ालिब ने ग़ज़लों में भाव के विस्तार की सम्भावना कम देखकर उर्दू वालों से शिकायत की थी कि उन्हें अपनी वाणी के विस्तार के लिए कुछ अधिक भूमि चाहिए—कुछ और चाहिए वुसअत मेरी ज़ुबाँ के लिए। निराला जी ने भी यह अनुभव किया कि हिंदी में छन्दों के बंधन के कारण कवि अपने हृदय की बात ठीक ढङ्ग से नहीं कह पाते; अतः उन्होंने मुक्त छन्द में अपने भावों को अभिव्यक्ति दी। यह बात स्वीकार करनी पड़ेगी कि जब कवि के सामने छन्द के आग्रह के लिए गिनी-गिनाई मात्राओं, नपे-तुले छन्दों और निश्चित तुकों में अपने को व्यक्त करने की बात रखी जायेगी, तो बहुत सम्भव है कि भाव छन्द के ढाँचे से कम या अधिक हो और ऐसी दशा में या तो छन्द की पूर्ति के लिए कोई भरती का शब्द रखना पड़े या अधूरी बात कही जाय। कवित्तों और विशेष रूप से संस्कृत के वर्ण-वृत्तों में यह बात देखी जाती है। तुक मिलाने से भी कुछ कवियों को कठिनाई पड़ती होगी। यह आवश्यक नहीं कि तुक का जो शब्द हो, भाव को भी वही सबसे सुन्दर ढंग से व्यक्त करे। तुक में कवि के हाथ बँध तो जाते ही हैं। तुकों के प्रयोग के लिये बड़े कौशल की आवश्यकता है। आधुनिक युग के प्रतिनिधि कवि मैथिलीशरण गुप्त जी की जो हिन्दी के प्रथम श्रेणी के कवियों में हैं, कटु आलोचना भी कहीं-कहीं लोग बलपूर्वक भिड़ाई गई तुकों के लिए करते हैं,

फिर बहुत से तुक्कड़ों का तो कहना ही क्या ! बहुत से शब्दों की तुकें बहुत सीमित होती हैं, उदाहरण के लिए यदि आपने 'पीड़ा' शब्द का प्रयोग कर दिया तो फिर या तो नीचे 'व्रीड़ा' लाइये या 'क्रीड़ा'।' यदि कहीं अन्त में 'कविता' आपने लिख दिया तो मैं नहीं जानता कि स्वयं कविता 'सविता' को छोड़ और कहाँ जायगी ! ऐसी दशा में यदि निराला जी ने बंधनमय छन्दों की राह को संकीर्ण कहा तो क्या अनुचित कहा ? कविता तो गजगामिनी है, मस्ती से चलने वाली, वह बन्धन में कैसे आगे बढ़ेगी ! छन्द के तीन बन्धन— मात्राओं की गणना, वर्णों के लघु-गुरु का नियम और तुकें—स्थान-स्थान पर खड़े काँटे ही हैं जिनसे कविता की साड़ी के फटने और अंचल के तार-तार होने की ही आशंका है। इन काँटों के भय से वह कहाँ तक सिकुड़ कर चलेगी ?

यहाँ 'हार' शब्द 'तार' से तुक मिलाने के लिये नहीं आया है। वह एक प्रतीक है। कवि कहता है कि अपने मुक्त छन्द में भावों का जो हार मैंने तुम्हें पहनाया है उसकी ओर जी भर कर देखने का मुझे अभी अवकाश भी नहीं मिला है कि उसे धारण कर तुम कैसी लगती हो !

'निवेदन' में जब देवराज जी ने लिखा था कि 'पुस्तक-लेखक ने कभी कॉलेज में हिन्दी नहीं पढ़ी' तब मैंने समझा था कि यह योग्य व्यक्ति का परम्परागत नम्रता-प्रदर्शन है; परन्तु अब पता चला कि उस वाक्य का अर्थ अभिधा से ही लगाना चाहिये।

(ग) महादेवी वर्मा—

—आक्षेप—

"महादेवी जी में केन्द्रापगामी प्रवृत्ति तीव्र है, पर वहाँ वह दूसरा रूप धारण करती है। महादेवी जी प्रायः केन्द्रगत भाव के पृष्ठाधार (Back-Ground) का इतना विशद वर्णन कर देती हैं कि उसके आगे मूल भाव फीका पड़ जाता है। उदाहरण के लिए जब पाठक पढ़ता है :—

रजनी ओढ़े जाती थी
झिलमिल तारों की जाली

तब उसे लगता है कि कविता का विषय रजनी या उसका वर्णन है, पर जब वह दूसरी पंक्ति पढ़ता है।

उसके बिखरे वैभव पर
जब रोती थी उजियाली।

तो उसे 'जब' शब्द के ज्ञात होता है कि यह किसी महत्त्वपूर्ण घटना का उपक्रम मात्र है। इसके बाद वह उस घटना की प्रतीक्षा में आगे बढ़ता है।

शशि को छूने मचली सी
लहरों का कर कर चुम्बन,
बेसुध तम की छाया का
तटनी करती आलिंगन!

अपनी जब करुण कहानी
कह जाता है मलयानिल,
आँसू से भर जाता तब—
सूखा अवनी का अंचल;

क्या 'तब' शब्द उस प्रतीक्षित घटना का प्रवेश सूचित करता है? पर 'सूखा अवनी का अंचल आँसू से भर जाना' तो ऐसी महत्त्वपूर्ण घटना नहीं मालूम होती।जिसके लिए लम्बी-चौड़ी भूमिका आपेक्षित होती।"

—उत्तर—

यहाँ पहली बात तो यह कहनी है कि डाक्टर देवराज ने जिस 'तब' शब्द पर आपत्ति की है और रेखांकित (underline) किया है, वहाँ 'तब' शब्द है ही नहीं, 'जब' शब्द है—आँसू से भर जाता जब...अतः किसी के काव्य से गलत उद्धरण देकर उस पर आक्षेप करना बहुत भद्दी बात है।

'निवेदन' के प्रारम्भ में ही इस समालोचक ने कहा है कि 'आलोचना का उद्देश्य साहित्य संबंधी सत्य का उद्घाटन है। इसलिए जो आलोचक सत्य को लक्ष्य बनाकर व्यापृत नहीं होता, अथवा जो सत्य को ढकने की चेष्टा करता है, वह जातीय साहित्य और संस्कृति को तो क्षति पहुँचाता ही है, साथ ही अपने को हास्यास्पद बनाने के बीज भी बोता है। असत्य का आश्रय लेकर बड़ी से बड़ी

प्रतिभा अपने को छोटा बना डालती है।' और अभी ऊपर कह आए हैं कि डा० देवराज ने यहाँ स्वयं असत्य का आश्रय लिया है। इसके आगे कुछ कहते नहीं बनता।

(घ) जयशंकर 'प्रसाद'

—आक्षेप—

"प्रसाद में भी इस प्रवृत्ति का अभाव नहीं है। 'आँसु' का उदाहरण लीजिये।

बस गई एक बस्ती है
स्मृतियों की इसी हृदय में,
नक्षत्र लोक फैला है
जैसे इस नील निलय में।

ये सब स्फुलिंग हैं मेरी
उस ज्वालामयी जलन के
कुछ शेष चिह्न हैं केवल
मेरे उस महामिलन के।

यहाँ प्रथम पद्य के पूर्वार्ध का आशय स्पष्ट करने के लिए उत्तरार्द्ध में एक उपमा दी गई है—हृदय में वैसे ही स्मृतियों की एक बस्ती बस गई है, जैसे नील निलय (आकाश) में नक्षत्रों की। यहाँ तक सब ठीक है। किन्तु दूसरे पद्य में 'प्रसाद' जी प्रथम पद्य की इस उपमा को लेकर बढ़ चलते हैं, उपमा द्वारा मूल काव्य में गति लाने का प्रयास करते हैं, जो कृत्रिम है। 'ये सब स्फुलिंग हैं मेरी' आदि पद्य का प्रथम पद्य से कृत्रिम लगाव स्थापित किया गया है। यह लगाव यदि न रहता तो कोई हर्ज न था।"

—उत्तर—

प्रथम पद्य का दूसरे पद्य में लगाव इसलिए स्थापित किया गया है कि बात दोनों में मिलकर पूरी हुई है। वास्तविक स्थिति यह है कि बात अंतिम पंक्ति से प्रारम्भ होती है। एक दिन था जब प्रेम का महामिलन हुआ। अब तो उन घटनाओं की स्मृतियाँ ही शेष रह गई हैं। विरह की ज्वाला को छूकर स्फुलिंग

के समान हृदय के भाव आज प्रकट हो रहे हैं। साथ ही, एक दिन जो प्रकृति और पुरुष का महामिलन हुआ, जिसकी स्मृति को जगाए रखने के लिये विरह से दग्ध आकाश रूपी हृदय में नक्षत्रों की कुछ चिनगारियाँ वह अब भी लिए फिरती है, इस आध्यात्मिक अर्थ को मैं यहाँ छोड़ दे रहा हूँ।

असामंजस्य—विचारगत और रागात्मक।

—आक्षेप—

"छायावाद की बहुत सी रचनाओं में विचारगत सामंजस्य का अभाव दिखाई देता है और वह क्षम्य कोटि का नहीं, क्योंकि वह रसानुभूति में बाधक होता है। और जहाँ साधारणतया देखने में विचारात्मक क्रम-भंग नहीं दीखता, ऐसा रागात्मक असामंजस्य भी पाया जाता है। नीचे हम दोनों के उदाहरण देखेंगे।

निराला जी में आलोचना-शक्ति की कमी नहीं है इसका प्रमाण उन्होंने अनेक स्थलों में दिया है।...पंत के एक उदाहरण की रवीन्द्र की पंक्तियों से तुलना करते हुए वे कहते हैं—'रवीन्द्र की दोनों पंक्तियाँ परस्पर सम्बद्ध हैं, पंत जी कि दोनों पंक्तियाँ एक दूसरे से अलग।' इस उद्धरण में पंत की उस कमी का उल्लेख है जिसे हम असामंजस्य नाम से अभिहित कर रहे हैं। इस सम्बन्ध में उन्होंने पन्त की एक कविता का विश्लेषण विशेष मार्मिकता से किया है, हम उसे समग्रता में उद्धृत करेंगे:—

[छोड़ द्रुमों की मृदु छाया,
तोड़ प्रकृति से भी माया,
बाले! तेरे बाल जाल में कैसे उलझा दूँ लोचन?
भूल अभी से इस जग को!

वही हालत इन पंक्तियों की भी है। कवि 'बाला' के 'बाल-जाल' से छूटकर 'द्रुमों की मृदु छाया' में तथा 'प्रकृति की माया' में जीवित रहना चाहता है। यहाँ भी कला से विपरीत रति कराई गई है, जो अस्वाभाविक हो गई है। अगर 'बाला' के 'बाल-जाल' से छूटने का निश्चय है, तो छूटकर जहाँ ठहरिए उसे दिखलाइए कि वह स्वभावतः 'बाला' के 'बाल-जाल' से ज्यादा आकर्षक

है। अगर छूटे, तो 'द्रुमों की मृदु छाया' में क्या करने गए ? प्रकृति से माया जोड़ने की क्या आवश्यकता थी ? प्रकृति में ही रहे, तो उत्कृष्ट को छोड़कर निकृष्ट को क्यों ग्रहण किया ? प्रकृति में 'बाला' से मधुर क्या होगा ?]

निराला जी की सूक्ष्म रसानुभूति सराहनीय है, पर शायद उनका विश्लेषण अपूर्ण है।···दूसरी पंक्ति में 'भी' का प्रयोग और भी निरर्थक है। आशा है इस लम्बी-चौड़ी विवेचना द्वारा पाठकों के हृदय पर रागात्मक तथा विचारगत सामंजस्य का आशय अंकित हो गया होगा।"

—उत्तर—

इस शीर्षक के अंतर्गत डा० देवराज ने कई उद्धरण दिए हैं; परन्तु इस उद्धरण को मैंने इस लिए चुना है कि एक तो यह पन्त जी के काव्य से सम्बन्ध रखता है और दूसरे इसमें निराला जी और देवराज जी की एक ही स्थान पर आलोचना हो जायगी।

आधुनिक हिन्दी कविता में जो सम्मानित पद प्रकृति को मिला है, वह जो अपने निखरे प्रिय रूप में हिन्दी प्रेमियों के सामने आई है, उसका बहुत कुछ श्रेय निस्सन्देह श्री सुमित्रानन्दन पन्त को है। पन्त के हृदय को प्रकृति ने बड़े वेग से आकर्षित किया है। जिसका जन्म ही रम्य प्राकृतिक दृश्यों से पूर्ण प्रदेश में हुआ हो, जो अपने शैशव से ही सुमनों, निर्झरों, बादलों, पर्वतों के साहचर्य में रहा हो, उसके उर में प्रकृति अपना सदन बनायेगी ही। वह प्रकृति के मुग्धकारी प्रभाव से भागकर कहाँ जायेगा ? उस प्रेम के विरोध में सृष्टा की अन्य शक्ति भी जब अपना मधुर मायाजाल लेकर खड़ी होती है, प्रेम में बटवारा चाहती है, तब कवि सकुचाता है, अपनी प्यारी वस्तु को पकड़े ही रहता है, नवीन आकर्षण के सामने आत्म-सर्मपण नहीं करता—

छोड़ द्रुमों की मृदु छाया,
तोड़ प्रकृति से भी माया,
बाले तेरे बाल-जाल में कैसे उलझादूँ लोचन !
भूल अभी से इस जग को !

इन पंक्तियों को पकड़कर यह कहना कि इनमें कला से 'विपरीत रति' कराई गई है जो निहायत अस्वाभाविक है, या यह सोचना कि प्रकृति में बाला

Library Sri Pratap College,
Srinagar.

से मधुर और क्या होगा; अतः प्रकृति में ही रहे तो उत्कृष्ट को छोड़कर निकृष्ट को क्यों ग्रहण किया, अपने दृष्टिकोण को अत्यन्त संकुचित करना और उन लोगों की श्रेणी में जाना है जिनके लिये तुलसीदास ने 'नारि पियारि' लिखी है। प्रेम में खींचातानी के लिये स्थान नहीं होता और यहाँ तो कवि बाला की मधुरता का अपमान भी नहीं कर रहा। बाला की मधुरता को तो वह स्वीकार करता है; पर 'भूल अभी से इस जग को' में जो 'अभी से' है वही निश्चित संकोच है। अभी तो यह नहीं होगा। तुम्हारे बाल-जाल में लोचन उलझाने का तुम्हारे भ्रू-भंगों से मृग-सा मन बिंधवाने का, तुम्हारे प्रिय स्वर से श्रवण भरने का, तुम्हारे अधरामृत में ही जीवन बहलाने का अभी समय नहीं आया। अभी मेरे लोचनों को द्रुमों की मृदु छाया तथा प्रकृति की माया में उलझने दो, अभी मेरे मन को तरल तरङ्गों तथा इन्द्रधनुष के रंगों से आकर्षित होने दो, अभी मेरे कानों को कोयल के कोमल बोल तथा मधुकर की अनमोल वीणा से भरने दो, अभी मेरे जीवन को ऊषा-सम्मित-किसलय-दल एवं सुधा रश्मि से उतरे जल के मद में बहने दो। एक दिन मैं कह सकता हूँ कि—

> इंदु पर उस इंदु मुख पर, साथ ही
> थे पड़े मेरे नयन, जो उदय से,
> लाज से रक्तिम हुए थे—पूर्व को
> पूर्व था, पर वह द्वितीय अपूर्व था।

पर अभी तो—

> बाले, तेरे बाल-जाल में
> कैसे उलझादूँ लोचन ?

'पल्लव' के प्रकाशित होते ही पन्त का सबसे पहला और प्रबल विरोध किया उनके परम मित्र 'निराला' जी ने। 'पन्त जी और पल्लव' शीर्षक १०० पृष्ठों का वह लेख उनके निबन्ध-संग्रह 'प्रबन्ध-पद्म' में सुरक्षित है। इस लेख के लिखे जाने के दो कारण थे। पहला यह कि पन्त जी से किसी प्रकार यह भूल होगई कि प्रकाशित होते ही 'पल्लव' की प्रति उन्होंने 'निराला' जी को भेंट नहीं की। दूसरा यह कि भूमिका में उन्होंने निराला जी के काव्य की आलो-

चना कर दी। ये दोनों अक्षम्य अपराध थे! इन बातों को 'निराला' जी छिपा नहीं सके—

१—उनके प्रति जो क्षण-मात्र का विश्वास मैंने किया था, वह क्षणमात्र में ही उठ गया; कारण, तब तक प्रसूत 'पल्लव' पन्त जी द्वारा प्रेरित होकर मुझे प्राप्त न हुआ था। मेरे एक मित्र ने आकर कहा, "पंडित जी, 'पल्लव' तो प्रकाशित हो गया, कल मैं एक प्रति खरीदकर आपको दूँगा।" अवश्य उस समय पन्त जी की मित्रता की बानगी, पल्लव की एक प्रति उनसे न मिलने के कारण, उन्हें मैं 'यन्न व्येति तद्व्ययम्' ही कर रहा था।

२—इतना ही कहना है कि 'पल्लव' में मेरी कविता पर कुछ लिखने से पहले उचित था कि पन्त जी मेरी भी सलाह ले लेते, जबकि वह मेरे मित्र थे। पन्त जी जैसे मार्जित मनुष्य से मित्रता का एक निहायत साधारण व्यवहार पूरा न होगा, मुझे पहले यह आशा न थी।

इस लेख में निराला जी के बहुत से आक्षेप व्यक्तिगत हो गए हैं। एक स्थान पर उन्होंने पन्त जी की शिक्षा विषयक योग्यता पर आपत्ति की है। आख़िर उस दृष्टि से स्वयं निराला जी की शिक्षा-दीक्षा क्या है? दूसरे स्थान पर पन्त की कुछ पंक्तियों पर रवीन्द्रनाथ का प्रभाव बतलाते हुए उन्होंने उन्हें 'चौर्य कला में निपुण' बतलाया है। इसी प्रकार उनकी कोमलता को 'स्वभाव का स्त्रीत्व' कहा है। भविष्य में नए कवियों को सचेत हो जाना चाहिए कि यदि उनके इस प्रकार के मित्र हों तो प्रकाशित होते ही उन्हें पुस्तक भेंट करना वे न भूलें!

हाँ, डाक्टर देवराज की बात हम कर रहे थे।

(४) वास्तविकता पर बलात्कार: मूड की कविता।

—आक्षेप—

"छायावादी काव्य मुख्यतः कल्पना-प्रसूत है और वह कल्पना, अधिकांश स्थलों में, आवेगमयी नहीं, मूड की अनुवर्तिनी है। एक उदाहरण लीजिए—

बालक के कंपित अधरों पर
किस अतीत-सुधि का मृदु-हास

जग की इस अविरत-निद्रा का
करता नित रह रह उपहास
—स्वप्न

यहाँ पहले तो कल्पित किया गया है कि बालक के कम्पित अधरों पर अतीत सुधि का हास है, और फिर इस कल्पित वास्तविकता की रूपात्मक (उत्प्रेक्षात्मक नहीं) व्याख्या की गई है—वह हास जग की अविरत निद्रा का उपहास करता रहता है। वाक्य का प्रश्नवाची रूप यह इशारा करता है कि पाठक इस (शिशु हास के उपहास करने की) घटना से सुपरिचित है, और कवि इस सुपरिचित घटना का कारण पूछ रहा है। पाठक देखें यहाँ वास्तविकता पर कितनी डिग्री तक अत्याचार किया गया है, एवं उनकी विश्वास-भावना पर कितना बोझ डाल दिया गया है। पद्य के पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध में वर्णित घटनाएँ तो कल्पित हैं ही, साथ ही यह भी समझ में नहीं आता कि स्वयं भी सोता हुआ बालक जग की निद्रा का (जिसे ज़बर्दस्ती अविदित बना दिया गया है) क्यों उपहास करता है। इस पद्य में वास्तविकता पर तिहरा चौहरा बलात्कार किया गया है और वह भी बिना किसी तीव्र आवेग के, रस्किन की पदावली में (cold blood) में।"

—उत्तर—

आपने देखा होगा कि सोते में कभी-कभी बच्चों के ओठ फड़कने लगते हैं और वे मुस्कुरा उठते हैं। कवि की दृष्टि में भी एक दिन ऐसा दृश्य आया है। बच्चा-बच्चा ही है। उसके लौकिक अनुभव अभी कुछ नहीं जिन्हें स्मरण कर वह मुस्करा उठे; अतः कवि सोचता है कि इस जन्म से पूर्वकाल की किसी प्रसन्न सुधि के आने के कारण शिशु मुस्कुरा उठा है। यह सुधि अभी इतनी तीव्र है कि निद्रा को तुच्छ करके भी, जिसमें बालक की सारी वाह्य चेतना डूब जाती है, प्रकट हुई है। इतनी रम्य और स्वाभाविक कल्पना के लिये डा० देवराज ने तिहरा-चौहरा 'बलात्कार' बतलाया है। अँगरेजी के कवि वर्ड्स्वर्थ ने अमरता के सन्देश (Intimations of Immortality) में अपना विश्वास जन्मान्तर में प्रकट करते हुए कहा है कि बचपन में हम सभी दैवी अनुभूति के निकट होते हैं और ज्यों-ज्यों बड़े होते जाते हैं त्यों-त्यों

लौकिकता में फँस कर उन सुधियों को, जब हम परमात्मा के साथ एक थे, विस्मरण करते चले जाते हैं। देखिए—

Our birth is but a sleep and a forgetting ;
The soul that rises with us, our life's star,
Hath had elsewhere its setting,
And cometh from afar ;
Not in entire forgetfulness,
And not in utter nakedness,
But trailing clouds of glory do we come,
From God, who is our home ;
Heaven lies about us in our infancy !
Shades of the prison-house begin to close,
Upon the growing Boy,
But he beholds the light, and whence it flows,
He sees it in his joy ;
The youth, who daily farther from the east,
Must travel, still is nature's priest
And by the vision splendid
Is on his way attended ;
At length the Man perceives it die away,
And fade into the light of common day.

——Wordsworth

'छायावाद के पतन' की आलोचना आवश्यकता से कुछ अधिक हो गई, इस बात का मैं स्वयं अनुभव करता हूँ। परन्तु इसकी आवश्यकता इसलिए

पड़ी कि डा० देवराज की भ्रांत धारणाओं और अधकचरे सिद्धान्तों से हमारी आधुनिक कविता को बड़ी हानि पहुँचने की संभावना है। इस ग्रन्थ के द्वारा डा० देवराज ने जान बूझकर छायावादी काव्य के सौंदर्य को ढकने का प्रयत्न किया है। संभव है छायावादी काव्य में छोटे-मोटे दोष कहीं हों, परन्तु 'दोषों' को आप 'विशेषताएँ' नहीं बतला सकते, जैसा डा० देवराज ने माना है। यदि लेखकों से भूलें हुई हैं, और भूलें किससे नहीं होतीं, तो आप केवल उन भूलों के आधार पर सारे छायावादी काव्य को लांछित नहीं कर सकते। ऊपर प्रसाद, पंत, निराला, महादेवी के काव्य की जिन भूलों की चर्चा देवराज जी ने की है, उनकी विवेचना से तो हम इसी परिणाम पर पहुँचे हैं कि स्वयं देवराज जी ने ही इन कवियों के आशय को ग्रहण करने में भूल की है। इस प्रकार उन्होंने छायावाद काल के चारों महान कवियों, हमारे साहित्य और हिंदी के पाठकों के प्रति, बड़ा भारी अन्याय किया है। आश्चर्य की बात है कि पंडित रामचन्द्र शुक्ल के 'काव्य में रहस्यवाद'* की भाँति 'छायावाद के पतन' में भी काव्य के गुणों पर आलोचक की दृष्टि बिल्कुल नहीं पड़ी। अभिव्यक्ति कहीं-कहीं असमर्थ हो सकती है; पर शैलीगत उन सामान्य भूलों को इतना बढ़ा-चढ़ा (magnify) कर दिखाना तो साहित्यिक छल है।

चलते-चलते बीसवीं शताब्दी के सबसे अधिक प्रतिभाशाली कवि 'प्रसाद' और सबसे श्रेष्ठ ग्रन्थ कामायनी को श्री डा० देवराज ने कितना छोटा सिद्ध करने का प्रयत्न किया है, यह भी देखिए:—

"कामायनी के सम्बन्ध में कुछ आलोचकों ने कहा है कि वह रामचरित मानस के बाद हिंदी का सर्वश्रेष्ठ कथात्मक काव्य है। एक दृष्टि से यह कथन ठीक है—रामचरितमानस के बाद हिंदी में श्रेष्ठ महाकाव्य लिखा ही नहीं गया। पर यदि आलोचकों का मतलब यह संकेत करना है कि कामायनी साहित्यिक श्रेष्ठता में मानस के समकक्ष है अथवा उससे कुछ ही कम है तो वे महान भ्रम में हैं। मेरा विचार है कि जहाँ मानस का स्थान विश्व के श्रेष्ठ-

---

* इस ग्रंथ की भ्रांतियों की चर्चा 'महादेवी की रहस्य-साधना' में की गई है।

तम महाकाव्यों—वाल्मीकि, व्यास, होमर, और दान्ते की कृतियों—के साथ है, वहाँ कामायनी छायावादी काव्य की भी श्रेष्ठतम विभूति नहीं है और उसकी मानस से तुलना करना तुलसीदास का अपमान करना है। हमें तो उक्त काव्य में हृदय को मथने की शक्ति रखने वाला एक भी स्थल नहीं मिला। कामायनी का पचास प्रतिशत कम से कम मेरी जैसी बुद्धि के पाठकों के लिए अस्पष्ट या असाधारण है, और इसका मतलब यह है कि प्रायः वह सारा काव्य पाठकों को पहेली-बुझौवल सा मालूम होता है।"

अब कहिए, ऐसे लोगों का समझाने का कहीं कोई उपाय है?

———

पंत का छायावादी दृष्टिकोण

आधुनिक युग वादों का युग है। काव्य की आलोचना भी इसी से अभी-वादों को मूल्यांकन के आधार बनाकर चल रही है। वादों का प्रभाव यहाँ तक बढ़ गया है कि कवियों को ही नहीं आलोचकों को भी उनके अंतर्गत रखकर देखा जा रहा है। वादों के चक्कर में पड़ना यों विवादी लोगों का काम है, पर आलोचकों की जब छायावादी और प्रगतिवादी दो कोटियाँ कर दी गई हैं, तो स्पष्ट है कि ये वाद अब वाङ्मय के विभिन्न रूप न होकर उसे खंडित करने वाले घोषित कर दिए गए। साहित्य की आत्मा के आज जैसे टुकड़े करने का प्रयत्न किया जा रहा है।

वादों को लेकर इतना कोलाहल मचाने पर भी, आश्चर्य की बात है कि अभी तक उनके सम्बन्ध में स्पष्ट रूप से कुछ अधिक नहीं कहा गया। किसी साहित्य में आलोचना की इससे अधिक डाँवाडोल स्थिति क्या हो सकती है कि पूरे पचास वर्ष व्यतीत होने पर भी, उसमें एक ऐसा ग्रंथ न हो जो विभिन्न वादों के स्वरूप का निरूपण प्रामाणिक रूप से कर सके। सन् १९५० में 'साहित्य संदेश' जैसे आलोचना के पत्र में जिसके संपादक बाबू गुलाबराय जैसे विद्वान् और गंभीर साहित्यिक हैं, 'छायावाद' पर जब लेख प्रकाशित होता है तो 'छाया' शब्द को लेकर उसमें उसी प्रकार जाल बुना जाता है जैसे पिछले चालीस वर्षों में बुना जाता रहा है। उदाहरण के लिए कुछ पंक्तियाँ देखिए—

"छायावाद काव्य कोई आज या कल की वस्तु नहीं। जबसे काव्य है, तभी से छाया है और जबसे छाया है, तभी से काव्य। कोई छाया का आनन्द लेता है, कोई छाया बनकर छाता है। यही छायावादी क्रम तो छायावादी साहित्य है।

सीधे और सरलता से कहना चाहो तो ऐसे कह दो कि जैसे छाता लगाने पर उसकी छाया हमारे ऊपर पड़ती है, वैसे ही कवि के हृदय की छाया शेष जगत पर पड़ती है, जिसे हम छायावाद कहते हैं।"

मैं समझता हूँ इस प्रकार की आलोचनाएँ अब समाप्त होनी चाहिए।

प्रगतिवादी आलोचक छायावाद के साथ न्याय करेंगे, इसकी संभावना दिन पर दिन कम होती जा रही है। छायावादी काव्य को वे पूँजीवादी काव्य कहकर उड़ा देना चाहते हैं। किसी भी वस्तु में जिसका सम्बन्ध पूँजीवाद से है उन्हें कोई गुण या सौंदर्य दिखाई नहीं देता, अतः उनके द्वारा छायावाद के सौंदर्य के ढके जाने ही की आशंका है। छायावादी आलोचकों को लें तो दो आलोचक एक मत के दिखाई नहीं देते। उनके दृष्टिकोणों पर ध्यान दें तो पता चलता है कि छायावाद को कोई किसी रूप में देखता है कोई किसी रूप में। कोई उसे वस्तु मानता है कोई शैली। कोई समन्वयवादी उन्हें दोनों मानता है। कोई उसे रहस्यवाद का अंग मानता है और कोई रहस्यवाद को उसका अंग। कोई दोनों में कोई अन्तर नहीं मानता। कोई उसे आधुनिक गीति-काव्य का पर्याय मानता है और कोई उसका विशिष्ट अंश। कोई उसे काव्य की कोई गंभीर वृत्ति स्वीकार नहीं करता और दूसरा उसके सूक्ष्मातिसूक्ष्म विभेदों की चर्चा करता है। इस समस्त वाद-विवाद के भीतर से सामान्य पाठक क्या ग्रहण करें ?

यद्यपि आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने छायावाद शब्द का इतिहास देने का प्रयत्न किया है, पर छायावाद और रहस्यवाद दोनों के सम्बन्ध में उनकी ऐसी धारणा थी कि ये हमारे काव्य में विदेशी या किसी प्रान्तीय भाषा के प्रभाव के कारण आये और क्योंकि अब हिन्दी के आलोचकों तथा स्वयं रहस्यवादी कवियों जैसे प्रसाद और महादेवी द्वारा इस धारणा का खंडन हो चुका है; अतः वे जो इसे छायाभास (Phantasmata) से निकला बताते हैं, वह मान्य नहीं है। हिन्दी में छायावादी रचनाएँ पहले हुई हैं और उनका विश्लेषण एवं उनके मूल में काम करने वाली किसी सामान्य प्रवृत्ति का नामकरण पीछे हुआ है। प्रत्येक देश के काव्य में यही क्रम रहता है—पहले काव्य का सृजन फिर समीक्षा। प्रारम्भ में नए ढंग की रचनाओं की हँसी उड़ाने के लिए तथा उनकी अस्पष्टता पर व्यंग्य करने के लिए किसी ने छायावाद नाम दे दिया। बाद में यही वृत्ति एक गम्भीर वृत्ति बन बैठी।

प्रकृति में चेतना के आरोप को छायावाद कहते हैं। यह आरोप आलंकारिक रूप में न हो, वास्तविक ढंग का हो। कहने का तात्पर्य यह है कि

प्रकृति में चेतना की अनुभूति की प्रतीत पाठक को वर्णन से ही होने लगे। मनुष्य को इस बात में कुछ आनन्द आता है कि वह यह देखे कि जैसे सुख-दुःख का अनुभव वह करता है, उसी प्रकार और सभी करें। दूसरे शब्दों में प्रकृति में मानवीय भावों का आरोप भी छायावाद है।

प्रकृति चेतन है या जड़ यह एक प्रश्न है। पशु-पक्षियों के जीवन को तो हम स्पष्ट रूप से चेतना-सम्पन्न पाते हैं। लता, पुष्प, वृक्ष आदि का जो वानस्पतिक जीवन है, उसे भी हम जड़ कैसे कह सकते हैं। लता और वृक्ष बढ़ते और अन्त में सूखते हैं। इसी प्रकार फूल विकसित होकर मुरझाते हैं। अच्छा, पृथ्वी है। उसे क्या कहें ? वैसे तो पृथ्वी भी आकर्षण से घूमती है—एक-एक कण गतिशील है। ऐसी दशा में कवि यदि प्रकृति को जड़ स्वीकार नहीं करता और उसे मानवीय क्रिया-कलापों से युक्त देखता है तो हमें उसकी दृष्टि की सराहना करनी पड़ती है। सम्भव है कवि की दृष्टि जहाँ पड़ती है, वैज्ञानिक की अभी वहाँ न पड़ी हो; पर काव्य के क्षेत्र में कवि की दृष्टि ही मान्य है, वैज्ञानिक की नहीं।

अतः छायावाद को समझने के लिये तीन बातों को स्मरण रखना चाहिए।

(१) छायावाद का सम्बन्ध केवल प्रकृति के जीवन से है।

(२) इसमें प्रकृति चेतन मानी जाती है।

(३) प्रकृति में वे सारी भावनाएँ प्रदर्शित की जाती हैं जो नर-नारी के जीवन में किसी भी प्रकार उत्पन्न हो सकती हैं।

पन्त के छायावाद पर कुछ कहने से पूर्व इसी क्षेत्र में काम करने वाले अन्य छायावादी कवियों की भावना भी थोड़ी देख लेनी चाहिये। छायावाद काल में प्रकृति को चेतना से युक्त देखना एक सामान्य प्रवृत्ति ही हो गई थी। यह प्रवृत्ति प्रसाद, महादेवी और निराला में भी पाई जाती है। 'झरना' के प्रारम्भ में ही 'परिचय' नाम से कुछ पंक्तियाँ 'प्रसाद' ने लिखी हैं। उसमें प्राकृतिक वस्तुओं में आकर्षण दिखाया गया है—वैसा ही आकर्षण जैसा नर-नारी में होता है। उस आकर्षण का मूल्य इसलिए और भी बढ़ गया है कि जिन दो वस्तुओं के बीच आकर्षण प्रदर्शित किया गया है, वे एक दूसरे से बहुत दूर रहती हैं। देखिए—

उषा का प्राची में आभास,
सरोरुह का सर बीच विकास,
कौन परिचय था ? क्या सम्बन्ध ?
'गगन मंडल में अरुण विलास !'

रहे रजनी में कहां मिलिन्द,
सरोवर बीच खिला अरविन्द,
कौन परिचय था ? क्या सम्बन्ध ?
'मधुर मधुमय मोहन मकरंद।'

प्रफुल्लित मानस बीच सरोज,
मलय से अनिल चलाकर खोज,
कौन परिचय था ? क्या सम्बन्ध ?
'वही परिमल जो मिलता रोज।'

इसी प्रकार महादेवी रात से बातचीत करती हैं, मानों वह इनकी एक-एक बात सुनती और समझती हो। देखिए तो, पवन-दूत प्रिय का संदेश लाया है; अतः उससे शृङ्गार करने के लिए कह रही हैं।

ओ विभावरी !
चाँदनी का अंगराग,
माँग में सजा पराग;
रश्मितार बाँध मृदुल
चिकुर—भार री !
ओ विभावरी !
अनिल घूम देश देश,
लाया प्रिय का सन्देश;
मोतियों के सुमन-कोष
वार वार री !
ओ विभावरी !

Library Sri Pratap College.
Srinagar

लेकर मृदु ऊर्म्मबीन,
कुछ मधुर करुण नवीन;
प्रिय की पदचाप मदिर
गा मलार री!
ओ विभावरी!

बहने दे तिमिर-भार,
बुझने दे यह अंगार,
पहिन सुरभि का दुकूल
बकुलहार री!
ओ विभावरी!

'निराला' जी ने तो मलयानिल और कली में प्रेम की छेड़छाड़ भी दिखाई है। इस रोमांटिक चित्र को देखिए जिसमें प्रकृति की आड़ में मिलन के भोग-पक्ष को चित्रित किया गया है और सोमरस का नाम लेकर मतवाली सुरा वर्णन के प्याले में उड़ेल दी है—

विजन-वन-वल्लरी पर
सोती थी सुहागभरी—स्नेह-स्वप्न-मग्न
अमल-कोमल-तनु तरुणी—जुही की कली,
दृग बन्द किए, शिथिल,—पत्राङ्क में,
वासन्ती निशा थी;
विरह-विधुर-प्रिया-संग छोड़
किसी दूर देश में था पवन
जिसे कहते हैं मलयानिल।
आई याद बिछुड़न से मिलन की वह मधुर बात,
आई याद चाँदनी की धुली हुई आधी रात,
आई याद कान्ता की कम्पित कमनीय गात,
फिर क्या? पवन
उपवन-सर-सरित गहन-गिरि कानन

कुञ्ज-लता-पुञ्जों को पार कर
पहुँचा जहाँ उसने की केलि
कली-खिली-साथ।

सोती थी,
जाने कहो कैसे प्रिय-आगमन वह ?
नायक ने चूमे कपोल।
डोल उठी वल्लरी की लड़ी जैसे हिंडोल।
इस पर भी जागी नहीं,
चूक-क्षमा माँगी नहीं,
निद्रालस बङ्किम विशाल नेत्र मूँदे रही—
किम्बा मतवाली थी यौवन की मदिरा पिए।
कौन कहे ?

निर्दय उस नायक ने
निपट निठुराई की
कि झोंकों झड़ियों से
सुन्दर सुकुमार देह सार झकझोर डाली,
मसल दिये गोरे कपोल गोल;
चौंक पड़ी युवती,—
चकित चितवन निज चारों ओर फेर।
हेर प्यारे को सेज-पास,
नम्रमुखी हँसी—खिली,
खेल रंग, प्यारे—सङ्ग।

जहाँ तक पन्त जी का सम्बन्ध है उन्होंने इससे भी सूक्ष्मता और गहराई से प्रकृति के प्राणों को पहचाना है। उन्होंने उसे सबसे अधिक व्यापक रूप में मानवीय क्रिया-कलापों से सम्पन्न किया है। उनके 'पल्लव' विश्व पर विस्मित चितवन डालते हैं, उनका गिरि सुमन-दृगों से अवलोकता है। उनका उपवन फूलों के प्यालों में अपना यौवन भर-भर कर मधुकर को पिलाता है, उनके मेघों के बाल मेंमनों से गिरि पर कुदकते हैं, उनकी लहरें किरणों के हिंडोल पर नाचती

हैं, विटपी की व्याकुल प्रेयसि छाया बाँह खोलकर कवि को गले लगाने की क्षमता रखती है, उनकी दृष्टि में दशमी का शशि अपने तिर्यक मुख को लहरों के घूँघट से झुक-झुक कर, रुक-रुक कर मुग्धा-सा दिखलाता है, उनका मलयानिल उर्वी के उर से तंद्रिल छायांचल सरका देता है!

रूप और आकार—छायावाद में प्रकृति का क्रियाशील जीवन ही देखा जाता है, अतः यह अत्यन्त स्वाभाविक है कि जब कवि प्रकृति का वर्णन करे तो प्राकृतिक वस्तुओं के रूप और आकार की निश्चित रेखाएँ दे। दूसरे शब्दों में यह प्रकृति का मानवीकरण हुआ। मानवीकरण और इसमें यही अन्तर है कि मानवीकरण एक प्रकार का आरोप है और छायावाद में कवि को प्रकृति वैसी लगती ही है। अन्तर बहुत सूक्ष्म है और प्रत्येक स्थान पर यह बतलाना कठिन होगा कि मानवीकरण का यह चित्र आरोपित है या वास्तविक। नीचे संध्या और चाँदनी के दो चित्र देते हैं—

(१) शान्त स्निग्ध संध्या सलज्ज मुख
देख रही जल तल में,
नीलारुण अंगों की आभा
छहरी लहरी दल में,

—युगवाणी

(२) नीले नभ के शतदल पर
वह बैठी शारद-हासिनि,
मृदु-करतल पर शशि-मुख धर,
नीरव, अनिमिष, एकाकिनि!

—गुञ्जन

चेतना—पंत ने प्रकृति की एक-एक वस्तु में चेतना पहचानी है, यह स्पष्ट कर चुके हैं। प्रकृति का उन्होंने शरीर ही नहीं देखा, मन भी देखा है और देखी हैं उस मन की भावनाएँ भी। सरिता, सुमन, नक्षत्र, बादल आदि के सम्पर्क में वे आते हैं तो उनके रूप निहारने की अपेक्षा उन्हें उनके हृदय की बात सुनना अधिक भाता है। सरिता के सम्बन्ध में अपनी आध्यात्मिक माँ से वे कहते हैं—

मैं भी उसके गीत सीखने
आज गई थी उसके पास;
उसके कैसे मृदुल भाव हैं,
उज्ज्वल तन, मन भी उज्ज्वल !

—वीणा

लहरों के नृत्य को देखकर उनका हृदय अपूर्व आह्लाद से भर उठता है। एक लघु लहरी को उठते और विलीन होते देखकर वे कह उठते हैं—

छुई मुई सी तुम पश्चात्
छूकर अपना ही मृदु गात,
मुरझा जाती हो अज्ञात !

—पल्लव

उज्ज्वल नीलाकाश में रात को प्रहरी के समान जगने वाले तारों के सम्बन्ध में उनका ऐसा विश्वास है—

जग के अनादि पथदर्शक वे
मानव पर उनकी लगी दृष्टि !

—युगांत

नक्षत्र पर पन्त जी की एक रचना (एक तारा) 'गुञ्जन' में भी है। किसी एकांकी तारे को देखकर वे कहते हैं कि वह अपनापन खोजता फिरता है। इस तथ्य के दर्शन से वे इस निर्णय पर पहुँचे हैं कि उसी को नहीं, सभी को किसी न किसी प्रकार की आकांक्षा जीवन-भर चंचल रखती है। जब आकांक्षा उमड़ती है तो वह किसी प्रकार के बन्धन को स्वीकार करना जानती ही नहीं—

चिर आकांक्षा से ही थर् थर्, उद्वेलित रे अहरह सागर,
नाचती लहर पर हहर लहर !
अविरत इच्छा ही में नर्तन, करते अबाध रवि, शशि, उडगन,
दुस्तर आकांक्षा का बन्धन !

इसी प्रकार पवन का कलियों को चूमकर उनके मान का मोचन करना या सरसी को स्पर्श कर उसके प्राणों को चंचल करना, सरिता का अपनी मूक

व्यथा को भुलाने के लिए रात-दिन गाते रहना, बादलों का कभी मृग के समान चौकड़ी भरना और फिर मतंगज के समान झूमना, कोकिल का कवि के हृदय की बात समझना आदि के उदाहरण भी प्रकृति की सप्राणता और उसकी चेतना के उदाहरण हैं। 'वीणा' में उनकी एक अत्यन्त प्रसिद्ध रचना है जिसमें एक विहगी के गान प्रारम्भ करते ही वे उससे यह प्रश्न करते हैं कि उसे इस बात का पता कैसे चल जाता है कि अब भोर होने वाला है। अंत में जब कोई उत्तर नहीं सूझता तो स्वयं ही इस निर्णय पर पहुँचते हैं कि वह 'अंतर्यामिनी' है। यह सब कुछ तो ठीक है, पर सबसे उल्लेखनीय बात वहाँ यह है कि जैसे ही वह विहगी 'जागृति का गाना' गाती है, वैसे ही सारी प्रकृति गतिशील हो जाती। देखिए—

निराकार तम मानो सहसा
ज्योतिपुंज में हो साकार,
बदल गया द्रुत जगत-जाल में
धर कर नाम-रूप नाना;
सिहर उठे पुलकित हो द्रुम-दल,
सुप्त समीरण हुआ अधीर,
झलका हास कुसुम अधरों पर
हिल मोती का-सा दाना;
खुले पलक, फैली सुवर्ण-छवि
खिली सुरभि, डोले मधु-बाल,
स्पंदन-कम्पन औ' नव जीवन
सीखा जग ने अपनाना,

संबंध—जिस प्रकार मानव-जगत में, उसी प्रकार प्रकृति-जगत में भी एक दूसरे के प्रति सम्बन्ध चलते हैं। 'वीणा' में अंधकार को रात का सहचर और 'पल्लव' में छाया को वृक्ष की प्रेयसी बतलाया गया है—

(अ) अब न अगोचर रहो सुजान!
निशानाथ के प्रियवर सहचर!

अंधकार, स्वप्नों के यान!
(आ) श्रमित, तपित अवलोक पथिक को
रहती या यों दीन मलीन?
ऐ विटपी की व्याकुल प्रेयसि
विश्व-वेदना में तल्लीन!

ज्योत्स्ना में जहाँ प्रकृति का एक विराट रूपक उपस्थित किया गया है, बहुत से सम्बन्ध आपस में स्थापित किए गए हैं। पवन सन्ध्या को चाची कहता है, सुग्गा अम्मा और उल्लू मौसी। छाया उसे जीजी कहती है। इसी प्रकार रजनी ज्योत्स्ना को बहू कहती है और इंदु उसे प्रियतमा बतलाता है।

प्रेम—प्रकृति के प्रेम का जीवन भी बिल्कुल वैसा ही है जैसे नर-नारी का। यह दूसरी बात है कि उतनी स्पष्टता से हमारी दृष्टि प्रकृति की प्रेम-क्रीड़ाओं पर नहीं पड़ती। प्रेम के प्रभाव से प्रकृति की एक वस्तु दूसरी वस्तु के निकट कैसे खिंच आती है, यह पंत जी ने 'उत्तरा' में एक स्थान पर प्रदर्शित किया है—

मिट्टी की सौंधी सुगंध से
मिली सूक्ष्म सुमनों की सौरभ,
रूप स्पर्श रस शब्द गंध की
हरित धरा पर झुका नील नभ!
क्या समीर ने लिपट विटप को
किया पल्लवों में रोमांचित?
अँगड़ाई ले बाँह खोलना
सिखलाया डालों को कंपित!
क्या किरणों ने चूम, खिलाए
रंग भरे फूलों के आनन?
सृजन प्राण के स्पर्श प्रेम का
सच है, जीवन करता धारण!

प्रेम की दृष्टि से देखें तो—

(१) जब आकर्षण नर-नारी के बीच होता है तो उसे प्रेम कहते हैं

18261

(२) जब यह आकर्षण प्रकृति की दो वस्तुओं के बीच होता है तो उसे छायावाद कहते हैं।

(३) और जब यही आकर्षण आत्मा परमात्मा के बीच होता है तो उसे रहस्यवाद कहते हैं।

प्राकृतिक वस्तुओं में आकर्षण की भावना पंत जी की किसी भी रचना में देखी जा सकती है। इस आकर्षण-व्यापार के फलस्वरूप आलिंगन, चुम्बन आदि के वैसे ही दृश्य आपको देखने को मिलेंगे जैसे सामान्य मानव-जीवन में। नीचे के कुछ दृश्यों पर ध्यान दीजिए—

(क) विजन निशा में किंतु गले तुम
लगती हो फिर तरुतर के।

—छाया : वीणा

(ख) नवल कलियों के धोरे झूम,
प्रसूनों के अधरों को चूम!

मधुकरी : पल्लव

(ग) तरुण विपटों से लिपट सुजात
सिहरतीं लतिका मुकुलित गात,
सिहरतीं रह-रह सुख से प्राण!
लोम-लतिका बन कोमल गात।
गंध-गुंजित कुन्जों में आज
बँधे बाँहों में छायाऽलोक!

मधुबन : गुन्जन

'ज्योत्स्ना' नाटिका में 'इंदु' 'ज्योत्स्ना' को आलिंगन-पाश में बाँध लेता है। उस समय ताराएँ उल्लसित हो उनके चारों ओर नृत्य करती हुई गाती हैं—

जब मिलते मौन-नयन पल-भर,
खिल खिल अपलक कलियाँ सुन्दर
देखती मुग्ध, विस्मित, नभ पर!

तुम मदिर अधर पर मधुर अधर
धरते, झरते हिम-कण झर-झर
मोती के चुम्बन से चूकर
मृदु मुकुलों के सस्मित मुख पर।
तुम आलिंगन करते, हिमकर
नाचतीं हिलोरें सिहर-सिहर
सौ-सौ बाहों में बाहें भर
सर में, आकुल, उठ उठ, गिर कर।

इस प्रकार अब तक कवियों ने प्रकृति को अपने दृष्टिकोण से देखा था, पंत ने उसे निरपेक्ष दृष्टि से देखा; अब तक उसे जड़ समझा जाता था, पंत ने उसे चेतन माना; अब तक उसे किसी न किसी प्रकार मानव-जीवन से संबद्ध करके रखा गया था, पंत ने उसके जीवन को अपने में पूर्ण और स्वतन्त्र घोषित किया। प्रकृति के प्रति यह अभिनव दृष्टिकोण बीसवीं शताब्दी की ही विशेषता है और इस सम्बन्ध में दो मत नहीं कि प्रकृति की इस मुक्ति में पन्त का सबसे बड़ा हाथ है।

रहस्यवाद

यह व्यापक प्रसार अनन्त रहस्यमय है। सृष्टि के प्रारंभ काल से अनेक दृष्टियों से इस पर विचार होता आता है; फिर भी यह नहीं कहा जा सकता कि हमें कोई अन्तिम और सन्तोषपूर्ण उत्तर मिला। एक जिज्ञासा शांत होती है तो दूसरी उठ खड़ी होती है। लगता है जिज्ञासा का कभी अन्त न होगा।

जीवन के रहस्य को धर्म, दर्शन, विज्ञान आदि समझाने का प्रयत्न कर रहे हैं। कला भी एक ऐसा ही प्रयत्न है। कलाओं में काव्य को बड़ी प्रमुखता मिली—यहाँ तक कि उसे सर्वश्रेष्ठ कला कहा गया। अनेक कारणों में इस बात का एक कारण यह भी प्रतीत होता है कि काव्य के द्वारा जीवन को जैसी पूर्ण अभिव्यक्ति मिल सकती है, वैसी अन्य किसी ललित-कला या शास्त्र के द्वारा नहीं।

जहाँ बहुत सी वस्तुओं का लक्ष्य एक होता है वहाँ उनकी गति भिन्न होने पर भी उनमें विरोध नहीं होता। चरम सत्य धर्म, दर्शन और काव्य तीनों का विषय है। धर्म प्रधानतः, काव्य अंशतः और दर्शन अंततोगत्वा इस पर विचार करता है। धर्म में विश्वास का, दर्शन में तर्क का और काव्य में भावना का प्राधान्य रहता है। इस चरम सत्य का दूसरा नाम ब्रह्म है। दर्शन से जो सिद्ध है, धर्म से जो विश्वसनीय है, वही काव्य में प्रिय बन जाता है। इस प्रकार दर्शन से पुष्ट धर्म का रहस्यवाद ही अन्त में काव्य का रहस्यवाद बन जाता है। किसी और स्थान पर धर्म, दर्शन और काव्य चाहे मेल न खाते हों, परन्तु रहस्यवाद में उनका सहज समन्वय हो जाता है। यदि सत्य एक वृक्ष है, तो दर्शन उसकी जड़, धर्म तना और काव्य किसी डहडही शाखा पर फूटने वाला रसगंधमय सुमन।

यह काव्य दो प्रकार का होता है (१) लौकिक (२) अलौकिक। अलौकिक काव्य को हम दो श्रेणियों में विभाजित कर सकते हैं (१) सगुण काव्य (२) निर्गुण काव्य। सगुण के उपासक भक्त कहलाते हैं और निर्गुण के प्रेमी रहस्यवादी।

भक्त और रहस्यवादी

अध्यात्म के क्षेत्र में विचरण करते हुए भी भक्त और रहस्यवादी दो कोटि के जीव हैं। भक्त की भावनाओं का आधार हैं देवी, देवता और अवतार, रहस्यवादी की भावनाओं का आधार है ब्रह्म। तुलसी, सूर रसखान भक्त थे, कबीर, दादू, जायसी रहस्यवादी। तुलसी, सूर, रसखान के उपास्य थे राम-कृष्ण, कबीर, दादू, मलिक मुहम्मद का लक्ष्य था निर्गुण ब्रह्म। हिन्दी के कुछ लेखकों ने तुलसी और मीरा के सम्बन्ध में * कुछ भ्रम फैलाने का प्रयत्न किया है। एक व्यक्ति ने अपने एक लेख में अँगरेज लेखक स्परजन के अनुसार चिंतन-प्रणाली के आधार पर रहस्यवादियों की कोटियाँ स्थिर करते हुए लिखा है, "गोस्वामी तुलसीदास का 'केशव, कहि न जाय का कहिए' विनयपत्रिका का प्रसिद्ध छंद इसी (दार्शनिक रहस्यवादी की) कोटि में आता है।" इस पर कुछ कहने से पहले हम उक्त पद को नीचे उद्धृत करते हैं—

केसव, कहि न जाय का कहिए!

देखत तव रचना विचित्र अति समुझि मनहि मन रहिए॥
सून्य भीति पर चित्र, रंग नहिं, तनु बिनु लिखा चितेरें।
धोयें मिटे न, मरे भीति, दुख पाइये एहि तनु हेरें॥
रविकर नीर बसै अति दारुन मकर रूप तेहि माहीं।
बदनहीन सो ग्रसै चराचर पान करन जे जाहीं॥
कोउ कह सत्य, झूठ कह कोऊ, जुगल प्रबल कोउ माने।
'तुलसिदास' परिहरै तीन भ्रम, सो आपुन पहचाने॥

इस रचना में ईश्वर को एक विलक्षण चित्रकार के रूप में अंकित किया है जो बिन तनु (निराकार) होने पर भी, सामान्य रंगों की सहायता के बिना, शून्य में (दीवार या पट के प्रयोग के बिना) सृष्टि का चित्र खड़ा करता है। संसार रूपी इस मृग-जल में बिना मुख का एक भयंकर मक्र (काल) रहता है, जो उन जड़-चेतन सभी को अपने उदर में रख लेता है जो वहाँ पानी पीने (लिप्त होने) जाते है। इस सृष्टि को कोई सत्य बतलाया है, कोई

* श्री सद्गुरुशरण अवस्थी—रहस्यवाद और हिन्दी में उसका स्वरूप।

असत्य और कोई सत्यासत्य। तुलसीदास कहते हैं कि यह सृष्टि सत्य है या असत्य या सत्यासत्य दोनों, इस चक्कर में ही नहीं पड़ना चाहिए। ये तीन भ्रम हैं। आत्म-साक्षात्कार के लिए राम का भजन करना चाहिए।

यह सत्य है कि इस रचना में सृष्टि को निराकार बतलाया गया है और थोड़ा दार्शनिक चिंतन है, पर इस पद की निर्णयात्मक अंतिम दो पंक्तियाँ हैं जिनमें दार्शनिक वाद-विवाद को व्यर्थ बतलाकर भक्ति की पुष्टि की गई है। पद का संबोधन केशव भी ब्रह्म का पर्याय नहीं, अवतारवादी भावना का सूचक है।

विनय-पत्रिका और रामायण दोनों निश्चित रूप से भक्ति-परक ग्रंथ हैं। जैसे इस पद में वैसे ही मानस में ऐसे विशेषणों का प्रयोग ऐसे स्थलों पर है जहाँ दार्शनिक चिंतन हुआ है, पर इसका कारण यह है कि तुलसी अपने राम को ब्रह्म का अवतार मानते थे। इसी भावना से प्रेरित होकर उन्होंने उन्हें 'विधि हरि, शंभु नचावनहारे' लिखा है। इतना होने पर भी रामायण में कोई ऐसा स्थल नहीं है जहाँ ब्रह्म के स्वरूप निरूपण के उपरांत तुरंत ही साकार राम की प्रतिष्ठा न हुई हो। कहने का तात्पर्य यह कि तुलसीदास अद्वैतवादी नहीं थे, अतः रहस्यवादी नहीं थे।

निर्गुण सम्प्रदाय से सम्बन्धित इसी प्रकार की शब्दावली कहीं-कहीं मीरा में पाई जाती है। इससे वे रहस्यवादिनी नहीं हो जातीं। इस प्रकार के पदों के अन्त में भी उन्होंने अपना प्रणय-निवेदन 'गिरधर नागर' के ही चरणों में किया है; अतः हृदय से वे भक्त ही हैं।

भक्त और रहस्यवादी में इतना स्पष्ट अन्तर है कि उसे समझाने की आवश्यकता न पड़ती; यदि कुछ आलोचकों ने भक्ति और रहस्यवाद के क्षेत्रों में प्रचलित कुछ शब्दों के आधार पर ही कुछ कवियों को कुछ का कुछ न घोषित कर दिया होता। यह बात कबीर और तुलसी को एक दूसरे के सामने रखकर और भी स्पष्ट हो सकती है। तुलसी ने अपने आराध्य के स्वरूप-निरूपण में निराकार ब्रह्म की विशेषताओं का उल्लेख किया है, पर उनके आराध्य हैं अयोध्या के राम ही, इसी प्रकार कबीर ने अपने प्रणयी को राम कहा है पर वह है निराकार ब्रह्म ही। यह बात नीचे के उद्धरणों से स्पष्ट हो जायगी—

भक्ति

जोग वियोग भोग भल मंदा
हित अनहित मध्यम भ्रम फंदा।
जनमु मरनु जहँ लगि जग जालू,
संपति बिपति करमु अरू कालू
धरनि धाम धनु पुर परिवारू,
सरगु, नरकु जहँ लगि व्यवहारू।
देखिअ सुनिअ गुनिअ मन माहीं,
मोह मूल परमारथु नाहीं।
सपने होइ भिखारि नृपु रंकु नाकपति होइ।
जागें लाभु न हानि कछु, तिमि प्रपंच जियँ जोइ॥
मोह निसाँ सबु सोवनि हारा,
देखिअ सपन अनेक प्रकारा।
एहि जग जामिनि जागहिं जोगी,
परमारथी प्रपंच — वियोगी।
जानिअ तबहिं जीव जग जागा,
जब सब विषय विलास विरागा।
होइ बिवेकु मोह भ्रम भागा,
तब रघुनाथ चरन अनुरागा।
सखा परम परमारथु एहू,
मन क्रम बचन राम पद नेहू,
राम ब्रह्म परमारथ रूपा,
अबिगत अलख अनादि अनूपा
सकल विकार रहित गत भेदा,
कहि नित नेति निरूपहिं बेदा।
भगत भूमि भूसुर सुरभि सुर हित लागि कृपाल।
करत चरित धरि मनुज तनु सुनत मिटहिं जग जाल।

—तुलसीदास।

Library Sri Pratap College Srinagar

रहस्यवाद

अब तोहिं जान न देहूँ राम पियारे,
ज्यूँ भावै त्यूँ होह हमारे।
बहुत दिनन के बिछुरे हरि पाये,
भाग बड़े घर बैठे आये।
चरननि लागि करौं बरियाई,
प्रेम-प्रीत राखौं उरझाई।
इत मन-मंदिर रहौ नित चोषै,
कहैं कबीर परहु मति धोषै।

—कबीर

छायावादी और रहस्यवादी

छायावाद और रहस्यवाद शब्दों को लेकर भी हिन्दी में बहुत भ्रम उत्पन्न किया गया है। कुछ विद्वान् रहस्यवाद को छायावाद का अंग मानते हैं, कुछ दोनों में कोई अन्तर नहीं करते, कुछ दोनों को पृथक रखने के पक्ष में हैं। वास्तव में छायावाद और रहस्यवाद दो भिन्न कोटि की प्रवृत्तियाँ हैं। प्रकृति में चेतना की अनुभूति और प्रकृति के तत्त्वों का पारस्परिक भाव-सम्बन्ध छायावाद कहलाता है। प्रकृति से ऊँचे उठकर आत्मा-परमात्मा का पारस्परिक प्रणय-व्यापार रहस्यवाद की कोटि में आता है। अर्थात् छायावाद प्रकृति के क्षेत्र की वस्तु है, रहस्यवाद अध्यात्म के क्षेत्र की।

उदाहरण लीजिये—

छायावाद

ले चल मुझे भुलावा देकर
मेरे नाविक धीरे धीरे—
जिस निर्जन सागर में लहरी,
अम्बर के कानों में गहरी,
निश्छल प्रेम-कथा कहती हो,

तज कोलाहल की अवनी रे!
मेरे नाविक धीरे धीरे…

—प्रसाद

रहस्यवाद

स्मिति तुम्हारी से छलक यह ज्योत्स्ना अम्लान,
जान कब पाई हुआ उसका कहाँ निर्माण!
अचल पलकों में जड़ी सी तारिकाएँ दीन,
ढूँढ़ती अपना पता विस्मित निमेष विहीन!

गगन जो तेरे विशद अवसाद का आभास,
पूछता 'किसने दिया यह नीलिमा का न्यास?'
निठुर क्यों फैला दिया यह उलझनों का जाल,
आप अपने को जहाँ सब ढूँढ़ते बेहाल?

कालसीमा-हीन सूने में रहस्य-निधान!
मूर्तिमत् कर वेदना तुमने गढ़े जो प्राण,
धूलि के कण में उन्हें बन्दी बना अभिराम,
पूछते हो अब अपरिचित से उन्हीं का नाम!

पूछता क्या दीप है आलोक का आवास?
सिंधु को कब खोजने लहरें उड़ीं आकाश?
क्या पता देवे घनों को वारि-विन्दु असार?
क्या नहीं हम जानते निज आँसुओं का भार?

चाह की मृदु उँगलियों ने छू हृदय के तार,
जो तुम्हीं में छेड़ दी मैं हूँ वही झंकार!
तृप्ति प्याले में तुम्हीं ने साध का मधु घोल,
है जिसे छलका दिया मैं वही विन्दु अमोल!

उर्मियों में झूलता राकेश का आभास,
दूर होकर क्या नहीं है इंदु के ही पास?

इस हमारी खोज में इस वेदना में मौन,
जानते हो खोजता है पूर्ति अपनी कौन ?
यह हमारे अंत उपक्रम यह पराजय जीत,
क्या नहीं रचते तुम्हारी साँस का संगीत ?
पूछते फिर किसलिए मेरा पता बेपीर !
हृदय की धड़कन मिली है क्या हृदय को चीर ?
—महादेवी

अध्यात्मवादी और रहस्यवादी

अध्यात्मवादी और रहस्यवादी दोनों ही पारलौकिक सत्ता में विश्वास करते हैं। अध्यात्मवादी ब्रह्म में केवल आस्था ही रखता है, उसका प्रेमी नहीं होता, पर रहस्यवादी निश्चित रूप से ब्रह्म का प्रेमी होता है। आशय यह है कि अध्यात्मवादी जब प्रेमी बनता है तो रहस्यवादी हो जाता है। इस प्रकार प्रत्येक रहस्यवादी अध्यात्मवादी अवश्य होता है, पर अध्यात्मवादी के लिए रहस्यवादी होना आवश्यक नहीं है। यह सम्भव है कि एक ही कवि अध्यात्मवादी भी हो और रहस्यवादी भी। जिस रचना में प्रेम का सम्बन्ध न झलकता हो और केवल तत्त्व-चिंतन को काव्य-बद्ध किया गया हो वह रचना अध्यात्म-परक होगी, पर जिसमें प्रणय भावना भरी होगी वह रहस्यवादी।

अध्यात्मवाद

व्यष्टि औ' समष्टि में नहीं है भेद
भेद उपजाता भ्रम—
माया जिसे कहते हैं।
जिस प्रकाश के बल से
सौर—ब्रह्मांड को उद्भासमान देखते हो
उससे नहीं वंचित है एक भी मनुष्य भाई।
व्यष्टि औ' समष्टि में समाया वही एक रूप,
चिद्घन आनन्द-कन्द।

आती जिज्ञासा जिज्ञासु के मस्तिष्क में जब—
भ्रम से बच भागने की इच्छा जब होती है—
चेतावनी देती जब चेतना कि छोड़ो खेल,
जागता है जीव तब,
योग सीखता है वह योगियों के साथ रह,
स्थूल से वह सूक्ष्म, सूक्ष्मातिसूक्ष्म हो जाता;
क्रम-क्रम से देखता है
अपने ही भीतर वह
सूर्य-चन्द्र-ग्रह-तारे
और अनगिनित ब्रह्मांड-भांड।
देखता है स्पष्ट तब,
उसके अहङ्कार में समाया है जीव-जग;
होता है निश्चय ज्ञान—
व्यष्टि तो समष्टि से अभिन्न है।

—निराला

रहस्यवाद

मैं पलकों मे पाल रही हूँ यह सपना सुकुमार किसी का!
पुतली ने आकाश चुराया,
उर ने विद्युत-लोक छिपाया,
अंगराग सी है अंगों में
सीमाहीन उसी की छाया;
अपने तन पर भाता है अलि जाने क्यों शृंगार किसी का?
मैं कैसे उलझूँ इति-अथ में,
गति मेरी संसृति है पथ में,
बनता है इतिहास मिलन का
प्यास भरे अभिसार अकथ में!

मेरे प्रति पग पर बसता जाता सूना संसार किसी का !

—महादेवी

प्रेमी और रहस्यवादी

प्रेमी और रहस्यवादी में तात्विक दृष्टि से कोई अन्तर नहीं है। यदि अन्तर है तो केवल इतना कि प्रेमी का प्रणय-पात्र लौकिक होता है और रहस्यवादी का अलौकिक। प्रेमी की दृष्टि नारी पर होती है, रहस्यवादी की ब्रह्म पर। ऐसी स्थिति में प्रेम के वर्णनों में कुछ स्थूलता और रहस्यवाद के वर्णनों में सूक्ष्मता का समावेश स्वाभाविक है। प्रेम के वर्णन मनुष्य की बुद्धि के अधिक निकट होने के कारण अधिक हृदयग्राही होने चाहिए। प्रेम का अनुभव अपने जीवन में एक बार हम सभी करते हैं। आध्यात्मिक चेतना प्रायः सुप्त रहती है और विशेष क्षणों में ही जगती है। यही कारण है कि रहस्यवाद की भावना सभी को समान रूप से न आकर्षित करती है, न प्रभावित। ब्रह्म के जिज्ञासु दस-पाँच होंगे तो प्रेम के दस-बीस लाख। प्रेम के क्षेत्र में प्रणयी या प्रणयिनी प्रत्यक्ष दर्शन और स्पर्श के विषय होते हैं, पर रहस्य के क्षेत्र में उस प्रकार यह सब कुछ सम्भव नहीं है। यही कारण है कि हमें लौकिक प्रेम के विरह-मिलन के वर्णन अधिक मर्मस्पर्शी प्रतीत होते हैं।

प्रेम

याद आती है तुम्हारी ही निरंतर,
क्यों न जाने हार में भी, जीत में भी
क्या यही है सत्य तुम केवल मरीची,
व्यर्थ ही दृग से हृदय की भूमि सींची,
अधर के प्रतिबंध हैं कुछ गुनगुनाते,
विश्व में जो हैं बिखरते गीत बनकर,
क्यों न जाने हार में भी, जीत में भी,
याद आती है तुम्हारी हो निरंतर !

—शांति मेहरोत्रा

रहस्यवाद

तुम मुझमें प्रिय फिर परिचय क्या !
तारक में छवि, प्राणों में स्मृति,
पलकों में नीरव पद की गति,
लघु उर में पुलकों की संसृति,
भर लाई हूँ तेरी चंचल
और करूँ जग में संचय क्या !
तेरा मुख सहास अरुणोदय,
परछाईं रजनी विषादमय,
यह जागृति वह नींद स्वप्नमय,
खेल खेल थक थक सोने दो,
मैं समझूँगी सृष्टि प्रलय क्या !
चित्रित तू मैं हूँ रेखाक्रम,
मधुर राग तू मैं स्वर संगम,
तू असीम मैं सीमा का भ्रम,
काया छाया में रहस्यमय
प्रेयसि प्रियतम का अभिनय क्या !

—महादेवी

व्याख्या

आत्मा और परमात्मा की पारस्परिक प्रणयानुभूति को रहस्यवाद कहते हैं। यह एक प्रकार का प्रणय व्यापार ही है, परन्तु अध्यात्म के क्षेत्र का। यह प्राय: जिज्ञासा से उत्पन्न होता है और दर्शन एवं विरह के उपरांत मिलन में समाप्त हो जाता है। एक रहस्यवाद ऐसा होता है जिसका आधार साधना होती है, एक ऐसा होता है जिसका आधार केवल भावना होती है। हिंदी-साहित्य में संतों और सूफ़ियों का रहस्यवाद साधनात्मक रहस्यवाद है, आधुनिक कवियों जैसे प्रसाद, पंत, निराला, महादेवी का भावनात्मक। काव्य के क्षेत्र में भावनात्मक रहस्यवाद का भी उतना ही महत्त्व है जितना साधनात्मक

रहस्यवाद का। रस की दृष्टि से भावनात्मक रहस्यवाद साधनात्मक रहस्यवाद से निश्चित रूप से अधिक सरस होगा।

विकास

हिंदी में रहस्य-धारा के सम्बन्ध में विद्वानों के दो मत हैं। एक दल का जिनमें आचार्य रामचन्द्र शुक्ल प्रमुख हैं कहना है कि रहस्यवाद की प्रवृत्ति अभारतीय है, वह फारस, पश्चिम और बँगला से प्रभावित है। दूसरे दल का जिनमें जयशंकर प्रसाद, महादेवी वर्मा, निराला और हजारी प्रसाद द्विवेदी आदि सम्मिलित हैं, विश्वास है कि अनेक प्रवृत्तियों के समान रहस्य की प्रवृत्ति शुद्ध भारतीय है, उपनिषदों में उसका मूल है और फारस के सूफ़ियों पर भी यहाँ के अद्वैतवादियों का प्रभाव है।

उपनिषदों में अद्वैतवाद का प्रतिपादन है; अतः यह स्वीकार करना पड़ेगा कि वे रहस्यवाद के मूल आधार हैं। संस्कृत काव्य में रहस्यवाद के दर्शन नहीं होते। फ़ारस योरोप और चीन में रहस्य भावना कुछ वहाँ की धर्म-भावना और कुछ बाह्य प्रभावों के सहारे पनपी। हिंदी में रहस्यवाद का प्रचलन दो बार जोर पकड़ता है—एक भक्ति के प्रचार के पूर्व और दूसरे बीसवीं शताब्दी में द्विवेदी युग के उपरांत। सगुण भक्ति के पूर्व की रहस्य-भावना चार वर्गों में विभाजित की जा सकती है (१) नाथ पंथी रहस्य-भावना (२) सिद्ध रहस्य-भावना (३) संतों की रहस्य-भावना (४) सूफ़ियों की रहस्य-भावना। ये चारों वर्ग साधना में विश्वास करते थे। आधुनिक रहस्यवादी प्राचीनकाल की सी साधना में विश्वास नहीं करते। प्रेम ही उनके लिए सब से बड़ी साधना है।

रहस्यवाद का नवीन उद्भव

रहस्यवाद के इस नवीन उद्भव में अनेक कारणों का संकेत अत्यंत स्पष्टता से किया जा सकता है। न केवल रीतिकाल में, वरन् उन्नीसवीं शताब्दी के अंत तक जिसमें भारतेंदु काल सम्मिलित है शृङ्गार पर इतना लिखा गया कि उससे जी ऊब गया। द्विवेदी युग में काव्य में सुधारवाद की

एक लहर उठी जिससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि काव्य-जगत में शृङ्गार से विरक्ति उत्पन्न हो गई थी। दूसरा प्रभाव विज्ञान का था जिसने अवतारवादी-भावना की नींव हिला दी। इस प्रभाव में आर्यसमाज जैसे सुधारवादी धार्मिक आंदोलनों ने योग दिया। कुछ संयोग ही की बात है कि आधुनिक युग के चारों महान् रहस्यवादी—जयशंकर प्रसाद, सूर्यकांत त्रिपाठी निराला, सुमित्रानंदन पंत, महादेवी वर्मा—स्वभाव से आध्यात्मिक साहित्यिक के प्रेमी थे। आध्यात्मिक साहित्य—विशेषरूप से उपनिषद और अद्वैतवादी साहित्य का अध्ययन इन्होंने किया। वह प्रभाव कहीं न कहीं व्यक्त होना था। छायावादियों के प्रेम का आलंबन अनिर्दिष्ट ही रहा है। महादेवी का काव्य तो शुद्ध रहस्य-काव्य है। अन्य कवियों के काव्य में प्रेम-भावना इस प्रकार व्यक्त हुई है कि उसे लौकिक भी कहा जा सकता है और अलौकिक भी। आलंबन की अस्पष्टता के कारण अनेक स्थलों पर यह निश्चय करना कठिन है कि प्रेम पात्र लौकिक है अथवा अलौकिक। ऐसी दशा में नवीन रहस्यवाद के उद्भव के लिए एक चौथी प्रवृत्ति भी काम कर रही थी और वह यह कि इन कवियों ने और नहीं तो कम से कम प्रारंभ में रहस्यवाद को अनुराग का गोपनीय आधार बनाया।

रहस्यवृत्ति के मूलाधार

अनेक कारण हैं जो व्यक्ति को रहस्यवाद की ओर ले जाते हैं। कभी-कभी ऐसी जिज्ञासा-भावना जगती है कि वह कौन है जो सृष्टि के इस चक्र को परिचालित करता है! कुछ व्यक्ति ऐसे होते हैं जिनके संस्कार जन्म से ही वैराग्य के होते हैं। उन्हें संसार में कुछ भी अच्छा नहीं लगता। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि कोई अध्ययनशील व्यक्ति जब दार्शनिक ग्रंथों का मनन करता है तो उसमें यह प्रवृत्ति जग उठती है। संसार में दुःख के अस्तित्व से भी मनुष्य की आत्मा घबरा उठती है और दुःख की निवृत्ति एवं आनंद की उपलब्धि के लिए वह रहस्यवाद की ओर मुड़ता है। इसी प्रकार कभी-कभी सौंदर्य भी मनुष्य को रहस्यवादी बनाने में सहायता हुआ है। सौंदर्य के दर्शन से मनुष्य का ध्यान सौंदर्य के आदि स्रोत तक पहुँचता है। प्रायः ऐसा भी हुआ है कि परमात्मा के प्रति जन्म-जात प्रेम ही रहस्यभावना का कारण बन गया

है। कुछ प्राणी ऐसे होते हैं जो यह अनुभव करते रहते हैं कि उनकी आत्मा परमात्मा से बिछुड़ कर इस लोक में आ गई है और जब तक उससे मिलन न होगा, उन्हें शांति न मिलेगी। इस प्रकार जिज्ञासा-भावना, वैराग्य, दार्शनिक मनोवृत्ति, दुःख का अस्तित्व, सौंदर्य की शक्ति एवं प्रेम, वे अनेक कारण हैं जो कवि को रहस्यवादी बनाने में किसी न किसी प्रकार सहायक होते हैं।

आज के रहस्यवादी

प्राचीन रहस्यवादियों के समान आधुनिक रहस्यवादियों को किसी एक श्रेणी में रखना सहज नहीं है। उनकी प्रवृत्तियों में और जो कुछ अंतर रहा हो, पर वे समान रूप से धार्मिक थे। धर्म-भावना उनकी सभी वृत्तियों में माला के दानों में धागे के समान अनस्यूत थी। वे धार्मिक रहस्यवादी पहले थे, और कुछ उसके उपरांत। यह बात बौद्ध कापालिकों, सिद्धों, नाथ पंथियों, संतों और सूफियों सभी के संबंध में सत्य है। पर आज के रहस्यवादियों के संबंध में ऐसी कोई बात निश्चयपूर्वक नहीं कही जा सकती।

आज के रहस्यवादियों की संख्या बड़ी परिमित सी है। उनका वर्गीकरण इसलिए और भी अड़चन में डालने वाला है। कोई भावना जब तक समान रूप से बहुत से व्यक्तियों में न पाई जाय, तब तक उन्हें श्रेणीबद्ध करना ठीक नहीं है। इसी से हमें एक-एक दो-दो व्यक्तियों को ही किसी श्रेणी में रखकर संतोष करना होगा।

प्रवृत्तियों के अनुसार आज के रहस्यवादियों को हम निम्नलिखित वर्गों में विभाजित कर सकते हैं—

१ दार्शनिक रहस्यवादी—निराला

२ प्रकृतिमूलक रहस्यवादी—सुमित्रानंदन पंत

३ प्रणयमूलक रहस्यवादी—महादेवी वर्मा, प्रसाद

४ भक्तिपरक रहस्यवादी—मैथिलीशरण गुप्त

५ विविध .

रामकुमार वर्मा, माखनलाल चतुर्वेदी, बालकृष्ण शर्मा नवीन, हरिकृष्ण प्रेमी, दिनकर, मोहनलाल महतो वियोगी, गुरुभक्तसिंह, मिलिन्द।

यहाँ यह स्पष्ट कर देना उचित होगा कि यदि एक प्रवृत्ति किसी एक कवि में पाई जाती है तो वह दूसरे में न पाई जायगी यह बात नहीं, उदाहरण के लिए यदि महादेवी को प्रणय-मूलक रहस्यवादी बतलाया है तो क्या प्रसाद, पंत, निराला आदि की रचनाओं से प्रणय तिरोहित हो गया है ? नहीं। पर महादेवी के काव्य का प्रबल स्वर जैसे प्रणय है, वैसे ही प्रसाद, पंत, निराला का नहीं। उनकी प्रमुख भावना कुछ और है। इसी प्रकार यदि प्रसाद को दार्शनिकता की कोटि में रखा है तो क्या महादेवी दार्शनिक नहीं हैं ? हैं। पर दार्शनिकता वहाँ गौण है, साधनमात्र है, सोपानमात्र। पंत को प्रकृति के माध्यम से रहस्यवादी होते देखा गया है। ऐसी दशा में क्या यह समझा जाय कि प्रसाद प्रकृति के प्रेमी नहीं थे या महादेवी नहीं हैं ? नहीं, ऐसी बात नहीं। पर प्रकृति में इन दोनों की वह अनुराग-दृष्टि नहीं है जो पन्त की है। इतना ही।

कुछ ऐसे कवि हैं जो कभी किसी ओर झुकते दिखाई पड़ेंगे और कभी किसी ओर। उनमें एक ही प्रमुख प्रवृत्ति का निर्देश करना कठिन है। पर क्योंकि उन्होंने इस विषय पर जाने या अनजाने लेखनी चलाई है; अतः उनका उल्लेख करना भी आवश्यक था। ऐसे कवियों को किसी विशेष प्रवृत्ति के अंतर्गत न रखकर विविध नाम से अभिहित किया गया है।

रहस्य-काव्य की विशेषताएँ

रहस्य-काव्य का जन्म प्रायः जिज्ञासा से होता है। इस जिज्ञासा के उपरांत साधक ब्रह्म का परिचय प्राप्त करता है। ब्रह्म की कल्पना दो रूपों में की गई है—पुरुष रूप में और नारी रूप में। प्राचीन काल के रहस्यवादियों अर्थात् संतों और सूफियों की मनोवृत्तियों में यह अन्तर था कि सन्त लोग ब्रह्म की कल्पना पुरुष रूप में करते थे, सूफी नारी रूप में। आज के रहस्यवादियों के सम्बन्ध में ऐसी कोई बात निश्चित रूप से नहीं कही जा सकती। ब्रह्म की कल्पना वे पुरुष रूप में भी करते हैं और नारी रूप में भी। कभी-कभी तो एक ही कवि ब्रह्म को एक स्थान पर पुरुष रूप में देखता है, दूसरे स्थान पर नारी रूप में। इसके उपरांत साधक को ब्रह्म से दर्शन होते हैं। एक झलक है जो

थोड़ी देर दिखाई देती है और विलीन हो जाती है। दर्शन से आकर्षण का जन्म होता है। उस छवि के स्मरण मात्र से कवि बार-बार पुलकित होता है और अनेक प्रकार से उस रूप का वर्णन करता है। वर्णन करते-करते जैसे जी नहीं भरता। इच्छा होती है जिसे एक बार देखा है, उसे बार-बार देख सकें। पर ऐसा कहाँ संभव है! अतः प्रतीक्षा का काल प्रारम्भ होता है। इस स्थिति में प्रणयी गहरी विह्वलता का अनुभव करता है और यहीं से विरह-वर्णन चल पड़ता है। कभी-कभी आत्मा की इच्छा होती है कि वह अभिसार करे। अन्त में एक दिन आता है जब मिलन होता है और आत्मा परमात्मा में लीन हो जाती है। यह वह महानन्द की स्थिति है जिसका केवल अनुभव किया जा सकता है, वर्णन नहीं किया जा सकता।

रहस्यवादी-कला

रहस्यवाद एक प्रकार का प्रणय-व्यापार ही है, अतः प्रणय में जो सम्भव है वह रहस्यवाद में भी सम्भव है। प्रणय दो देहधारियों के बीच स्थायी आकर्षण है, रहस्यवाद आत्मा-परमात्मा के बीच। इस प्रकार अन्तर यदि कुछ है तो स्थूल और सूक्ष्म का। जिस समय हम लौकिक प्रेम का अनुभव करते हैं, उसी समय हम अपने हृदय की पूरी बात किसी को नहीं समझा पाते। ऐसी दशा में यह कैसे सम्भव है कि हम अलौकिक प्रेम की अनुभूति को ठीक से चित्रित कर सकें। पर संसारी होने से हमारी अपनी सीमाएँ हैं, और उस अलौकिक प्रेम को भी हम लौकिक भाषा में समझाने के लिए बाध्य हैं। यही कारण है कि रहस्यवादी को अपनी बात प्रतीक और अन्योक्तिविधान के आधार पर संकेत से समझानी पड़ती है। इतना होने पर भी विषय की गम्भीरता के कारण काव्य में गूढ़ता चाहे आ जाय, अस्पष्टता नहीं आनी चाहिए। आज के बहुत से रहस्यवादी अपने गीतों के शीर्षक नहीं देते। गीत में कहीं-कहीं एक छन्द की भावधारा दूसरे से असम्बद्ध भी रहती है। इन कारणों से काव्य के अस्पष्ट होने की सम्भावना है। ऐसे स्थानों पर पाठकों को चाहिये कि कल्पना और अध्याहार से काम लें! फिर भी यह कहना पड़ता है कि यदि अनुभूति स्पष्ट है तो अभिव्यक्ति भी स्पष्ट होनी चाहिये। अस्पष्ट काव्य की प्रशंसा किसी भी दृष्टि

से नहीं की जा सकती। काव्य कितना ही सूक्ष्म हो, भावना कितनी ही अमूर्त हो, पर यदि वे समर्थ कवि से सम्बन्ध रखते हैं, तो अभिव्यक्ति दुर्बल नहीं हो सकती, हो नहीं सकता कि अभिव्यक्ति चमक न उठे!

रहस्यवाद का भविष्य

जब तक संसार में भौतिकवाद और अध्यात्मवाद का संघर्ष है, तब तक लौकिक काव्य के साथ अलौकिक काव्य या रहस्यवाद रहेगा। विज्ञान के प्रभाव से मनुष्य का ध्यान अलौकिक चमत्कारों से हट कर अपनी शक्ति में केन्द्रित होता चला जा रहा है। अवतारवाद की भावना सार्वदेशिक नहीं है; अतः धर्म के क्षेत्र में चाहे भक्ति काव्य का वह प्रभाव अब न रहे जो कुछ शताब्दी पूर्व था, पर चेतना में विश्वास अभी एकदम नहीं मिट सकता और ऐसी दशा में जब तक आत्मा में विश्वास रहेगा, तब तक परमात्मा में भी किसी न किसी रूप में विश्वास बना रहेगा; अतः रहस्य-काव्य के बने रहने और रहस्य-भावना के फिर-फिर जन्म लेने के अवसर आते रहेंगे। रहस्य-भावना सार्वदेशिक और सार्वकालिक है और इसी में इसकी महत्ता निहित है।

निकट भविष्य में प्रगतिवाद के आघात से रहस्य-धारा बिखर कर क्षीणता की ओर जा रही है। आज का युग उसे उपेक्षा की दृष्टि से देख रहा है। आगे भौतिकवाद का युग आ रहा है। रहस्यवाद का आलोक मन्द होकर इसमें छिप जायगा। नास्तिकता को चीर कर यह उज्ज्वल आलोक फिर कब विकीर्ण होगा, कहा नहीं जा सकता।

Library Sri Pratap College,
Srinagar

पंत की रहस्यवृत्ति

पंत का काव्य रहस्यवाद की प्रमुखता से उसकी परिक्षीणता, उसकी उपरामता या उसके ह्रास की गाथा है। उनकी प्रारम्भिक रचनाएँ रहस्य से आक्रांत रहीं। उससे बचकर वे प्रकृति के प्रेमी हुए। इसके उपरांत उन्होंने व्यक्तिगत प्रेम का अनुभव किया। फिर जीवन की ओर दृष्टि डाली और आगे चलकर एक दिन वे प्रगतिवादी और फिर मानवतावादी घोषित हुए।

पन्त के रहस्यवादी होने में बाह्य प्रभावों का हाथ रहा है यह सत्य है। रवीन्द्रनाथ की गीतांजलि इन प्रभावों में मुख्य हैं। गीतांजलि के एक गीत के अनुकरण पर उसी प्रकार का गीत 'वीणा' में पन्त जी ने रखा। टैगोर की भावना और शैली का भी थोड़ा-बहुत प्रभाव वीणा की रचनाओं में यहाँ-वहाँ स्पष्ट है। परन्तु उनके स्वभाव के भीतर वह सब कुछ विद्यमान था जिससे वे रहस्यवादी बनते। सुन्दर के प्रति वह आकर्षण जो उन्हें प्रकृति, नारी और व्यापक जीवन की ओर खींच लाया, रहस्यवादी बनाने में सहायक हुआ। उनकी जिज्ञासा-भावना ने किसी भी समय उनका साथ नहीं छोड़ा। महत्व के प्रति आत्म-समर्पण भी उनमें प्रारम्भ से बना हुआ है। पर पन्त जी का मन कल्पना-प्राण था! किशोरावस्था में तो इसका निर्वाह हो गया; परन्तु जैसे-जैसे वे बड़े हुए और ठोस जगत के सम्पर्क में आये वैसे-वैसे उनकी कल्पनाओं पर आघात हुए। पहला आघात उन्हें प्रेम में लगा—ग्रन्थि जिसका परिणाम है। व्यक्तिगत सुख से हताश होकर यह मन लोक के सुख, दुःख, दर्शन, विश्लेषण और विधान में निरत हुआ।

अपने उपास्य के प्रति पंत जी की भावना निर्दिष्ट नहीं है। 'वीणा' में दो भावनाएँ समान रूप से काम कर रहीं हैं। उस अलौकिक सत्ता को उन्होंने कहीं 'मा' माना है और कहीं प्रियतम। पर भावना की यह अनिर्दिष्टता कबीर में भी पाई जाती है। वे परमात्मा को कहीं पिता-रूप में कहीं मा रूप में, कहीं सखा रूप में और कहीं प्रियतम रूप में देखते हैं। परमात्मा लिंग-भेद से परे है; अतः उसकी धारणा किसी भी रूप में, किसी भी भाव में की जा सकती है।

मा

'वीणा' की आधी से अधिक रचनाएँ 'मा' को निवेदित हैं। यह 'मा' बहुत बड़ी मा है। विराट् विश्व की जननी है। भावों का निवेदन करने वाली बालिका बहुत छोटी है। पर बालिका के लिए मा मा ही है—वात्सल्यमयी। इन रचनाओं में एक विलक्षण प्रकार का भोलापन पाया जाता है। यह भोलापन ही इन प्रारम्भिक रचनाओं की मार्मिकता का मुख्य कारण है।

परन्तु यह बालिका सुसंस्कृत और बोधमयी है। सभी रहस्यवादियों के समान ंत ने यह माना है कि एक दिन उनमें और उनकी मा में इतना अन्तर न था। मा प्रकाश का स्रोत उषा थी और वह उसी से उत्पन्न प्रभात-बेला। पर अन्धकार बीच में आ गया। उसे काटने के लिए दीपक जलाना होगा जिससे भविष्य में मा के मुख के फिर दर्शन हो सकें—

जब मैं थी अज्ञात प्रभात—
मा! तब मैं तेरी इच्छा थी
तेरे मानस की जलजात!

तब तो यह भारी अन्तर
एक मेल में मिला हुआ था,
एक ज्योति बनकर सुन्दर;
तू उमङ्ग थी, मैं उत्पात!

अब तेरी छाया सुखमय
अन्धकार में नीरवता बन
मा! उपजाती है विस्मय,
उठ रे, उद्यत हो अज्ञात!
यह सुहाग की है प्रिय रात!

यह दीपक अपने सम्मुख धर
जिसके पीछे गिरे मोह की
छाया, अन्तर हो गोचर;
वह भविष्य होवे अवदात!

पन्त जी ने असत्-भावनाओं को जिनमें मोह, काम, अहंकार, द्रोह, छल आदि सम्मिलित हैं मा के मिलन में बाधक माना है। इनमें सबसे प्रबल शक्ति है अज्ञान की।

(क)

काला तो यह बादल है!
कुमुद कला है जहाँ किलकती
वह नभ जैसा निर्मल है,
मैं वैसी ही उज्ज्वल हूँ मा
काला तो यह बादल है।
मेरा मानस तो शशि-हासिनि!
तेरी क्रीड़ा का स्थल है
तेरे मेरे अन्तर में मा!
काला तो यह बादल है।

संसार के आकर्षण की शक्ति को पन्त ने कई प्रकार से स्वीकार किया है—

(ख)

उस छवि के मंजुल उपवन को
इस मरु से पथ जाता है,
पर मरीचिका से मोहित हो
मृग मग में दुख पाता है।

(ग)

बढ़ा और भी तो अन्तर!
जिनको तूने सुखद-सुरभि दी
मा! जिनको छवि दी सुन्दर
मैं उनके ढिग गई व्यग्र हो
तुझे ढूँढ़ने को सत्वर!

मधुबाला बन मैंने उनके
गाए गीत गूँज मृदुतर
पर मैं अपने साथ तुझे भी
भूल गई मोहित होकर ।

इस बोध के लौटते ही कवि की आत्मा विकल हो जाती है। वह मा के चरणों की निकटता के लिये फिर प्रयत्न करती है।

मा वह दिन कब आवेगा जब
मैं तेरी छवि देखूँगी ?

यहाँ पन्त जी ने प्रतिबिंबवाद का सहारा लिया है। माँ की छवि को वे सृष्टि के दर्पण में विशेष रूप से प्रकृति के दर्पण में प्रतिबिंबित देखते हैं। इसी प्रतिबिंबवाद की भावना ने उन्हें प्रकृतिवादी बनाया है। पंत की मा प्रकृतिमयी है; अतः उससे एकाकार होने के लिये पन्त ने अपने को प्रकृति के रूप में परिवर्तित कर दिया है। प्रकृति के क्रीड़ा का रहस्य अत्यन्त मधुरता से पंत की रचनाओं में चित्रित हुआ है। वे देखते हैं अन्धकार मा की छाया है, सरिता मा के लिये गीत गाती है, पपीहा मा के लिये अश्रुजल-हार गूँथ कर पुकारता है। ऐसी दशा में पन्त की आत्मा-बाला भी कह उठती है—

तुहिन-बिन्दु बनकर सुन्दर,
कुमुद किरण से सहज उतर,
मा ! तेरे प्रिय पद-पद्मों में
अर्पण जीवन को कर दूँ
इस ऊषा की लाली में

तरल तरंगों में मिलकर,
उछल-उछल कर, हिल-हिलकर,
मा ! तेरे दो श्रवण पुटों में
निज क्रीड़ा-कलरव भर दूँ—
उमर अधखिली बाली में।

वीणा की रचनाएँ गहन पुनीत अनुराग की रचनाएँ हैं। एक बालिका के हृदय में मा के प्रति जितना आर्द्र अनुराग हो सकता है, उतना इन कविताओं में पाया जाता है। यह बालिका कभी मा के रम्य रूप का ध्यान कर आह्लादित होती है, कभी उनकी शक्ति पर चकित और कभी उसके वात्सल्य का परिचय पा रो पड़ती है। अतः पन्त की इस विराट मा का परिचय है अनन्त रूप, अनन्त शक्ति, अगाध वात्सल्य! दूसरी दिशा में हैं विस्मय, आत्म-समर्पण, आँसू! कवि अनुभव करता है कि मा के गीत कभी पूरे न होंगे।

पर अब करती हूँ अनुमान
मुझमें कितना था अज्ञान!
जीवन भर भी मा! मैं पूरे
गा न सकूँगी तेरे गीत,
अपनी वाणी में स्वर भर

पर यह अनुराग की पराजय नहीं। संतोष-भरे विषण्ण स्वर में कवि की आत्मा घोषित करती है—

यह चरित्र मा! जो तूने है
चित्रण किया नयन सम्मुख,
गा न सकी यदि मैं इसको तो
मुझको इसमें भी है सुख!

वह वेला जो बतलाई थी
तूने अरुणोदय के पास,
पा न सकी यदि उसमें तुझको
मैं तब भी हूँगी न विमुख!

वे मोती जो दिखलाये थे
तूने ऊषा के बन में
उन्हें लोग यदि लें लेंगे तो
मलिन न होगा मेरा मुख!

तू कितनी प्यारी है मुझको
जननि, कौन जाने इसको,
यह जग का सुख जग को दे दे
अपने को क्या सुख, क्या दुख ?

व्यक्ति और प्रकृति दोनों का उपास्य ईश्वर ही है, यह बहुत से रहस्यवादी मानते हैं। इस तथ्य की अभिव्यक्ति 'वीणा' में पन्त जी ने यहाँ-वहाँ किस मार्मिकता से की है यह देखिए—

हां, प्यासी पी-पी ध्वनि सुनकर
पिघल पड़े थे तब घन श्याम,
पर न पपीहा तृप्त हुआ, हा !
कैसा था वह विरहानल !

वह भी उसका ही प्यासा था
जिसका पथ मैं तकती थी,
श्रवण कर चुकी थी वह केकी
जिसका नूपुर-नाद नवल ।

(२)

उषा-उदय में मधु-बाला थी
गाती तेरा गौरव-गान,
वही मधुर-स्वर चुरा आज मैं
रोने बैठी थी अनजान।

सौरभ-वेणी खोल रहा था
तेरी महिमा की पवमान,
वही आज अविरल आहों से
मैं फैलाती थी, हा प्राण !

कमल-क्रोड़ में कुमुद किरण ने
जिसे दिया था जीवन-दान,

मेरी आँखों में अटका था
ओस-विन्दु वह अति नादान।

मा के दर्शन वैभव-प्रदर्शन से नहीं होते, दीनता से होते हैं।

स्वर्ण-सौध शुचि बनवाये थे
मैंने कितने उच्च, अपार,
विप्र-बालकों ने गाये थे
तेरे गुण-गण जहां उदार!

अगणित मुद्रा दान दिए औ,
किया सभी कुछ शिष्टाचार,
किंतु वहाँ मा नहीं सुनाई
तूने निज नूपुर झन्कार!

हाय! अंत में अवनत-वदना
अश्रु-लोचना हो लाचार,
अतिशय दीना, विभव-विहीना
हो जब मैंने सर्व प्रकार,

क्षीण-क्षपाकर की छाया में
नलिनी बन, की करुण पुकार
मा! तब तूने मुझे दिखाई
अपनी ज्योतित छटा अपार!

मा-भावना की कुछ रचनाएँ पल्लव में भी हैं जैसे विनय, आकांक्षा और याचना। ये तीनों रचनाएँ वीणा-काल अर्थात् १९१८-१९ की हैं और उनका उपयुक्त स्थान वीणा में ही था।

कवि के पास जो कुछ है वह मा के निमित्त है। भक्तों में एक आकांक्षा होती है कि वे अपना शुभ ही भगवान के चरणों में अर्पण करते हैं, अशुभ नहीं; परन्तु कवि कुछ शेष नहीं रखना चाहता। जैसे वह कर्म के श्रम और

व्रत-आचार को मा का अलंकार और पूजन समझता है, वैसे ही अपनी हार को मा का हृदय-हार और जीवन के दुःख को मा की इच्छा का फल—

मा ! मेरे जीवन का हार
तेरा मन्जुल हृदय-हार हो,
अश्रुकणों का यह उपहार;
मेरे सफल-श्रमों का सार
तेरे मस्तक का हो उज्ज्वल
श्रम-जलमय मुक्तालंकार;
मेरे भूरि-दुखों का भार
तेरी उर-इच्छा का फल हो,
तेरी आशा का शृंगार;
मेरे रति, कृति, व्रत, आचार
मा तेरी निर्भयता हों नित
तेरे पूजन के उपचार !

मा पृथ्वी के प्राणियों को अनेक प्रकार के उपहार भेंट करती है। उन्हें प्राप्त कर पृथ्वी के प्राणी प्रसन्न और धन्य हो जाते हैं। मा का वरदान ही उनकी सबसे बड़ी सिद्धि है। परन्तु कवि मा के प्रति अपने अटूट अनुराग को ही सबसे बड़ी प्राप्ति समझता है। मा को जो देना है वह औरों को दे। उसे कुछ न चाहिए। ध्यान देने की बात है कि लोक-हित की भावना के बीज पन्त जी में प्रारम्भ से ही बने हुए थे। 'आकांक्षा' नाम की यह रचना उन्होंने १८ वर्ष की अवस्था में लिखी थी—

जलद-यान में फिर लघुभार
जब तू जग को मुक्ताहार
देती है उपहार रूप मा,
सुन चातक की आर्त्त-पुकार
जगती का करने उपकार

मैं न चाहती तब वह हार
करे, जननि, मेरा श्रृंगार
पर मैं ही चातकनी बन कर
तुम्हें पुकारूँ बारंबार,
हरने जग का ताप अपार !

संसार के ताप-शाप के शमन के लिए कवि केवल मा के मुख की ओर देखता हो ऐसा नहीं है। वह स्वयं उसमें अपना सक्रिय सहयोग देना चाहता है। परन्तु प्रेरणा की स्रोत है मा ही। उससे बिना बल पाये वह जैसे कुछ नहीं कर सकता—

बना मधुर मेरा जीवन !
नव नव सुमनों से चुन कर
धूलि, सुरभि, मधुरस हिम-कण
मेरे उर की मृदु कलिका में
भर दे, कर दे विकसित मन।
बना मधुर मेरा भाषण !
वंशी से ही कर दे मेरे
सरल प्राण औ सरस वचन,
जैसा जैसा मुझको छेड़े,
बोलूँ अधिक मधुर, मोहन;
रोम रोम के छिद्रों से मा
फूटे तेरा राग गहन;
बना मधुर मेरा तन, मन !

इसके उपरांत मा-भावना पन्त के काव्य में एक प्रकार से दब सी जाती है। वे प्रकृति, प्रेम, प्रगति आदि में उलझ जाते हैं। गुंजन, युगांत, युगवाणी ग्राम्या, स्वर्ण किरण, स्वर्ण धूलि और युगांतर को पार कर ३० वर्ष के उपरांत 'उत्तरा' में कवि एक बार मा को फिर स्मरण करता है। संसार में चारों ओर

वह घोर अन्धकार देखता है। मानवता का जो स्वप्न उसने देखा है वह सफल नहीं हो पाता। मा की अनन्त करुणा की ओर उसका ध्यान जाता है। वन्दना करते हुए वह कहता है—

खोलो, अन्तरमयि, खोलो
अपना स्वर्गिक वातायन,
निज स्वर्णिम आभा से भर दो
मेरा स्वप्नों का मन!
नींद घनेरी भरी दृगों में
पलकें झँप-झँप जातीं,
सुख दुख की स्मृतियाँ मानस में
मा कँप कँप लहरातीं!
घोर अँधेरी निशा घिरी अब
आओ, शुभ्र उषा बन,
खोलो, मानसि, खोलो अपना
श्रद्धा का वातायन!
दिव्य चेतना का प्रभात नव
बन उर में तेरा मुख,
मौन मधुरिमा से अंतर को
भर दे, डूबे सुख दुख!
भर जावे सूने अंतर में
नव भावों का गुंजन,
खोलो, आभामयि, खोलो
निज करुणा का वातायन!

विनय

पंत जी ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास रखते हैं। अपने इस विश्वास को अपने काव्य-ग्रंथों में उन्होंने बराबर प्रकट किया है। यदि भक्त का तात्पर्य शिव, शक्ति, राम और कृष्ण की भक्ति से है तो वे भक्त नहीं हैं। जैसे आज के

बहुत से शिक्षित व्यक्ति संसार को परिचालित करने वाली एक शक्ति में विश्वास करते हैं वैसे ही पन्त जी करते प्रतीत होते हैं। उनकी रचनाओं के अध्ययन से ईश्वर संबंधी उनकी कई धारणाओं का पता चलता है—

(१) ईश्वर है।

(२) उसमें विश्वास करने से हमें बल मिलता है और हमारा विकास होता है। संसार में नवीन जीवन लाने के लिए हमें इस आत्मिक बल और विकसित मन-बुद्धि की आवश्यकता है।

(३) उसके प्रति भाव का संबंध संभव है।

पन्त जी ने 'गुंजन' में घोषित किया था—

जग जीवन में उल्लास मुझे,
नव आशा, नव-अभिलाष मुझे,
ईश्वर पर चिर-विश्वास मुझे;
चाहिए विश्व को नव जीवन !

अपनी रचनाओं में कवि ने ईश्वर से अनेक प्रकार की प्रार्थनाएँ की हैं। प्रार्थना की है कि संसार को सुख दो, समृद्धि दो, नवीन जीवन दो; मनुष्य के स्वप्न और सत्य, ज्ञान और कर्म को संतुलित कर दो; उसमें एकता की भावना भर दो; उसे नवीन कल्पना, नवीन चेतना और नवीन सौंदर्य-बोध देकर चिर प्रगति के पथ पर डाल दो। और इसके अतिरिक्त ऐसा क्या है जो वे अपने प्रभु से मनुष्य के लिए नहीं माँगते !

(१) बरसो सुख बन, सुखमा बन,
बरसो जग जीवन के घन !

—गुन्जन

(२) यह दिशिपल का तम, इंद्रजाल
बहु भेदजन्य, भव क्लेश भार
प्रभु ! बाँध एकता में अपनी
भरदें इसमें अमरत्व सार !

—युगांत

(३) आज स्वप्न को सत्य,
सत्य को स्वप्न बना नव सृष्टि बसाओ !
निखिल ज्ञान को कर्म,
कर्म को ज्ञान बना भव मूर्ति सजाओ !
आज विश्व को व्यक्ति,
व्यक्ति को विश्व बना जग-जीवन लाओ !

सत्य बनाओ, हे,
मेरे जीवन-स्वप्नों को
सत्य बनाओ !

—युगवाणी !

(४) हों शांत जाति विद्वेष, वर्ग गत रक्त समर,
हों शांत युगों के प्रेत, मुक्त मानव अंतर।
संस्कृत हों सब जन, स्नेही हों, सहृदय, सुन्दर,
संयुक्त कर्म पर हो संयुक्त विश्व निर्भर।
राष्ट्रों से राष्ट्र मिलें, देशों से देश आज,
मानव से मानव, हो जीवन निर्माण काज।
हो धरणि जनों की, जगत स्वर्ग, जीवन का घर,
नव मानव को दो, प्रभु, भव मानवता का वर !

—ग्राम्या

जहाँ तक अपने लिए वरदान माँने का संबंध है, कवि केवल इतना चाहता है कि वह अपने को जन-सेवा के योग्य बना सके—

(१) नित्य-कर्म पथ पर तत्पर धर,
निर्मल कर अन्तर,
पर-सेवा का मृदु-पराग भर
मेरे मधु-संचय में।

—गुञ्जन

(२) संघर्षों में शांति बनूँ मैं !
घृणा उपेक्षा में रह अविचल,
निंदा लांछन से बन उज्ज्वल,
त्रुटियों से ज्योतित कर निज पथ
जन-सेवा की श्रांति बनूँ मैं !

—युगवाणी

(३) उलट रश्मियों के सतरँग घट,
रँग दो मेरा प्राणों का पट;
रँग जाए जो मेरा अंतर
गोचर तुम बन सको अगोचर,
नव्य चेतना के पावक कण
मैं कर सकूँ धरा पर वितरण !

—युगांतर

विनय संबंधी रचनाओं का एक व्यक्तिगत पक्ष है जो 'उत्तरा' में अधिक प्रस्फुटित हुआ है। प्रार्थना और विनय संबंधी कविताओं में कवि का हृदय अब फिर डूबता दिखाई देता है। 'उत्तरा' की कुछ रचनाओं में कोमलता, सरसता और भाव-मग्नता की मात्रा अधिक हो गई है। वहाँ कवि केवल अपने सम्बन्ध से ईश्वर को पुकारता है; अतः यह सीधी पुकार हृदय पर सीधा प्रभाव करती है। कुछ उदाहरण देखिए—

(१) जब जब घिरें जगत घन मुझ पर
करूँ तुम्हारा चिंतन
जो बाहर जीवन संघर्षण
जो भीतर कटु पीड़ा का क्षण
वह तुममें संतुलन ग्रहण कर
बने उन्नयन नूतन !

(२) नमन तुम्हें करता मन
हे जग के जीवन के जीवन
स्मरण तुम्हें करता मन !
अश्रु-पूत अब मेरा आनन
तुहिन-धौत वारिज के लोचन
यह मानस की बेला पावन
करता तुम्हें समर्पण।

(३) मैं मर्त्य वेणु का शून्य बाँस
तुम दिव्य साँस,
मैं छिद्र भरा निःस्वर निराश
तुम गीति लास।

प्रियतम

जिस आदि शक्ति को पन्त जी जिन दिनों मा रूप में देख रहे थे, उसी परम पुरुष को उन्हीं दिनों प्रियतम रूप में भी। दोनों प्रकार की रचनाएँ उनकी एक ही काल की अर्थात् १६१८-१६ की हैं। पिछली प्रकार की रचनाओं में भी सहारा उन्होंने प्रकृति का ही लिया। रूप का वर्णन करते हुए वे कहते हैं—

जिसकी सुन्दर छवि ऊषा है,
नव वसंत जिसका शृंगार,
तारे हार, किरीट सूर्य-शशि
मेघ केश, स्नेहाश्रु तुषार
मलयानिल मुख-वास, जलधि मन,
लीला लहरों का संसार,
उस स्वरूप को तू भी अपनी,
मृदु बाहों में लिपटा ले—
रमा अंग में प्रेम-पराग !

प्रकृति की वस्तुओं के दर्शन से हृदय में स्मृतियाँ जगती हैं और यही प्रकृति उनकी साधना में सहायक भी होती है। वृक्ष की छाया को सम्बोधन

Library Sri Pratap College.
Srinagar

करते हुए वे कहते हैं कि जैसे तुम इस तरुवर की छाया हो वैसे ही मैं भी किसी के पद की छाया हूँ; स्वर्ण दिशा को देख कर उनका हृदय प्रकाश के लिये पुकार मचाता है; अन्धकार से वे याचना करते हैं कि वह अपने काले पट में उनके मान और ईर्ष्या की भावना को छिपा ले और उन्हें भी रंगहीन (असंग) बनना सिखा दे। इसी प्रकार 'पल्लव' की छाया रचना में एक विहग बालिका का गान सुनकर वे मुग्ध होकर कहते हैं कि 'आओ, हम तुम एक दूसरे के गले लगकर अपने-अपने प्रियतम में अन्तर्धान हो जायँ।' 'वीणा' में सूर्य से वे प्रार्थना करते हैं—

हे सुवर्णमय! तुम मानस में
कमल खिलाते हो सुन्दर,
मेरे मानस में भी उसके
विकसा दो पद-पद्म अमर।

उपालम्भ का आधार भी प्रकृति ही है। वीणा की इस प्रसिद्ध रचना को देखिए जिसमें अन्वेषण, मिलन, विछोह, उपालम्भ सब प्रकृति की भूमि पर आकर एकाकार हो गए हैं—

मिले तुम राकापति में आज
पहन मेरे दृगजल का हार,
बना हूँ मैं चकोर इस बार
बहाता हूँ अविरल जल धार,
नहीं फिर भी तो आती लाज...
निठुर! यह भी कैसा अभिमान?

हुआ था जब संध्या-आलोक
हँस रहे थे तुम पश्चिम ओर,
विहग-रव बनकर मैं चितचोर,
गा रहा था गुण, किन्तु कठोर,
रहे तुम नहीं वहाँ भी शोक...
निठुर! यह भी कैसा अभिमान?

याद है क्या न प्रात की बात ?
खिले थे जब तुम बन कर फूल,
भ्रमण बन, प्राण ! लगाने धूल
पास आया मैं, चुपके शूल
चुभाये तुमने मेरे गात...
निठुर ! यह भी कैसा अभिमान ?
अभी मैं बना रहा हूँ गीत
अश्रु से एक एक लिख घात
किया करते हो जो दिन रात
बुझाते हो प्रदीप बन वात
प्राणप्रिय ! होकर तुम विपरीत...
निठुर ! यह भी कैसा अभिमान ?

यह प्रियतम-भाव वीणा से बढ़ कर पल्लव में आया। पल्लव में रहस्यवाद से सम्बन्ध रखने वाली बहुत थोड़ी रचनाएँ हैं। 'पल्लव' प्रकृति का क्रीड़ा-स्थल है। इसी प्रकृति में अपने प्रियतम को पन्त जी ने देखा है—

कभी उड़ते पत्तों के साथ
मुझे मिलते मेरे सुकुमार,
बढ़ाकर लहरों से निज हाथ
बुलाते, फिर, मुझको उस पार;
—मुसकान

'वीणा' और 'पल्लव' दोनों में प्रणय-भावना समान भूमि पर नहीं है। वीणा में निष्ठुरता के लिए उपालंभ था, पर 'पल्लव' में उपालंभ का स्थान अनुनय ने ले लिया है। इस वृत्ति के उगते ही कोमलता और करुणा का उदय स्वभावतः हो गया है—

तुम मुझे भुलादो मन से
मैं इसे भूल जाऊँगी

पर वंचित मुझे न रखना
अपनी सेवा से पावन।
—विसर्जन

वीणा में ही उस प्रियतम से अविच्छिन्न सम्बन्ध की अभिव्यक्ति हुई है—

बताऊँ मैं कैसे सुन्दर!
एक हूँ मैं तुमसे सब भाँति?
जलद हूँ मैं, यदि तुम हो स्वाति
तृषा तुम, यदि मैं चातक-पाँति?
दिखा सकता है क्या शुचि-सर
कभी अपना अनन्य समतल?
कहो क्या दर्पण ही निर्मल
दिखा सकता निज मुख उज्ज्वल
कौन हो तुम उर के भीतर,
बताऊँ मैं कैसे सुन्दर?

अध्यात्म चिंतन के कई पक्ष हो सकते हैं। एक यह कि ईश्वर में केवल विश्वास हो! दूसरा यह कि उसे एक शक्ति मान कर उससे प्रार्थना की जाय। तीसरा यह कि उससे कोई सम्बन्ध स्थापित कर उसके प्रति प्रेम का अनुभव किया जाय। प्रेमानुभूति की दो कोटियाँ हैं (१) ईश्वर को पुरुष और अपने को नारी मानना जैसे कबीर महादेवी में (२) ईश्वर को नारी और स्वयं को पुरुष समझना जैसे जायसी आदि सूफ़ियों में। ये दोनों ही कोटि के प्रेम रहस्यवाद के अंतर्गत आते हैं। पंत ने भी अपने काव्य में कहीं-कहीं उनसे प्रेम का सम्बन्ध स्थापित किया है और बड़ी कोमलता के साथ उस प्रेम की अभिव्यक्ति की है और यहीं वे एक रहस्यवादी के रूप में हमारे सामने आते हैं।

पल्लव की एक रचना में वे इस परिणाम पर पहुँचे हैं कि उनका जीवन-यान निरुद्देश्य बह रहा है। उनके जीवन-गान भी किसी को प्रभावित नहीं कर रहे। जब तक एक लक्ष्य न होगा यान और गान यों ही भटकते रहेंगे। अतः

वे सोचते हैं कि उनका प्रकाशमय पथ-दर्शक कहाँ है और कब उसके दर्शन होंगे ?

किधर ? किस ओर ? अछोर, अजान
डोलता है यह दुर्बल यान ?

मूक बुद्बुदों से लहरों में
मेरे व्याकुल गान
फूट पड़ते निःश्वास समान
किसे है हा पर उनका ध्यान !
कहाँ दुरे हो मेरे ध्रुव ?
हे पथ दर्शक ! द्युतिमान !
देव कब दोगे दर्शन दान ?

उस ओर का आभास पंत जी की 'मौन-निमंत्रण' रचना में कुछ मिलता है। कहने की आवश्यकता नहीं कि उधर के ये मौन संकेत भी प्राकृतिक तत्वों के माध्यम से व्यक्त हुए हैं। आकाश और समुद्र से, प्रभात और रात से, पावस और मधुमास से, ज्योत्स्ना और अंधकार से, जाग्रति और स्वप्नकाल से ऐसा क्या है जिससे कवि-हृदय को उनका मौन-निमंत्रण नहीं मिलता ? इस निमंत्रण के दूत हैं तारे और लहरें, ओस की बूँदें और खद्योत, विद्युत और सौरभ आदि। ये संकेत बड़े कोमल और सुकुमार हैं एवं अत्यंत संस्कृत हृदय द्वारा ही ग्रहण किये जा सकते हैं।

मौन निमन्त्रण

स्वर्ण, सुख, श्री, सौरभ में भोर
विश्व को देती है जब बोर,
विहग कुल की कल कंठ-हिलोर
मिला देती भू-नभ के छोर;
न जाने, अलस-पलक दल कौन
खोल देता तब मेरे मौन।

कनक-छाया में, जब कि सकाल
खोलती कलिका उर के द्वार,
सुरभि-पीड़ित मधुपों के बाल
तड़प, बन जाते हैं गुञ्जार;
न जाने, ढुलक ओस में कौन
खींच लेता मेरे दृग मौन।

बिछा कार्यों का गुरुतर-भार
दिवस को दे सुवर्ण-अवसान,
शून्य शय्या में, श्रमित अपार
जुड़ाती जब मैं आकुल प्राण;
न जाने मुझे स्वप्न में कौन
फिराता छाया-जग में मौन।

इस रहस्यमय के प्रति केवल जिज्ञासा-वृत्ति ही कवि की नहीं है, एक प्रकार की अनुभूति भी है। यह अनुभूति कितनी ही सूक्ष्म, कितनी ही अनिर्दिष्ट हो; पर अस्पष्ट नहीं है। कवि की आत्मा उनका परिचय पुरुष रूप में देते हुए कहती है—

न जाने कौन, अये द्युतिमान!
जान मुझको अबोध, अज्ञान,
सुझाते हो तुम पथ अनजान,
फूँक देते छिद्रों में गान
अहे सुख दुख के सहचर मौन।
नहीं कह सकती तुम हो कौन!

कह चुके हैं कि कवि के रहस्यवादी होने के मूल में अनेक बातें होती हैं। कोई धार्मिक आस्था से रहस्यवादी बनता है, कोई जीवन के दुःख से घबराकर। कुछ व्यक्ति ऐसे होते हैं जो जन्म से वैराग्यवान होते हैं और आगे चलकर रहस्यवादी बन जाते हैं। परन्तु कलाकार के लिए सबसे स्वाभाविक वह ढंग है

जो संसार के रहस्य को समझने के लिए उसे जिज्ञासापूर्ण बनाता है। 'स्वर्ण किरण' में कवि पूछता है—

यह ओसों की डाल पिरो दी
किसने जीवन के आँगन में?
हास—अश्रु की सजल ज्वाल
यह किसने फैला दी दिशि-क्षण में!
क्यों प्राणों से हरित धरित्री
किस सुख से जीवन-अणु स्पंदित?
किसकी शुभ्र किरण यह सहसा
सतरङ्ग इन्द्रधनुष में चित्रित?
किस अदम्य आकांक्षा से
अंतरतम जग का रे आंदोलित?
किसकी गति से भ्रमित, महा
नीलिमा बन गई कैसे ज्योतित?
लौट लौट आते तट छूकर
वाद विवाद शास्त्र षड् दर्शन,
सतत डूबते उतराते
सुख दुख, इच्छाएँ, जन्म औ' मरण!
श्याम, विश्व घनश्याम, गहन घनश्याम
रहस्य अनन्त चिरंतन
चिर अनादि, अज्ञेय, पार
जा पाते नहीं चक्षु, वाणी, मन!

इसी प्रकार 'युगांतर' में चकित होकर उसने प्रश्न किया—

किसकी लय में घूम घूम
बन गए स्वयं तुम भास्वर
ओ नीरव नीहार, ज्योति-पिंडों में
अगणित हँसकर!

कौन सत्य वह ? महाशून्य तुम
जिससे गर्भित होकर
महाविश्व में बदल गए
धारण कर निखिल चराचर ?
किसके बल से पचभूत ये
सतत कर्म में तत्पर ?
शब्दित नभ, चल अनिल,
द्रवित जल, दीप्त अग्नि, भू उर्वर !
कौन मृत्यु के अन्ध तमस को
अमृत स्पर्श से छूकर
स्वर्ण चेतना से भर, जग का
करता नव रूपांतर ?

—जिज्ञासा

'स्वर्ण किरण' और 'युगांतर' दोनों की रचनाओं का शीर्षक एक ही है—जिज्ञासा। परन्तु जिज्ञासा के साथ दोनों में मन की दो वृत्तियाँ काम कर रही हैं। 'स्वर्ण किरण' में कवि का कहना है कि व्यक्ति लाख प्रयत्न करने पर भी अपनी चेतना की पुकार को नहीं दबा सकता। जिस प्रकार समुद्र को तट कितना ही बाँधने का प्रयत्न करे, परन्तु जब पूर्णिमा का चन्द्र उगता है तो ज्वार के रूप में समुद्र उमड़ ही पड़ता है, इसी प्रकार मिट्टी मनुष्य को कितना ही बाँधने का प्रयत्न करे, पर उसके प्राण कभी-कभी उस महाचेतन के लिए आकुल होंगे ही।

देखिए—

इस धरती के उर में है
उस शशि-मुख का असीम सम्मोहन,
रोक नहीं पाते भू के तट
जीवन-वारिधि का उद्वेलन !

—स्वर्ण किरण

'युगांतर' में कवि प्रश्नों का शुष्क उत्तर नहीं चाहता, रहस्य से तदाकार वृत्ति के लिए आकुल है; सत्य से परिचय की नहीं, उसकी अनुभूति की माँग करता है—

इन प्रश्नों का मुझे नहीं
शब्दों में दो प्रिय, उत्तर,
तदाकार कर हृदय
सहज समझा दो हे करुणाकर !

इस स्थिति के उपरांत बुद्धि कहने लगती है—

सूक्ष्म वाष्प का यह अन्तर घन,
तेरी आभा में नव चेतन,

और फिर एक दिन जगत और जीवन के प्रति दृष्टिकोण ही बदल जाता है—

खिल उठा हृदय,
पा स्पर्श तुम्हारा अमृत अभय !
खुल गए साधना के बन्धन,
संगीत बना उर का रोदन;
क्यों रहे न जीवन में सुख दुःख,
क्यों जन्म मृत्यु से चित्त विमुख ?
तुम रहो दृगों के जो सम्मुख
प्रिय हो मुझको भ्रम, भय, संशय !
तुम सुन्दर से बन अति सुन्दर
आओ अन्तर में अन्तर-तर
तुम विजयी जो, प्रिय, हो मुझपर
वरदान पराजय हो निश्चय !

पंत का काव्य रहस्य-भावना के विकास नहीं, ह्रास की कहानी है। प्रारम्भ में उनकी सुकुमार वृत्ति जिस सौंदर्य-प्रेम के कारण अनंत सत्ता का चिंतन करने

में लीन रही, बाद में वही अन्य विषयों की ओर मुड़ी। वीणा की रचनाओं का काल समाप्त होते ही उनके जीवन में लौकिक प्रेम की एक घटना घटी जिसने उनके जीवन को झकझोर दिया। इस आघात से पंत जी आगे चलकर यद्यपि सँभल गए, पर उस चोट का आभास उनकी रचनाओं में बराबर पाया जाता है। 'पल्लव' की 'उच्छ्वास', 'आँसू' और 'स्मृति' रचनाओं में प्रेम की वैसी ही करुण कराहें बंदी हैं जैसी 'ग्रन्थि' में। 'पल्लव' में अभाव की पूर्ति कुछ प्रकृति-प्रेम से जो उनमें प्रारम्भ से ही विद्यमान है और कुछ इस विचारधारा से कि संसार में सब कुछ परिवर्तनशील है, हुई। 'गुञ्जन' में कवि यद्यपि उदास है, पर अपने दुःख से मुक्त होकर बाह्य सृष्टि पर दृष्टि डालता है और दुःख सुख में सामंजस्य स्थापित करने को उत्सुक है। वहाँ वह उदासी से उल्लास की ओर निश्चित रूप से बढ़ा है। 'गुंजन' में सौन्दर्य के कुछ चित्र बड़े रम्य हैं। मैं यह तो नहीं कहता कि प्राचीन स्मृति बिल्कुल मिट गई है, पर ऐसा लगता है जैसे कोई अन्य रूप उनकी आँखों को प्रिय लगा है। 'गुंजन' में भावी पत्नी के प्रति एक रचना है। यह भावना चाहे काल्पनिक ही हो, प्रेम की अनन्यता में बाधक है। इसी प्रकार मुग्धता की अन्य रचनाएँ भी अन्य प्रभावों की द्योतक हैं। 'युगांत' में कवि सुधारक के रूप में आता है। प्राचीन रूढ़ि-रीतियों को नष्ट कर नवीन युग लाने को वह आकुल है। इस संग्रह में भी एक रचना 'मंजरित आम्र बन छाया में' देखने योग्य है। 'वीणा' में परमात्मा का, 'ग्रंथि' में लौकिक रूप का; 'पल्लव' में प्रकृति का प्रेमी कवि रहा है। 'युगांत' में यही कवि मानवता का प्रेमी बन जाता है। 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' में समाजवाद के आधार पर मानवतावाद की प्रतिष्ठा कवि ने की है। इस प्रकार ब्रह्म से प्रकृति, प्रकृति से नारी, नारी से लोकहित तक कवि आया है अर्थात् अलौकिकता से उसका उतार बराबर लौकिकता की ओर हुआ है। अब एक प्रकार के नव चेतनावाद को कवि ने फिर अपनाया है। उसकी स्थापना है कि सुख के भौतिक साधनों को एकत्र करने के साथ ही मनुष्य को वैसी आत्मिक उन्नति की ओर भी ध्यान देना चाहिए। बाहर भीतर का विकास एक-सा होना चाहिए। इस चेतनावाद का रहस्यवाद से अभी कवि कोई सम्बन्ध स्थापित नहीं कर पाया। पर यह चेतनावाद है अध्यात्मवाद का दूसरा रूप ही है।

प्रगतिवाद

बीसवीं शताब्दी को यदि वादों की शताब्दी कहा जाय तो अत्युक्ति न होगी। राजनीति, दर्शन और साहित्य—सभी कहीं हम वादों की भरमार पाते हैं। किसी काल विशेष के साहित्य की यदि हम परीक्षा करें तो पायेंगे कि उसमें कुछ सिद्धान्त सामान्य रूप से लागू होते हैं। प्रायः ऐसा होता है कि उन सिद्धान्तों के पीछे कोई न कोई दार्शनिक वाद होता है। भक्तिकाल, रीतिकाल और छायावादी काल की कविता के मूल में विशिष्टाद्वैतवाद, भौतिकवाद और अद्वैतवाद हम पायेंगे। इसी प्रकार आज की प्रगतिवादी कविता के पीछे भी एक दार्शनिक वाद काम करता है।

राजनीति में जो मार्क्सवाद है, साहित्य में वही प्रगतिवाद है। प्रगतिवाद मार्क्सवाद का साहित्यिक रूप है। मार्क्सवाद का एक दर्शन है उसे द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद (Dialectical Materialism) कहते हैं। इसी के आधार पर मार्क्सवाद एक सामाजिक व्यवस्था में विश्वास करता है। उसे साम्यवाद कहते हैं। अर्थात् मार्क्सवादी दर्शन का नाम है द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद और व्यवस्था का नाम है साम्यवाद। द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद को वैज्ञानिक भौतिकवाद भी कहते हैं। उसका कारण यह है कि मार्क्स जिस भौतिकवाद में विश्वास रखते थे वह काल्पनिक नहीं था, उसका आधार विज्ञान है।

दर्शन का कार्य है जीवन की व्याख्या करना। परन्तु जीवन की एक व्याख्या ऐसी होती है जो केवल आदर्शात्मक, काल्पनिक या सैद्धान्तिक हो; एक व्याख्या ऐसी होती है जो यथार्थवादी, सत्य और व्यावहारिक हो। मार्क्स दूसरे प्रकार की व्याख्या में विश्वास करते थे। अद्वैतवादी दर्शन के विरोध में इस दर्शन को और भी स्पष्ट रूप से समझा जा सकता है। अद्वैतवादी एक व्यापक आत्मतत्त्व को ही एकमात्र सत्ता मानते हैं और संसार को स्वप्न के समान मिथ्या घोषित करते हैं। उनकी दृष्टि से पदार्थ (Matter) असत्य

Library Sri Pratap College.
Srinagar

है, चेतना (Spirit) सत्य। इसके विपरीत मार्क्स का विश्वास है कि यह वस्तु-जगत सत्य है। इसमें जो कुछ भी होता है उसका एक कारण होता है अर्थात् संसार कार्य-कारण की शृङ्खला से बद्ध है और कार्य-कारण की शृंखला को वैज्ञानिक ढङ्ग पर स्पष्ट किया जा सकता है। यदि हम किसी कार्य का कारण न बतला सकें, तो यह हमारे ज्ञान की कमी है। परन्तु किसी कार्य का कोई अलौकिक कारण नहीं होता। अलौकिकता को उड़ा देने से अध्यात्मवादियों और वैज्ञानिक भौतिकवादियों के दृष्टिकोण में सब से बड़ा अन्तर हुआ यह कि जहाँ अध्यात्मवादी संसार को मिथ्या बतलाकर उससे विरक्ति उत्पन्न करते हैं, वहाँ वैज्ञानिक भौतिकवादी संसार को सत्य सिद्ध करके उसके प्रति अनुरक्ति जगाते हैं और इस प्रकार जीवन को वे अधिक जीने योग्य बनाते हैं।

पदार्थ और चेतना के प्रश्न पर मार्क्सवाद का अध्यात्मवाद से इतना भिन्न और विरोधी दृष्टिकोण है कि हमारे प्राचीन संस्कारों को वह एक दम झकझोर देता है। चेतना को मार्क्सवादी किसी स्वर्गलोक से आयी अलौकिक शक्ति नहीं मानते और न यही मानते हैं कि वस्तु जगत है ही नहीं और पदार्थ मनुष्य के मन की कल्पना की उपज है। इसके विपरीत उनका विश्वास है कि अपनी इन्द्रियों से हम जैसा अनुभव करते हैं, हमारी चेतना वैसी ही बनती है। अपने चारों ओर के संसार को हम झुठला नहीं सकते। मस्तिष्क में वे ही विचार आकर एकत्र होते हैं जिन्हें हमारी इन्द्रियाँ वस्तुओं से ग्रहण कर उस तक पहुँचाती हैं। अतः अध्यात्मवादियों के निकट चेतना है मुख्य वस्तु, भौतिक जगत है गौण; वैज्ञानिक भौतिकवादियों के निकट भौतिक जगत हुआ मुख्य वस्तु, चेतना हुई गौण। भौतिकवादी मन बुद्धि आदि को भी भौतिक पदार्थों का एक विकसित रूप मात्र मानते हैं। यहीं से दोनों के दृष्टिकोण में एक दूसरा अन्तर उत्पन्न होता है और वह यह कि जो जानने योग्य जगत था उसे तो अध्यात्मवादियों ने जाना नहीं और जो अज्ञेय (ईश्वर) है उसके पीछे पड़ गए। जब चेतना को ही भौतिकवादी पदार्थ का परिवर्तित रूप मानते हैं तब महाचेतन, ब्रह्म या ईश्वर को मानेंगे यह कैसे सम्भव है! अतः अध्यात्मवादी मार्क्सवादियों को नास्तिक कहें तो कह सकते हैं। विज्ञान के विकास के साथ अलौकिक शक्तियों में मनुष्य के विश्वास का कम होना

स्वाभाविक है। सम्भव है उसका अपनी शक्ति में विश्वास होना। 'प्रसाद' तो आस्तिक थे। परन्तु इड़ा सर्ग में जब इड़ा जो बुद्धि का प्रतीक है, दुःख का विश्लेषण करती हुई उसका समाधान प्रस्तुत करती है, तब निश्चित रूप से वह भी इस संसार को सत्य मानती है। मनुष्य की शक्ति की विजय की घोषणा करती हुई, ईश्वर है या नहीं, उस ओर से वह पीठ फेरने की बात कहती है—

हाँ, तुम ही हो अपने सहाय
जो बुद्धि कहे उसको न मानकर फिर किसकी नर शरण जाय
जितने विचार संस्कार रहे उनका न दूसरा है उपाय
यह प्रकृति परम रमणीय अखिल ऐश्वर्य भरी शोधक विहीन
तुम उसका पटल खोलने में परिकर कसकर बन कर्मलीन
सबका नियमन शासन करते बस बढ़ा चलो अपनी क्षमता
तुम ही इसके निर्णायक हो, हो कहीं विषमता या समता
तुम जड़ता को चैतन्य करो विज्ञान सहज साधन उपाय
यश अखिल लोक में रहे छाय

—कामायनी

'द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद' में द्वन्द्व शब्द का क्या अर्थ है ? भौतिकवादियों का विश्वास है कि दो विरोधी तत्वों के संघर्ष से विकास होता है। दो के इस संघर्ष में एक की विजय होती है। परन्तु संघर्ष का अन्त यहीं नहीं हो जाता। विजयी तथ्य को फिर किसी नवीन तथ्य से संघर्ष करना पड़ता है और इस प्रकार विकास के पथ में यह संघर्ष चलता ही रहता है। इस संघर्ष का परिणाम यह होता है कि प्रकृति श्रेष्ठ से श्रेष्ठतर और श्रेष्ठतर से श्रेष्ठतम वस्तुओं को उत्पन्न करती चली जा रही है। सूक्ष्म दृष्टि से देखें तो प्रकृति के कण-कण में इस संघर्ष और विकास के लक्षण पाये जाते हैं। संघर्ष ही जीवन है। प्रकृति के क्षेत्र में इस सत्य को डार्विन ने अपने विकासवाद के सिद्धान्त द्वारा प्रमाणित किया है। जिस प्रकार प्रकृति के जीवन में उसी प्रकार समाज के जीवन में भी

धीरे-धीरे विकास हुआ है। अपने व्यापक और सूक्ष्म अध्ययन से मार्क्स इस परिणाम पर पहुँचे थे कि समाज का इतिहास वर्ग-संघर्ष का इतिहास है। इस तथ्य से तो सभी अवगत हैं कि मनुष्य जाति किस प्रकार आखेट युग से पशुपालन युग, पशुपालन युग से कृषियुग, कृषि युग से सामन्ती प्रथा के युग और सामन्ती प्रथा के युग से औद्योगिक क्रान्ति के युग के उपरान्त पूँजीवादी युग में प्रवेश करती है। मनुष्य अधिकतर अपनी स्थितियों की उपज है; अतः समाज के विकास में सम्भव है पिछली स्थितियाँ अपने काल में पिछले काल की अपेक्षा प्रगतिशील रही हों। परन्तु आज पूँजीवाद के दुष्परिणाम इतने प्रत्यक्ष हैं कि उन्होंने मानव जाति को स्पष्टरूप से पूँजीपति और सर्वहारा वर्ग दूसरे शब्दों में शोषक और शोषित वर्ग में विभाजित कर दिया है। इसी से लोक कल्याण के लिए अब यह आवश्यक हो उठा है कि पूँजीवादी प्रथा का अन्त होकर एक वर्गहीन समाज की स्थापना सारे संसार में हो। मार्क्स का यही स्वप्न था।

यहाँ एक बात स्पष्ट कर देनी चाहिये। यद्यपि मार्क्स ने इस बात पर बहुत जोर दिया है कि मनुष्य सामाजिक प्राणी है और समाज के आर्थिक ढाँचे पर समाज का बनना या बिगड़ना निर्भर करता है; परन्तु इससे यह न समझना चाहिये कि मार्क्स केवल एक अर्थशास्त्री थे। उनकी साधना की महत्ता इस बात में निहित है कि उन्होंने एक ऐसा व्यावहारिक सार्वभौम जीवन-दर्शन हमें दिया, जो अधिक से अधिक लोक-कल्याण का मूल बन सकेगा। उसे स्वीकार करने में सम्भव है हमारे बहुत से संचित संस्कारों को गहरा आघात लगे। परन्तु एक तो समय के साथ संस्कार बदलते रहते हैं, दूसरे मनुष्य की प्राथमिक आवश्यकताओं—भूख और काम—की स्वाभाविक पूर्ति के उपरान्त भविष्य के मनीषी मार्क्सवाद में सुधार करेंगे। यह सुधार भौतिकता और अध्यात्म के ऐसे संस्कृत गठ-बन्धन के रूप में होगा जिससे पूर्व और पश्चिम मिलकर एक हो जायँ—पृथ्वी एक परिवार में परिणत हो जाय। इस समय पहली आवश्यकता है पूँजीवादी प्रथा को मिटाकर पूँजीवाद से उत्पन्न हा-हाकार को शान्त करना। यह काम छोटा काम नहीं है। यह देवताओं का असुरों से, प्रकाश का अन्धकार से संग्राम है। देवता का अर्थ है वास्तविक मनुष्य और प्रकाश का अर्थ है

मानवता। और मानव को मानवता से अभिषिक्त करना ही मार्क्सवाद या प्रगतिवाद का मुख्य लक्ष्य है।

युगारम्भ

किसी काल की अवधि निश्चित करना एक कठिन काम है। प्राचीन काल के समाप्त होते-होते एक नवीन काल प्रारम्भ होने पर भी प्राचीन काल की प्रवृत्तियाँ कुछ दूर तक साथ चलती ही रहती हैं। फिर भी सन् १८५० से लेकर १९५० ई० के पिछले १०० वर्ष के साहित्यिक इतिहास को हम चार कालों में विभक्त कर सकते हैं :

(१) हरिश्चन्द्र युग सन् १८५० से १९०० ई० तक
(२) द्विवेदी युग सन् १९०० से १९१५ ई० तक
(३) छायावादी युग सन् १९१५ से १९३५ ई० तक
(४) प्रगतिवादी युग सन् १९३५ से ......

यद्यपि महादेवी जी की दीपशिखा सन् १९४२ में प्रकाशित हुई और संभव है भविष्य में उनका एकाध काव्य-ग्रंथ और भी प्रकाश में आवे; पर पंत के युगांत की रचनाओं का काल एक प्रकार से प्रगतिवाद के सूत्रपात का काल है। युगांत का प्रकाशन सन् १९३६ में प्रथम बार हुआ। आश्चर्य की बात है छायावाद के एक स्तंभ प्रसाद की कामायनी भी उसी वर्ष प्रकाशित हुई। अखिल भारतीय प्रगतिशील लेखक संघ का प्रथम अधिवेशन भी उसी वर्ष हुआ। कामायनी के उपरांत प्रसाद जी की तो (सन् १९३८ में) जीवन-लीला ही समाप्त हो गई। निराला पहले से ही विद्रोही कवि के रूप में प्रसिद्ध थे। पंत प्रगतिवाद की ओर झुक ही गए थे। इस प्रकार छायावाद के चार स्तंभों में से अकेली महादेवी अपनी दिशा में बढ़ती रहीं।

पिछले बीस वर्ष

यदि पिछले बीस वर्षों का हिसाब हम प्रगतिवादियों से माँगें तो उनके कोष में कुछ नहीं मिलता। सन् ४३ में जब हंस का प्रगति-अंक प्रकाशित हुआ तो उसमें हिंदी की केवल तीन कविता-पुस्तकों के नाम गिनाए गए—दो थीं पंत जी की 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' और एक थी नरेन्द्र शर्मा की 'लाल निशान'।

संभव है अब दो-एक पुस्तकों को वे और गिना सकें। पंत जी को जो मूलतः छायावादी कवि हैं हम छोड़ दें तो कहना होगा कि प्रगतिवाद ने अभी कोई महान् कवि नहीं उत्पन्न किया। इस समय पंत जी तो प्रगतिवाद के क्षेत्र से हटकर स्वतंत्र चिंतन कर भी रहे हैं। इसी प्रकार कथा-साहित्त के क्षेत्र में से यदि हम प्रेमचंद जी का नाम हटा दें, क्योंकि वे मूलतः गांधीवादी थे, तो कहना होगा कि प्रगतिवाद ने कोई बड़ा साहित्यिक भी स्वतंत्र रूप से अभी उत्पन्न नहीं किया। यही नहीं, अभी उनके पास कोई ऐसा प्रामाणिक समीक्षा ग्रंथ भी नहीं है जिसके द्वारा वे अपनी बात समझा सकें।

प्रगतिवादी आलोचक

प्रगतिवादी आलोचकों में तीन व्यक्तियों के नाम लिए जा सकते हैं (१) श्री प्रकाशचंद्र गुप्त (२) डा० राम विलास शर्मा और (३) श्री शिवदान सिंह चौहान। यह बात तो स्वीकार करनी पड़ेगी कि ये तीनों ही हृदय से—पुरानी प्रथा की शब्दावली के अनुसार मन, वचन, कर्म से—प्रगतिवादी हैं। प्रकाशचंद्र गुप्त की आलोचक के रूप में शक्ति बड़ी सीमित है। किसी बात को गहराई से पकड़ने और सूक्ष्म विश्लेषण करने की क्षमता उनमें अधिक नहीं है। उनमें उत्साह अधिक है, साहित्यिकता कम। पंत की 'युगवाणी' पर उनकी समीक्षा देखिए—

'युगवाणी' की पृष्ठभूमि में साम्यवाद का विशाल पट है। 'मार्क्स के प्रति' 'भूत दर्शन', 'साम्राज्यवाद' 'समाजवाद गांधीवाद' आदि कविताएँ गंभीर मनन और चिंतन का फल हैं। भविष्य के समाज में यह 'टेक्स्ट बुकों' में शायद रखी जावें।

अर्थात् प्रकाशचन्द्र जी अच्छी कविताओं का गुण समझते हैं, उनका टेक्स्ट बुकों में रखा जाना !

इसी प्रकार दो बातें उनमें और भी पाई जाती हैं। एक ओर जो उनके मत के अनुसार नहीं लिखता उसके सम्बन्ध में आँख मीचकर आलोचना करते हैं और दूसरी ओर जिससे कभी प्रगतिवादी पक्ष के पुष्ट होने की

सम्भावना का भ्रम भी रहता है उस पर प्रशंसा का आकर्षण-जाल फेंकते हैं। महादेवी और बच्चन के सम्बन्ध में उनकी धारणाएँ देखिए—

(१) यह (महादेवी जी के गीतों की) अतिशय मिठास और पीड़ा आधुनिक हिन्दी काव्य के आरम्भिक क्षय-चिह्न न हों।

(२) प्रगति की ओर जाते हुए इस कवि (बच्चन) से हिन्दी को बड़ी-बड़ी आशाएँ हो रही हैं।

जिस प्रकार प्रकाशचन्द्र गुप्त प्रगतिवाद की संवर्द्धना के लिए नए लेखकों को सारहीन प्रशंसा का लोभ दिखाते हैं, उसी प्रकार डा० रामविलास का स्वभाव है साहित्यकारों को आतंकित करने का प्रयत्न करना। वे एक दिन जिस लेखक को आसमान पर चढ़ा देते हैं, दूसरे ही दिन उसे पृथ्वी पर पटक देते हैं।

अपने एक लेख में हिन्दी के आलोचकों पर अपने विचार प्रकट करते हुए विरोधी दल वालों पर तो उन्होंने आक्षेप किए ही हैं, श्री प्रकाशचन्द्र गुप्त को भी अछूता नहीं छोड़ा है। उन पर उनकी सम्मति देखिए—

"प्रकाशचन्द्र गुप्त काफ़ी अर्से से प्रगतिशील आदर्शों के अनुसार हिन्दी साहित्य का मूल्यांकन करते रहे हैं। आदर्शों में मतभेद होते हुए भी उनके मूल्यांकन से मैं सब कहीं सहमत नहीं हो पाता और मुझे ऐसा लगता है कि पन्त जी की भाँति उनके हृदय में कुछ 'कोमल-कोमल' है जो उन्हें ओजगुण से प्रसाद गुण की ओर अधिक ले जाता है। फिर भी वे जिस तरह अपनी आलोचना से किसी को रुष्ट नहीं करते, अपनी सज्जनता की मधुर छाप से अपने लेखों को भी मधुर बना देते हैं और जिसका भी विरोध करना होता है, उसे पहले प्रशंसा से खुश कर देते हैं—इन सब बातों को देखकर मुझे उनसे ईर्ष्या होने लगती है।"

और इधर 'नया सवेरा' के एक अंक में एक पूरा लेख ही उन्होंने शिवदानसिंह चौहान के विरोध में घसीट दिया है।

लेख को पढ़कर लगता है डा० रामविलास लेख लिखने से पहले अपने को क्रोध या आवेश की स्थिति में कर लेते हैं। लेखकों के लिए वे जैसे शब्दों का प्रयोग करते हैं उनसे उनके सम्बन्ध में कोई अच्छी धारणा नहीं बँधती। इस लेख में ही लेखक के लिए ढोंगी, निकम्मा, टुकड़खोर, पिछलगुआ, टुटपुँजिया

आदि शब्दों का प्रयोग उन्होंने किया है जो बड़ा भद्दा लगता है। लगता है कि शिष्टता और सभ्यता से रामविलास का कभी कोई सम्बन्ध नहीं रहा। सम्भव है संसार जिसे शिष्टता और सभ्यता समझता है उससे पूँजीवादियों का सम्बन्ध समझ कर रामविलास ने अपना सम्बन्ध सदैव के लिए तोड़ लिया हो। इस लेख में शिवदानसिंह को उन्होंने 'गद्दार' तक कह दिया है और मोटे अक्षरों में लिखा है : 'साहित्य की परख' मार्क्सवाद के दुश्मन का लिखा हुआ लेख है।*

चौहान के लेखों से जो उद्धरण दिए गये हैं वे संदर्भ से उखाड़ कर और उनका तात्पर्य सोलह आने वह नहीं है जो रामविलास बतलाते हैं। शिवदानसिंह न प्रेमचन्द का अपमान करने की बात सोच सकते हैं और न गोर्की का। मुझे ऐसी आशंका होती है कि रामविलास शर्मा आलोचना के क्षेत्र में किसी का यश नहीं सहन कर सकते। कुछ भी हो हिन्दी के साहित्यिक डिक्टेटर वे शायद ही बन पायें।

उनकी आलोचना का एक नमूना देखिए—

"चौहान के आलोचना-सिद्धान्त अमल में किस तरह आते हैं उसकी एक मिसाल यह है कि 'अश्क' का उपन्यास 'गिरती दीवारें' उन्हें हिंदी का सबसे महान् यथार्थवादी उपन्यास दिखाई देता है। 'प्रतीक' (६) में उन्होंने अश्क को—जिनके नाम का मतलब आँसू है और जो यथा नाम तथा गुण रचनाएँ करते हैं—चौहान ने ऊपर उठाकर प्रेमचंद और गोर्की के बराबर बिठा दिया है। इससे बड़ा अपमान उन दो महान् लेखकों का नहीं हो सकता।

"इसमें अचरज क्या कि अश्क के यथार्थवाद को बिड़ला का लीडर प्रेस भी पसंद करता है; उसे छापता है। अज्ञेय का अख़बार उसकी तारीफ़ें छापता है और चौहान उसे गोर्की और प्रेमचंद के जोड़ का बता कर उस पर चार चाँद लगा देते हैं।

---

* इधर कुछ वर्षों से चौहान ने भी डा० रामविलास शर्मा को 'कुत्सित समाजवादी' कह कर उनके विचारों की जो आलोचना की है, विश्वास है, उसे पढ़कर उनकी तबियत खुश हो गई होगी।

"अपने क्रांतिविरोध का सबूत देकर चौहान ने बुर्जुआ मनोविज्ञान की माला जपना शुरू की। मार्क्सवाद अधूरा है, उसे बुर्जुआ मनोविज्ञान से मिलाकर भरापूरा बनाओ यानी साहित्य का लड़ाकू वर्गरूप ख़त्म कर दो, साहित्य को गैरज़ानिबदार बनाओ, वर्ग-संघर्ष में निर्लिप्त और निस्संग रहो, चौहान ने पूँजीवाद के पढ़ाये हुए तोते की तरह यह रट लगानी शुरू की। रूप के नाम पर छायावादी विचार-वस्तु की हिमायत की और आख़िर में अश्क जैसे टुटपुंजिया लेखक को गोर्की और प्रेमचंद के बराबर बिठाया। प्रगतिशील लेखकों का मोर्चा कमज़ोर करने के लिए चौहान ने यह नारा उठाया कि कलाकार स्वभावतः प्रगतिशील होता है और कला आत्म-सिद्धि की प्रवृत्ति का परिणाम है।"

एक छोटे से प्रसंग में रामविलास ने अकारण कितने व्यक्तियों को घसीट लिया है—बिड़ला, अश्क, अज्ञेय, चौहान, प्रेमचंद, गोर्की। बिड़ला प्रकाशक हैं, अश्क लेखक, अज्ञेय संपादक, चौहान समालोचक, प्रेमचंद और गोर्की प्रगतिवादी साहित्यिक, अर्थात् कहीं एक पूँजीपतियों का दल (Clique) है। उसमें यह तय हुआ कि अश्क एक उपन्यास लिखें, बिड़ला उसे छापें, अज्ञेय उसका प्रचार करें और चौहान उस पर आलोचना लिखें और इस प्रकार प्रेमचन्द और गोर्की को छोटा सिद्ध किया जाय ! उफ़ !

'अश्क जिनके नाम का मतलब आँसू है'—इसका उत्तर मैं क्या दूँ ? सिवाय इसके कि 'राम विलास' के नाम में भी दो शब्द हैं 'राम' और 'विलास'। एक का संबंध धर्म से है जिसे प्रगतिवादी अफ़ीम का नशा समझते हैं और दूसरे का अर्थ भोग है !

इस प्रकार की विवेकहीन आलोचनाओं की प्रतिक्रिया बड़ी भयानक होती है। अति का उत्तर सदैव अति से मिलता है जिसका परिणाम कभी शुभ नहीं होता। प्रगतिवादियों के सम्बन्ध में औरों की क्या धारणा है इसका परिचय 'संगम' में प्रकाशित इस लेख से मिलेगा।

"सन् ४६ आया और चल दिया। युद्ध के बाद से हमारी साहित्यिक दुनिया में जहाँ एक दिशा में काफी गतिरोध रहा, वहाँ दूसरी दिशा में काफी अराजकता और अव्यवस्था रही। लेकिन जो सबसे महत्वपूर्ण काम किया है सन् ४६ ने, वह यह कि उसने प्रगतिवादी आंदोलन का पर्दा फाश कर दिया है।

"जो कम्यूनिस्ट गुट पिछली एक शताब्दी से बैन्ड बजा बजा कर कभी इस ओर कभी उस महान् लेखक पर कीचड़ उछालता रहा है, जिसने अवसर के अनुसार कभी निराला, कभी पन्त और कभी महादेवी के चरण चूमे, जिस गुट ने हमारे राष्ट्रीय इतिहास की सबसे संकटपूर्ण घड़ियों में, सन् ४२ में हमारे महान् जनवादी आंदोलन की पीठ में छुरा भोंक दिया और भारतीय शहीदों के गर्म खून से पहले हिटलर और फिर चर्चिल के सहयोगी स्टालिन की निर्लज्ज प्रशस्तियाँ लिखीं, जिसने एक विदेशी राष्ट्र के इशारे पर नाच-नाच कर कठपुतलियों को भी मात कर दिया, आज उस प्रगतिवादी महफिल की रंगत उतर गई है, उसकी रौनक उड़ गई है और अब सिवा भिनभिनाती हुई मक्खियों के वहाँ किसी की भी आवाज नहीं सुनाई पड़ती। प्रगतिवाद पर युग का इससे बड़ा निर्णय क्या होगा कि युग ने उनके स्वयं संचालित बैंड की १० वर्ष में ही इतनी भी कीमत न आँकी जितनी कि एक टीन के पुराने कनस्तर की होती है।

"जैसे एक पागल कुत्ता कभी-कभी खिसियाकर अपनी ही पूँछ नोचने के लिए नाचने लगता है, वैसे ही इन प्रगतिवादियों ने अपने ही पन्न वालों को हाथ नचा-नचा कर गालियाँ देनी शुरू कीं। सबसे पहला वार हुआ पंत जी पर। पन्त जी के उस कैंप में जाने से लोगों को आश्चर्य हुआ था; परन्तु पन्त जी की सरलता से जो लोग अवगत थे, वे जानते थे कि कैसा जाल बिछाया गया था। और बाद में उनके शिकंजे को पन्त जी के लिए बर्दाश्त करना असम्भव हो गया। जब पन्त जी की 'स्वर्ण किरण' और 'स्वर्ण धूलि' आईं, तो हंस ने अपनी परम्परामय गाली की उन पर बौछार की। नरेन्द्र तो पहले ही निर्वासित थे। 'नया साहित्य' के प्रथम अंक में ही अज्ञेय जी पर प्रहार हुआ। उसके बाद माचवे और अंचल आदि पर कृपा-दृष्टि हुई। लेकिन एक गहरा धक्का लोगों को तब लगा जब मालूम हुआ कि रांगेय राघव भी प्रतिक्रियावादी घोषित कर दिए गए हैं। ग्रीष्मावकाश में अलमोड़े पर प्रगतिवाद के बड़े-बड़े विद्वान एकत्रित हुए और मैदानों की शिद्दत की गर्मी से दूर, हिमालय के शीतल झोंकों में, स्वर्ग का आनन्द लूटते हुए प्रगतिवादियों ने खानों में मरते हुए मजदूरों के हित-संरक्षण का ध्यान कर कुछ और प्रगतिवादी (अब प्रति-

क्रियावादी) लेखकों पर कुल्हाड़ा उठाने का निश्चय किया—वे थे अश्क, यशपाल और चौहान !

"इस महान सांस्कृतिक अभियान के रणबाँकुरे सेनापति हैं डा० रामविलास शर्मा जिन्हें लखनऊ के प्रसिद्ध स्थलों की विशुद्ध जनभाषा में गाली-गलौज करने में महारत हासिल है। इस रूसी-हिन्दी डौनक्विजोट के साथ तीन बाँके सिपहिया हैं। नागार्जुन जी, जिनके एक नवीनतम उपन्यास में आपको वह सब मिल जायगा जिसके लिये आज से बहुत पहले ऑस्कर वाइल्ड को जेल हो गई थी। दूसरे हैं श्री अमृतराय जी और तीसरे हैं श्री प्रकाशचन्द्र गुप्त। प्रकाश जी ने अपने एक लेख में यशपाल के विरुद्ध लिखते हुए सलाह दी है कि नारी-समस्या का चित्रण करने के पहले एंगेल्स की 'परिवार की उत्पत्ति' नामक पुस्तक पढ़नी चाहिए। लेकिन शायद प्रकाश जी यह भूल गये थे कि जिस मार्क्सवादी साहित्य का अध्ययन उन्होंने अपने बड़े से बँगले में गद्देदार कोच पर लेटकर किया, उसी मार्क्सवाद का अध्ययन यशपाल ने जेल की गंदी और सीली हुई कोठरियों में किया था। रामविलास शर्मा, नागार्जुन, अमृतराय और प्रकाशचन्द्र के अलावा पाँचवें सवारों में नाम लिखाने के लिये पहाड़ी जी तो बेहद आकुल हैं।"

—धर्मवीर भारती

हो सकता है ड० रामविलास शर्मा किसी दिन इन चारों को भी प्रतिक्रियावादी बतला कर मैदान में अकेले रह जायँ, पर इस प्रकार का साहित्यिक वहिष्करण (purge) चाहे वह वाद की शुद्धता के बहाने किया जाय, साहित्य के विकास के लिये हानिकारक सिद्ध होगा। प्रकाशचंद्र जी यदि किसी को पुलकित नहीं करते तो भड़काते भी नहीं। उनमें एक गुण और है। विरोधी दल की आलोचनाओं पर वे एकांत में विचार करते हैं और धीरे-धीरे अपने विरोध के स्वर को कोमलतर करते हुए सामंजस्य की ओर बढ़ रहे हैं। उनका हृदय भीतर-भीतर उन सारी विवेकपूर्ण बातों को स्वीकार करता है जिन्हें दल की दलदल में फँसे विवादी लोग स्वीकार नहीं करते। नीचे मैं बिहारप्रांतीय प्रगतिशील लेखक सम्मेलन पटना के द्वितीय वार्षिक अधिवेशन में सभापति के पद से दिये गये उनके भाषण का विशिष्ट अंश

उद्धृत करता हूँ। इन धारणाओं से शायद ही किसी विचारशील साहित्यिक का मतभेद हो—

"प्रगतिशील लेखक संघ केवल मार्क्सवादी लेखकों का संघ नहीं है। यह उन सभी लेखकों का संघ है जो सामाजिक हित के लिये अस्त्र उठाने को तैयार हैं। हम प्रगतिशील-लेखक साहित्य को जीवन का दर्पण ही नहीं मानते, उसे बदलने का साधन भी समझते हैं। जो अमानत हमें पूर्वजों से मिली है, उसकी हम रक्षा ही नहीं करेंगे, श्री-वृद्धि भी करेंगे।

"प्रगतिशीलता हमारे साहित्य की परिस्थितियों की माँग है। हमारी साहित्यिक परंपरा का ही वह स्वाभाविक विकास-क्रम है। हिंदी के संत-कवि जनता के कवि थे और उसका दुःख दर्द अपने काव्य में व्यक्त करते थे। हिंदू-मुसलमान का भेद, दारिद्र्य, अमीर गरीब का अन्तर वे मिटा देना चाहते थे। इसी प्रकार तुलसीदास कलिकाल का आचरण अपने युग में देखते हैं और दुःख और दरिद्रता के दशानन का वध चाहते हैं। रीति-काल के कवि दर्बारी कवि थे; अतएव जनता के दुःख दर्द से उनका विशेष नाता न था। पर भारतेन्दु-युग के कवि अपने सामाजिक दायित्व के प्रति सचेत हैं। विदेशी शोषण का तीव्र स्वर में वे विरोध करते हैं। भारतेंदु ने प्रगतिशीलता की परंपरा में राष्ट्रीयता और यथार्थवाद जोड़े। इसी भूमि पर आधुनिक प्रगति-वाद की इमारत खड़ी हुई। द्विवेदी-युग के राष्ट्रीय कवियों ने इस परंपरा को विकसित किया और छायावाद ने उसको रूप-रंग से पुष्ट किया। राष्ट्रीय कविता के इतिहास में 'भारत दुर्दशा' के बाद 'भारत-भारती' (मैथिलीशरण गुप्त) का नाम आता है। इस बीच अनेक कवियों ने देश-भक्ति की कविताएँ लिखीं, किंतु 'भारत-भारती' एक मील-स्तंभ है। उसके पीछे सन् २० की राष्ट्रीय हल-चल है। कवि भारत के अतीत गौरव को याद करता है, उसकी वर्तमान दुरवस्था पर आँसू बहाता है और भविष्य-निर्माण के लिये उसे उत्साहित करता है। यही भावना निखरकर और पुष्ट होकर 'पंत' के परिवर्तन में व्यक्त हुई है। 'प्रसाद' के नाटकों में भी हमें यही अपार देश-प्रेम मिलता है। राष्ट्रीय आंदोलन में बल और वेग आने पर सामाजिक चेतना भी प्रबल होने लगी। यही भावना प्रेमचन्द के उपन्यासों में काम कर रही है। उनके उपन्यास

सामाजिक क्रांति की चुनौती है। स्वयं क्रांतिकारी साहित्य लिखकर ही वे सन्तुष्ट न हुए, अन्य साहित्यकारों को भी वे सामाजिक क्रांति के आंदोलन में लाना चाहते थे। यह आदर्श प्रगतिशील लेखक संघ के मूल में था। प्रगतिवाद ने अनेक पुराने लेखकों को हाथी दाँत के मीनारों से बाहर निकाला और अनेक नए लेखकों को आगे बढ़ने की प्रेरणा दी। तरुण लेखकों में नरेन्द्र शर्मा, यशपाल, दिनकर, शिवदानसिंह चौहान, रामविलास शर्मा, सुमन, पहाड़ी, अंचल, अमृतराय, रांगेय राघव आदि के नाम हमारे सामने आते हैं। इन्होंने अपने लेखों, गीतों और कहानियों से राष्ट्र का साहित्यिक मोर्चा पुष्ट किया, नये और पुराने शत्रुओं से टक्कर लेने में देश की मदद की।"

—प्रकाश चन्द्र गुप्त

पर डा० रामविलास शर्मा एक-एक व्यक्ति को चैलेंज करते फिरते हैं और व्यक्तिगत अशोभन आक्षेपों पर उतर आते हैं। उनके इधर के लेखों को पढ़कर मेरी निश्चित धारणा हो गई है कि यदि वे अपना ढंग नहीं बदलते तो साहित्यिक आलोचना के लिये एकदम अनुपयुक्त सिद्ध होंगे। भविष्य में प्रगतिवाद के लिये उनकी सबसे बड़ी सेवा यही होगी कि वे शांत रहें।

आलोचक की स्थिति में तीनों में श्री शिवदान सिंह चौहान ही योग्यतम व्यक्ति हैं। मार्क्सवाद का उनका अध्ययन डा० रामविलास शर्मा के अध्ययन से कहीं अधिक गहरा है। उनके विवेचन में संयम, गहराई और विरोधी के दृष्टि के लिये आदर है। डा० रामविलास का आवेश अधिकतर ध्वंसात्मक है; परन्तु चौहान की प्रतिभा अधिकतर रचनात्मक। अपने दल के समीक्षकों की भी दुर्बलताओं को किस प्रकार उनकी अंतर्दृष्टि पहचानती है और किस प्रकार वे निर्भीकता, स्पष्टता और ईमानदारी के साथ उन्हें पाठकों के सामने रखते हैं, यह देखिए—

"डा० रामविलास शर्मा ने शरतचंद्र चटोपाध्याय, यशपाल के उपन्यास 'देशद्रोही', नगेन्द्र के निबन्ध संग्रह 'विचार और अनुभूति' आदि पर जो आलोचनाएँ लिखी हैं, उनमें व्यक्तिगत राजनीतिक रुचि और सामंती संस्कारगत

पूर्वाग्रह के साथ कटूक्तियों, विद्रूपों और उपदेशों को ही मूल्य निरूपण का साधन बनाया है। अमृतराय ने अपने निबंध 'मार्क्सवादी आलोचना का आधार' में अपने दृष्टिकोण को विसंगतियों और अधकचरेपन के कारण आश्रय की खोज में साम-दाम दंड-भेद की पौराणिक नीति के अनुसार आग्रह-दुराग्रह, उपदेश, आदेश और फटकारों की असंयत झड़ी भी लगायी है और अंत में मार्क्सवाद की असमानता के कारण कोई समन्वित साहित्य-सिद्धान्त प्रतिपादित करने में अपने को असमर्थ पाकर "विजयी विश्व तिरंगा प्यारा······ को श्रेष्ठ साहित्य न कहने की धृष्टता कौन करेगा?" इस प्रकार की कटूक्तियों द्वारा राष्ट्रीय अवसरवादिता को ही साहित्य के मूल्य निरूपण का चरम सिद्धांत मान लिया है। इन लेखकों और 'कुत्सित समाज-शास्त्रीयता' के दल के अनेक कथित प्रगतिवादी लेखकों की आलोचनाओं में से ऐसे अगणित उदाहरण दिए जा सकते हैं, क्योंकि वे जब प्राचीन लेखकों के सम्बन्ध में लिखते हैं तब उनके मापदंड कुछ होते हैं, जब जीवित लेखकों के सम्बन्ध में लिखते हैं तब कुछ और, और फिर लेखक-दर-लेखक ये मापदंड बदलते जाते हैं। परिणाम यह होता है कि एक लेखक कल तक प्रतिक्रियावादी था, आज किसी विशेष घटना के बारे में एक तुच्छ रचना करके तुरंत प्रगतिशील बन जाता है, दूसरा लेखक जो कल तक युग-प्रवर्त्तक और प्रगतिशील था, इनकी दृष्टि से एक प्रतिकूल रचना करके या केवल बातचीत में ही प्रतिकूल विचार प्रकट करके युग-विध्वंसक और प्रतिक्रियावादी बन जाता है।"

—साहित्य की परख

यह सब होते हुए भी इन तीनों को जो मैंने प्रगतिवादी आलोचक कहा वह इसलिये कि इनकी आलोचनाएँ एकपक्षीय हैं। प्राचीन साहित्य के सभी प्रकार के सौंदर्य को देखने वाली आँखें इनके पास नहीं हैं या फिर जान-बूझकर उन्हें इन्होंने बंद कर लिया है। स्वभावतः इनकी आलोचनाएँ एकांगी हो गई हैं। इन तीनों को उस रूप में साहित्य का आलोचक स्वीकार नहीं किया जा सकता जिस रूप में आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, नंददुलारे बाजपेयी और डा० नगेन्द्र को।

प्रगतिवादी पत्रकारिता

प्रगतिवादी सिद्धान्तों और लेखकों के प्रचार में 'हंस' ने बड़ा स्पृहणीय कार्य किया है और जब कभी इस देश में विकासशील साहित्य का लेखा लिया जायगा तब 'हंस' के सक्रिय योग का अपना स्थान रहेगा। परन्तु कुछ पिछले वर्षों से मुझे उससे एक शिकायत रही है और वह यह कि विरोधी दल पर विचार करते समय यह पत्र संयम खो बैठता है। 'प्रगतिशील साहित्य' शीर्षक से अक्तूबर ४८ की जनवाणी में एक लेख आचार्य नरेन्द्र देव का प्रकाशित हुआ था। नवम्बर ४८ के हंस में अमृतराय ने एक लंबी सम्पादकीय टिप्पणी उस पर दी। उस लेख के विचारों को उन्होंने 'ऐसे पिटेपिटाये सिद्धान्त वाक्य जो पाँचवीं छठीं कक्षा की पाठ्य-पुस्तकों में भी मिल जायँगे' बतलाया। आचार्य नरेन्द्रदेव और अमृतराय के व्यक्तित्व, साधना और योग्यता की कोई तुलना नहीं। उस लेख का विरोध केवल विरोध के लिए किया गया जिसका वैसा ही कड़ा उत्तर दिसम्बर की 'जनवाणी' में दिया गया है। ऐसे ही आक्षेप उन्होंने इलाचंद्र जोशी, अज्ञेय, नवीन और सोहनलाल द्विवेदी आदि पर किए। उनके संपादकीय के दो एक उदाहरण लीजिए—

१—आपको सहयोग मिलेगा ऐसे लोगों का जो एक पैसे के लिये अपने आपको बेच चुके हैं...जिन्हें बिड़ला जी के अखबार की सम्पादकी का नमक अदा करना पड़ता है ('अंतर्चेतनावादी' ढंग से ही सही !), जिनकी किताबों पर बिड़ला जी का सर्टीफिकेट छपा रहता है...या जो चियाङ् के उत्तराधिकारी नेहरू का अभिनंदन ग्रंथ सम्पादित करके अपना इहलोक और परलोक दोनों सुधारने के इच्छुक हैं......

२—परम जड़ 'भौतिकवादी' बिड़ला और अंतर्चेतनावादी इलाचंद्र जोशी के संगम से उत्पन्न 'संगम' की इधर हाल की एक संख्या में निराला जी का एक बहुत बड़ा सा चित्र छपा है। यों उस चित्र का बहुत महत्व नहीं है, क्योंकि उसके एक या दो सप्ताह पहले उसी जगह पर बावनवर्षीय साठे पर पाठे नवीन जी और उनकी बाइसवर्षीया कोमलांगी तरुणी वधू का भी चित्र छपा है। 'संगम' के मुखपृष्ठ पर निराला जी के बड़े से चित्र को देखकर भोली जनता थोड़ी देर

Library Sri Pratap College,
Srinagar.

के लिए ठगी जा सकती है और यह सोच सकती है कि 'संगम' और उसके पोषक-संरक्षक निराला जी का आदर करते हैं या उनसे सहानुभूति रखते हैं या यह कि 'संगम' की शुद्ध व्यापारिकता की ड्योढ़ी पर रोज नाक रगड़ने वाले अंतर्चेतनावादी इलाचंद्र जोशी जैसे लोग निराला जी की परंपरा को आगे बढ़ा रहे हैं।...इस भूमिका के संग निराला जी के संबंध की यह सामग्री आपके सामने प्रस्तुत की जा रही है। इससे यह भी आपके सामने स्पष्ट हो जायगा कि विचारों की दुनिया में भी निराला जी और बिड़ला या उसके जूते का बंद खोलनेवाले साहित्यकार दो दुनिया के लोग हैं।

यदि आज प्रेमचंद जी जीवित होते तो पता नहीं इस प्रकार की संपादकीय टिप्पणियों को पढ़ कर क्या सोचते!

इस प्रकार नवीन मार्ग के अनुयायियों, विशेष कर आलोचकों और संपादकों की मनोवृत्ति में दो भावनाएँ काम करती दिखाई दीं—

(१) यह अभिमान कि हमारा दृष्टिकोण सर्वश्रेष्ठ और एकमात्र सत्य है; अतः दूसरों का दृष्टिकोण हलका ही नहीं हेय भी है।

(२) यह निश्चय कि अपने से भिन्न कलाकारों के काव्य में जो सुंदरता है उसे विकृत तर्कों की कीच से कुरूप बनाना है।

हुआ यह कि जिन लेखकों या कवियों ने प्रगतिवाद के सिद्धान्तों की किसी प्रकार पूर्ति की उनकी तो सामान्य से सामान्य रचनाओं की प्रगतिवादी आलोचकों ने अत्युक्तिपूर्ण प्रशंसा की और अन्य क्षेत्र के महान् कवियों को तुच्छ और तिरस्कार की दृष्टि से देखा। उन्हें प्रतिक्रियावादी कह कर उनकी रचनाओं में क्षयरोग के कीटाणु देखे, विचारधारा को 'निष्प्राण' ठहराया और अनुभूति को 'चेतनाहीन' कहा। इस प्रकार जो जिसका विषय न था, उसमें उसे घसीट कर आलोचना की गई और दूसरों के दृष्टिकोण के लिए वहाँ कोई आदर न रहा।

प्रगतिवादी-काव्य

प्रगतिवादी स्वयं अभी इस बात का निर्णय नहीं कर पाये हैं कि कौन उनके कवि हैं। यदि इस कट्टर धारणा को स्वीकार करें कि जो मार्क्सवादी या

साम्यवादी (Communist) हैं वही प्रगतिवादी हैं, तो बहुत कम कवि प्रगतिवादी सिद्ध होंगे। परन्तु हिंदी में एक प्रकार का साहित्य चल पड़ा है जिसे प्रगतिशील साहित्य कहते हैं। वैसे प्रगतिवादी पत्र 'हंस' में जब प्रगतिवादी आलोचक प्रगतिशील साहित्य की परम्परा की चर्चा करते हैं तो तुलसी और कबीर तक दौड़ लगाते हैं। अतः इस समय तो वह सारा साहित्य प्रगतिशील कहलाता है जिसका संबंध किसी सुधार या जन-आंदोलन से है। इस दृष्टि से प्रगतिशील साहित्य को कई कोटियों में विभाजित किया जा सकता है।

(१) सुधारवाद
(२) राष्ट्रीय-चेतना
(३) क्रांति-भावना
(४) मार्क्सवाद

सुधारवाद किसी 'वाद' विशेष को लेकर नहीं चलता। विचारक लोग स्वभाव से ही अन्य व्यक्तियों की अपेक्षा प्रगतिशील होते हैं। यही कारण है कि इस देश में प्रगति की चर्चा होने से पहिले (सन् १६३५) और यूरोप में मार्क्स के जन्म के पूर्व (१६ वीं शताब्दी में) ही कबीर और तुलसी पूरे सुधारवादी थे। देखिए—

(१)

अरे इन दूहुन राह न पाई
हिन्दू अपनी करै बड़ाई गागर छुवन न देई।
वेश्या के पायन तर सोवै यह देखौ हिन्दुआई॥
मुसलमान के पीर-औलिया मुर्गी-मुर्गा खाई।
खाला केरी बेटी ब्याहैं घरहिं में करै सगाई॥
हिंदुन की हिन्दुआई देखी तुरकन की तुरकाई।
कहै 'कबीर' सुनो भई साधो कौन राह ह्वै जाई॥

(२)

मारग सोई जा कहुँ जोई भावा।
पंडित सोई जो गाल बजावा॥

जो कह झूँठ मसखरी जाना।
कलिजुग सोई गुनवंत बखाना॥
सब नर काम, लोभ रत, क्रोधी।
देव, विप्र, श्रुति, संत बिरोधी॥
मातु पिता बालकन्हि बुलावहिं।
उदर भरै सोइ धर्म सिखावहिं॥
सूद्र करहिं जप तप ब्रत नाना।
बैठि बरासन कहहिं पुराना॥

(३)

कुलवन्ति निकारहि नारि सती।
गृह आनहिं चेरि निबेरि गती॥
सुत मानहिं मातु पिता तब लौं।
अबलानन दीख नहीं जब लौं॥
कलिकाल बिहाल किए मनुजा।
नहिं मानत कोउ अनुजा तनुजा॥

सुधारवाद का एक युग हरिश्चन्द्र-काल में आया। इसमें हम भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, बद्रीनारायण चौधरी 'प्रेमघन', प्रतापनारायण मिश्र और बालमुकुन्द गुप्त आदि के नाम ले सकते हैं।

अँगरेज राज सुख-साज सजे सब भारी,
पै धन विदेश चलि जात इहै अति ख्वारी।
ताहू पर मंहगी काल-रोग विस्तारी,
दिन-दिन दूने दुख देत ईस हा हारी।
सब के ऊपर टिक्कस की आफत आई,
हा, हा, भारत दुर्दशा न देखी जाई।

—भारतेन्दु हरिश्चंद्र

यदपि तिहारें राज भयो भारत अति उन्नत,
आगे से अब सब कोऊ सब विधि सुख पावत,

पै दुख अति भारी इक यह जो बढ़त दीनता,
भारत में संपति की दिन दिन होत छीनता,
सुख सुकाल हूँ जिनहिं अकालहि के सम भासत,
कई कोटि जन सदा सहत भोजन की साँसत,

—बदरीनारायन चौधरी 'प्रेमघन'

अपनो काम आपने ही हाथन भल होई।
परदेशिन परधर्मिन ते आशा नहिं कोई।
धन धरती जिन हरी सु करिहैं कौन भलाई ?
जोगी काके मीत, कलंदर केहि के भाई ?

—प्रताप नारायण मिश्र

हे धनियों क्या दीन जनों की नहिं सुनते हो हाहाकार,
जिसका मरे पड़ोसी भूखा उसके भोजन को धिक्कार।
हे बाबा जो यह बेचारे भूखों प्राण गवाँवेंगे,
तब कहिये क्या धनी गलाकर अशर्फियाँ पी जावेंगे।

—बालमुकुन्द गुप्त

राष्ट्रीय भावनाओं का प्रचार इस युग में जिन कवियों ने किया उनमें उल्लेखनीय नाम हैं सर्व श्री मैथिलीशरण गुप्त, माखनलाल चतुर्वेदी, सुभद्राकुमारी चौहान, सोहनलाल द्विवेदी और सियारामशरण गुप्त आदि के। गुप्त जी, चतुर्वेदी जी और श्रीमती चौहान को तो अपनी राष्ट्रीय भावनाओं के कारण जेल की यात्राएँ भी करनी पड़ीं।

(१) एक राज्य न हो, बहुत से हों जहाँ,
राष्ट्र का बल बिखर जाता है वहाँ।
बहुत तारे थे, अँधेरा कब मिटा,
सूर्य का आना सुना जब, तब मिटा।

साकेत : मैथिलीशरण गुप्त

(२) फिर कुहू ! · · अरे क्या बन्द न होगा गाना ?
इस अँधकार में मधुराई दफनाना ?

फिर भी करुणा-गाहक बन्दी सोते हैं!
स्वप्नों में स्मृतियों की श्वासें धोते हैं!
इन लोह-सीखचों की कठोर पाशों में?
क्या भर दोगी, बोलो, निद्रित लाशों में?

क्या घुस जायेगा रुदन
तुम्हारा निश्वासों के द्वारा?
कोकिल बोलो तो···
और सबेरे हो जायगा
उलट-पुलट जग सारा
कोकिल बोलो तो···

कैदी और कोकिला : माखनलाल चतुर्वेदी

(३) निर्धन हों धनवान, परिश्रम उनका धन हो।
निर्बल हों बलवान, सत्यमय उनका मन हो।
हों स्वाधीन गुलाम, हृदय में अपनापन हो।
इसी आन पर कर्मवीर, तेरा जीवन हो॥
तो, स्वागत सौ बार
करूं आदर से तेरा।
आ, कर दे उद्धार
मिटै अंधेर अँधेरा।

मुकुल : सुभद्राकुमारी चौहान

(४) वंदना के इन स्वरों में, एक स्वर मेरा मिला लो।
बंदिनी मा को न भूलो
राग में जब मत्त झूलो
अर्चना के रत्न कण में, एक कण मेरा मिला लो।

भैरवी : सोहनलाल द्विवेदी

(५) प्रार्थना है आज जन जन की,
जन की न होके यह जनता की जय हो।

निखिल भुवन की,
पीड़ित मनुष्यता जहाँ भी हो अभय हो।
जयहिंद : सियारामशरण गुप्त

हिन्दी के कुछ कवियों की भावनाएँ अधिक उग्र थीं। वे गांधीवादी होते हुए भी क्रांति के उपासक रहे हैं। इनमें प्रमुख हैं बालकृष्ण शर्मा नवीन, भगवती चरण वर्मा और दिनकर।

कवि कुछ ऐसी तान सुनाओ जिससे उथल पुथल मच जाए।
नाश और सत्यानाशों का धुँवाधार जग में छा जाए।
नियम और उपनियमों के ये बंधन टूक-टूक हो जाएं।
विश्वम्भर की पोषक वीणा के सब तार मूक हो जाएँ।
नाश नाश हो महानाश की प्रलयंकरी आँख खुल जाएँ।
कवि कुछ ऐसी तान सुनाओ जिससे उथल पुथल मच जाए।

—नवीन

गगन पर घिरो मन्डलाकार!
अवनि पर गिरो वज्र सम आज!
गरज कर भरो रुद्र हुंकार,
यहाँ पर करो नाश का साज!
मचे तांडव नर्तन फिर आज,
चुका ले महाकाल निज व्याज!

—भगवतीचरण वर्मा

इस प्रकार सुधारवाद, राष्ट्रीय भावना और क्रांति की रचनाएँ भी प्रगतिशील साहित्य में सम्मिलित हैं। मैंने केवल उन्हीं कवियों के नाम लिए हैं जिनके नाम प्रकाशचंद्र गुप्त, डा० रामविलास शर्मा या शिवदानसिंह चौहान बड़े गर्व से अपने लेखों में लेते हैं। परन्तु मुझे ऐसा लगता है कि ये कवि प्रगतिवाद की नींव की ईटें ही बन कर रह जायेंगे। सुधार की जो रचनाएँ हों, प्रगतिवादी चाहते हैं उनके पीछे मार्क्सवादी दर्शन हो। राष्ट्रीय भावना भी जो गांधीवाद से प्रभावित थी, संभव है आगे चलकर प्रगतिवादियों की

दृष्टि में महत्त्वपूर्ण भावना न रहे। एक तो इसलिए कि भविष्य में अब भावनाओं को अंतर्राष्ट्रीय दृष्टि से देखा जायगा, दूसरे संघर्ष का रूप भिन्न प्रकार का होगा। मार्क्सवादियों का मूल सिद्धान्त वर्ग-संघर्ष का सिद्धान्त है। अतः काव्यात्मक चित्रण में शोषक और शोषित के संघर्ष को प्रमुखता मिलेगी। भविष्य में संघर्ष के लिए देश विशेष को आँखों के सामने उतना न लाया जायगा जितना समस्त पृथ्वी को। सभी देशों के शोषितों की समस्या अब एक ही होगी। क्रांति की धारणा का प्रगतिवादी आदर करते हैं; पर जैसी रचनाएँ पिछले कवियों ने दीं, उनमें ध्वंस की भावना तो है; परन्तु नव निर्माण की भावना नहीं दिखाई देती। प्रगतिवादी कोरे विनाश में विश्वास नहीं करते। रचनात्मक कार्यों के लिए ही वे ध्वंस का आवाहन करते हैं। अतः सुधार, राष्ट्रीयता और अंध-क्रांति प्रगतिवादियों से आदर तो पायेंगी क्योंकि वे उनके अधिक निकट हैं; पर प्रगतिवादी रचनाएँ आगे चलकर वे ही कहलायेंगी जो किसी न किसी रूप में साम्यवाद की छाप लिए हुए हों और मार्क्सवादी दर्शन को अपना पथ-प्रदर्शक समझें।

नई कविता

प्रगतिवादी कविता के विषय क्या होंगे, यह किसी ने अभी स्पष्ट रूप से नहीं बतलाया; अतः प्रगतिवादी पत्रों में जो रचनाएँ पढ़ने को मिलती हैं, उन्हीं के आधार पर हम विषय का निर्धारण कर सकते हैं। नीचे 'जनवाणी' और 'हंस' में से हम कुछ कविताएँ उद्धृत करते हैं:

मज़दूरों की लड़ाई

(१) दुनिया के मज़दूर भाइयो! सुन लो एक बात तुम आज।
सिर्फ़ एकता में ही बसता इस दुनिया के सुख का राज।
सिर्फ़ एकता के बल पर कमज़ोर जो थे शहज़ोर बने।
अपने से बलवान पछाड़े, औ आफ़त में रहे तने।

—किरण सौनरिक्सा

पस्तहिम्मत साथी से

(२) देखो देश पुकार रहा है हिम्मत मत हारो साथी।

भूलो मत चक्की के दो पाटों में लड़ना है साथी।
देश भयानक संकट में है कुछ करना होगा साथी।
भूखे मरते लोगों के हित अन्न अभी लाना साथी।

—प्रकाश सक्सैना

बर्लिन अब नज़दीक है

(३) फ़ासिस्तों की काल रात्रि में घोर घटा घिर आई।
चली लाल सेना ज्यों चलती सावन में पुरवाई।

—शिवमंगल सिंह 'सुमन'

एक रात

(४) नष्ट कर दो
आज धरती पर खड़े—
अभिशाप से—
इन राजमहलों को जलाकर !
नष्ट कर दो—
लक्ष्मी के लाड़लों के
ये विशाल भवन !
हैं खड़े जो नींव लेकर
आज मानव के रुधिर की।
नष्ट कर दो—
शेष रह जाये न कोई
इस जगत में......

—विश्वनाथ मिश्र

गाँव की हाट

(५) आगे मैली सी चादर पर
बेनी हलवाई रक्खे है
कुछ गट्टे, तिलकुट और
जलेबी चोटे की

गुड़ की पट्टी औ बताशा भी
मक्खी, हड्डे और गर्दे का
उसको कुछ भी है ध्यान नहीं
वह छोटा अधनंगा बालक
निज माता की उँगली पकड़े
औ, अपनी बहती नाक सुरक
है बड़े चाव से धेले की
उस पट्टी का रस चूस रहा
अपनी जबान चटकार रहा।

—रामचंद्र वर्मा

भिखारिन

(६) शून्य है नगरी, मगर दाता नहीं कम,
बर्फ से हैं श्वेत, कोई कोयले से श्याम,
मोटे होंठ, भद्दे रूप,
नोट दस के, पाँच के
शाम ही से पार्क के झुरमुट तले
है माँगती वह भीख !

—श्रीचंद्र अग्निहोत्री

स्वस्थ प्रेम

(७) रेल जा रही थी,
मध्यवित्त बाबू एक मेरे ड्योढ़े में

... ...

आगे कोई गाँव का छोटा सा स्टेशन था।
डिब्बे में से दूर ही से दीखा,
उन धान के कटे हुए खेतों के उस पार,
भैंस के पीछे एक काली सी किसान कन्या

नाटे से बरगद की घनी उस छाँह में

... .

पास में मोटा-सा लट्ठ लिए एक युवक
भैंस की पीठ पर कुहनी टिकाए हुए

... ...

देखते ही देखते चिकोटी काटी उसने—
छातियाँ मसल दीं, और...!
गाड़ी में बैठे हुए बाबू के मन में—
सैक्स-चेतना की प्रतिक्रिया हुई 'छिः' 'छिः' में,
'देखिए असभ्यता गँवारों की,
खुले मैदान में...
खेत खलिहान में...,
'ये' के आगे बढ़ने में उनकी सुसभ्य वाणी—
प्रौढ़ा नायिका की भाँति सकुच सिमट गई !
उन्हें क्या पता कि—
स्वस्थ काम को अपेक्षा नहीं।
महल, अटारी और तोशक-पलंग की।

—मंगला मोहन

पुल्लिङ्ग

(८) धत् बेहूदे !
बूँकता है बातें ब्रजबिहारी की
कौन था योगेश्वर, चक्रधारी ?

—वीरेश्वर सिंह

गर्रा नाला

(९) आगे आगे आगे आगे सर्राता है
खोये सोये मैदानों को थर्राता है

आओ आओ आओ आओ अर्राता है
जीतो जीतो जीतो जीतो नर्राता है

—केदारनाथ अग्रवाल

सत्यं शिवं सुन्दरम्

(१०) हाथी घोड़ा पालकी,
जै कन्हैयालाल की।

*   *   *

हिंदी हम चालीस करोड़।
क्यों बैठे हैं साहस छोड़?
देश हमारा हिंदुस्तान,
लाखों ही मजदूर किसान!
इस धरती पर बसने वाले,
उसके हित पर मिटने वाले!
क्या भागेंगे ताबड़ तोड़,
हिन्दी हम चालीस करोड़।
यह आजादी का मैदान,
जीतेंगे मजदूर किसान।
एक यही है राह सुगम
सत्यं, शिवं, सुन्दरम्।

—डा० रामविलास शर्मा

इस प्रकार प्रारम्भिक वर्षों में प्रगतिवाद में कई दोष देखने को मिले--

(१) प्रचार भावना

(२) बीभत्सता और अश्लीलता

(३) नास्तिकता

(४) कलाहीनता

जब कोई वस्तु पनपना चाहती है तो एक ओर विरोधी वस्तुओं का संहार करती है, चाहे उसमें सफल न हो, और दूसरी ओर अपना प्रसार। यह कार्य आलोचक ही नहीं, कवि भी जाने अनजाने करते हैं। कवि एक ओर निर्गुण का खंडन साखी-सबदी-दोहाकारों की निंदा करता, दूसरी ओर भक्ति की महत्ता प्रतिष्ठापित करता है; एक ओर रीतिकारों की वासनावृत्ति को गर्हित ठहराता, दूसरी ओर ब्रह्म की उपासना का मार्ग प्रशस्त करता है; एक ओर छायावादियों की पलायन-वृत्ति को कायरता शब्द से अभिहित करता और दूसरी ओर सामान्य प्रगतिवादी रचनाओं की प्रशंसा में पृथ्वी-आकाश एक करता है। आलोचक की सहायता मिलने से उसकी शक्ति और भी जोर पकड़ती है। किन्तु सत् साहित्य और प्रचारात्मक साहित्य के प्रचार में अन्तर है। केवल सिद्धान्तों के कथन करने वाले साहित्य को जब राजनीतिक प्रौपेगैंडा का रूप दिया जाता है और साथ ही सत्साहित्य की बुराई की जाती है तो उससे क्षोभ और प्रतिक्रिया का जन्म होता है जो हानिकर है। साहित्य का पहला प्रचार सुकवि, सुलेखक उत्पन्न करना है। केवल प्रचार के बल पर न कोई साहित्य आज तक पनपा है और न पनप सकता है। प्रगतिशील साहित्य के विरुद्ध जो यह आवाज उठी है कि वह अभी प्रायः बौद्धिक है, आरामकुर्सी पर बैठकर प्रगतिशील रचनाएँ नहीं हो सकतीं, मोटर में घूमकर या रेल की खिड़की से गाँव या उसके वास्तविक जीवन का अन्दाजा नहीं हो सकता, उसमें बहुत कुछ तथ्य है। जिसे हम सिद्धान्त के रूप में जनता के सामने रखना चाहते हैं उसे अनुभव के रूप में ग्रहण करना ही होगा।

प्रगतिवादी चाहें तो उनके प्रचार के कई शुभ और सफल रूप हो सकते हैं—

(१) कवि सम्मेलनों में अपनी शक्तिदायिनी रचनाओं से जनता को प्रभावित करना और उस तक अपनी वाणी पहुँचाना।

(२) साहित्य-समितियों का आयोजन कर भाषणों द्वारा अपने दृष्टिकोण को स्पष्ट करना।

(३) पुस्तकों के रूप में प्रगतिवादी सिद्धान्तों और प्रगतिशील साहित्य की महत्ता प्रतिपादित करना।

Library Sri Pratap College. Srinagar.

प्रगतिवाद और पूँजीपति

आज के संसार में धन का विभाजन कुछ इतना अस्वाभाविक है कि वह चौंकाने वाला हो गया है। एक ओर स्वच्छ खुले वातावरण में बँगले खड़े हैं, दूसरी ओर तंग गलियों में दुर्गन्ध से पूर्ण टूटे घरोंदे हैं जिन्हें पशुओं की खोह कहना अधिक उपयुक्त होगा; एक ओर दिन में सुवासित कपड़े दो बार बदले जाते हैं, दूसरी ओर लज्जा ढकने तक को वस्त्र नहीं है, एक ओर ग्रीष्म में खसखाने, वर्षा में सुरक्षित कक्ष और शीत में इलैक्ट्रिक हीटर हैं; दूसरी ओर ताप में तन झुलसता, वर्षा में भीगता और जाड़ों में ठिठुर-ठिठुर जाता है। एक ओर मुलायम गद्दे पर बैठा कुत्ता दूध नहीं पीता, दूसरी ओर नवजात शिशु के लिए भी अन्नाभाव के कारण माता के स्तनों तक में दूध सूख गया है। कैसी विषमता है ? किसी देश में ऐसी अवस्था उत्पन्न होने पर यदि यह पता चले कि मोटे आदमियों की चर्बी अधिकतर गरीबों का रक्त चूसकर बढ़ी है तो क्या रक्त खौल उठने के कारण नहीं उपस्थित होंगे ? गरीबों के मन की हलचल क्या भूकंप नहीं उत्पन्न करेगी ? यदि उस देश में संवेदनशील कवि होंगे तो क्या यह क्षोभ काव्य में व्यक्त नहीं होगा ?

पूँजीवादी धन के मद में गरीब आदमी को आदमी नहीं समझते। दोनों ही व्यक्ति हैं। पर इस प्रथा ने मनुष्यता छीन ली है। धनी व्यक्ति प्रायः दरिद्र व्यक्ति को तिरस्कार की दृष्टि से देखते हैं और उसके साथ पशुओं का सा व्यवहार करते हैं। सामूहिक मंगल के लिए यह आवश्यक हो उठा है कि अब पूँजीवादी प्रथा भारत से ही नहीं, संसार से मिट जानी चाहिए।

प्रगतिवाद और ईश्वर

मार्क्सवाद ईश्वर में विश्वास नहीं करता यह तो स्पष्ट बात है। वैज्ञानिक भौतिकवाद में जब चेतना को उस रूप में स्वीकार नहीं किया जाता जिस रूप में अध्यात्मवादियों में, तब महाचेतन और ईश्वर में विश्वास करने की बात ही नहीं उठती। धर्म को प्रगतिवादी अफीम का नशा बतलाते हैं। यह बात तो माननी पड़ेगी कि धर्म के नाम पर संसार में बड़ा रक्तपात हुआ है। उसके कारण साधारण मेधा के व्यक्तियों में अंध-विश्वास, कट्टरता और अकर्मण्यता

के दुर्गुण भी आ जाते हैं। परन्तु यह धर्म का उतना दोष नहीं है, जितना उसके अनुयायियों का। ऋषियों, सन्तों और पैगम्बरों की वाणी सुनें तो हृदय कितना शीतल होता है, उनके सिद्धान्त भी प्रायः मिलते-जुलते और सार्वभौम हैं, पर ये उनके अनुयायी ही हैं जिनके आचरण से विरोध उत्पन्न होता है और अमंगल छा जाता है। इन्हीं सब कारणों से धर्म अपनी शक्ति खो रहा है और भविष्य में या तो वह अपने निखरे रूप में आवेगा या मिट जायगा। दूसरी ओर यह धारणा कि ईश्वर की कल्पना पूँजीवादी प्रथा की उपज है कुछ अतिशयोक्तिपूर्ण प्रतीत होती है। ईश्वर के सम्बन्ध में चिंतन सृष्टि के आदि काल से होता चला आ रहा है और ऋषि, महात्मा तथा सन्त लोग संसार के वैभव पर ठोकर मारने वाले ही रहे हैं। हमारे यहाँ जो दार्शनिक चिंतन हुआ है, उस निधि को हम किसी भी मूल्य पर खोने के लिए तैयार नहीं होंगे और न मेरी बुद्धि यह मानने को तैयार है कि जितने आस्तिक सन्त हुए हैं वे सब ढोंगी थे। काव्य में भी मैं कबीर और जायसी, सूर और तुलसी, मीरा और रसखान, रवीन्द्रनाथ और महादेवी को कभी भी ढोंगी मानने को तैयार नहीं। संसार में अकेले रहने पर भी इन लोगों की आस्था नहीं डिग सकती। रवीन्द्रनाथ ने इस बात को एक स्थान पर बड़ी मार्मिकता से व्यक्त किया है—

नम्र शिरे सुखेर दिने
तोमार मुख लइबे चिने
दुखेर राते निखिल धारा जे दिने करे वंचना
तोमारे जेन ना करि संशय*

फिर भी संसार का विश्वास ईश्वर पर से धीरे-धीरे उठता जा रहा है। यदि ईश्वर को न मानकर भी मनुष्य की मनुष्यता बनी रहे तो यह मानवता उस ईश्वर-विश्वास से कहीं बड़ी है जिसकी आड़ में मनुष्य मनुष्य नहीं रह जाता। हिंदी काव्य में नास्तिकता की अभिव्यक्ति अभी कम ही हुई है। केवल

* जब सुख का दिन आवे, तब सिर झुकाकर मैं तुम्हारे मुख को पहचान लूँ, और जब दुःख की रात छा जाय और यहाँ तक कि सारा संसार ही मेरे साथ विश्वासघात करने लगे, तब भी तुम पर मेरा विश्वास अडिग रहे।

नास्तिकता को आधार बनाकर अभी कोई महान् कलाकृति निर्मित भी नहीं हुई। भविष्य के पल बहुत संभव है घोर नास्तिकता के पल हों, पर व्यक्तिगत उपासना की स्वतंत्रता आगे के युग में भी रहेगी। यह दूसरी बात है कि आपको अपने धार्मिक आवेश के प्रदर्शन का अवसर नहीं मिलेगा। भारतवर्ष आस्तिकों का देश है, यही कारण है कि बहुत गंभीर विद्वान् सामाजिक क्षेत्र में तो मार्क्स के सिद्धान्तों को स्वीकार करते हैं, पर दार्शनिक क्षेत्र में उसके भौतिकवादी दर्शन को ज्यों का त्यों स्वीकार नहीं करते। इसी से मार्क्सवाद और अध्यात्मवाद के समन्वय के पक्ष में कुछ लोग हैं। यह आंदोलन कहाँ तक सफल होगा, मैं कह नहीं सकता। परन्तु ईश्वर एक ऐसी चीज़ है कि यदि वह सिद्ध नहीं हो सकता तो असिद्ध भी नहीं हो सकता और यदि असिद्ध नहीं हो सकता तो सिद्ध भी नहीं हो सकता। अतः मेरी सम्मति में इस समय सबसे अच्छा मार्ग यही है कि ईश्वर है या नहीं इस झंझट में न पड़ कर हम मनुष्य के वास्तविक विकास में सहायक हों।

प्रगतिवादी और नारी

प्रगतिवादियों का नारी के प्रति भी अभी कोई दृष्टिकोण स्पष्ट नहीं है। जहाँ तक अश्लील रचनाओं का संबंध है वहाँ केवल प्रगतिवादियों को ही दोष नहीं दिया जा सकता, क्योंकि जो प्रगतिवादी नहीं हैं वे भी घोर शृंगारी रचनाएँ लिखते हैं। लेकिन जो बात विशेष रूप से जानने की है वह यह कि भविष्य में स्त्री पुरुष का क्या संबंध रहेगा? नैतिकता का प्रश्न भी है। किसी भी कारण से हो, समाज में हमने यह पाया कि उसमें मर्यादा का ध्यान रखा जाता था। नारी—मा, बहिन, पुत्री, पत्नी आदि के रूपों में विभाजित थी। मा मा थी, बहिन बहिन और पुत्री पुत्री। ये तीनों अत्यंत पवित्र संबंध थे और इस पवित्रता की रक्षा हिंदी साहित्य में हुई है। रोमांस के क्षेत्र में परकीया का प्रचलन था, पर घर में रोमांस नहीं मचा। इधर के हिंदी साहित्य को लें—उदाहरण के लिए राहुल जी के कथा-साहित्य को—तो उन्होंने अपने वर्णनों में जैसे 'वोल्गा से गंगा' और 'सिंह सेनापति' आदि में, मा, बहिन और पुत्री के साथ भोग में रस लिया है। उन्होंने अपने कथानकों को इस प्रकार प्रस्तुत किया है मानो जीवन

में यह सब होता था। वैसा दिखाते हुए उन्हें कोई संकोच प्रतीत नहीं होता—कोई हिचक नहीं।

कुछ उदाहरण लीजिये—

—१—

यह ६००० ई० पू० की बात है—

यहाँ किसका पिता कौन है, यह बतलाना असम्भव था।·· निशा के पहले जब उसकी मा का राज्य था, तब बूढ़ी दादी—उस वक्त प्रौढ़ा—के कितने ही भाई-पति, कितने ही पुत्र-पति थे, जिन्होंने कितनी ही बार निशा के साथ नाचकर गाकर उसके प्रेम का पात्र बनने में सफलता पाई थी, फिर स्वयं रानी बन जाने पर निशा की निरन्तर बदलती प्रेमाकांक्षा को उसके भाई या सयाने पुत्र ठुकराने की हिम्मत नहीं रखते थे।

—निशा

— २ —

यह ३५०० ई० पू० का समाज है। सगे भाई बहिन में वार्तालाप चल रहा है—

"किन्तु जब ये मेरे गोल-गोल स्तन उभड़ने लगे, जब मेरे मुख को सारे जन के तरुण जोहने लगे, तब मैंने तुझे भुला दिया।"

"लेकिन दिवा! इसमें तेरा दोष नहीं है।"

"फिर किसका दोष?"

"मेरा, क्योंकि सारे जन के तरुण तुझसे चुम्बन माँगते, तू उन्हें चुम्बन देती; सारे जन के तरुण आलिंगन माँगते, तू आलिंगन देती। मृगया में चतुर नृत्य में कुशल, शरीर में पुष्ट और सुन्दर किसी जन—तरुण की आशा तूने भंग नहीं किया।"

"और तू मेरी अपनी माँ का बेटा, मैं तुझे भूल गई।"

—दिवा

—३—

यह १५०० ई० पू० की बात है। एक तरुणी जब किसी तरुण में अपने भाई की छाया देखती है, तब क्या होता है !

"एक दिन अपाला और सुदास, प्रेमियों की नदी चन्द्रभागा (चनाव) में नहाने गए। नहाते वक्त कितनी ही बार सुदास ने अपाला के नग्न अरुण शरीर को देखा; किन्तु आज पचासों नग्न सुंदरियों के बीच उसके सौंदर्य की तुलना कर उसे पता लगा, जैसे आज ही उसने अपाला के लावण्य की पूरी परख पाई है। रास्ते में लौटते वक्त उसे मौन देखकर अपाला ने कहा—"सुदास् ! आज तू बोलता नहीं, थक गया है क्या ?"

"अपाले ! तू अभी भी तीनो लोकों की अनुपम सुन्दरी है !"

"अपनी आँखों से कहता है सुदास् ?"

"किन्तु मोह से नहीं अपाले ! तू यह जानती है।"

"हाँ, तूने चुम्बन तक कभी मुझसे नहीं माँगा, यद्यपि भद्र तरुणियाँ उसके वितरण में बहुत उदार होती हैं।"

"किन्तु उस वक्त जब कि मैं तुझमें भैया श्वेताश्रवा को देखा करती थी।"

—सुदास्

—४—

यह ४९० ई० पू० की बात है—बुद्धकाल की। शिकार का प्रसंग है।

मल्लिका ने अन्तरवासक को कसकर बाँध लिया, केशों को सँभाल कर शिर के ऊपर जूड़ा करके कहा—"मेरे उत्तरासंग (ओढ़नी) की पगड़ी बाँध दे, बन्धुल !"

पगड़ी बाँध, बन्धुल कंचुकी के भीतर से उठे क्षुद्र-बिल्व-स्पर्धी स्तनों को अर्धालिंगन करते हुए बोला—

"और ये तेरे स्तन ?"

"स्तन सभी मल्ल-कुमारियों के होते हैं।"

"किन्तु ये कितने सुन्दर हैं।"

"तो क्या कोई इन्हें छीन ले जायगा।"

"तरुणों की नज़र लग जायगी।"

"वह जानते हैं, ये बन्धुल के हैं।"

"नहीं, तुझे उज्र न हो, तो मल्लिका! भीतर से मैं इन्हें अपने अँगोछे से बाँध दूँ।"

"कपड़ों के बाहर के दर्शन से तुझे तृप्ति नहीं हो रही है!"

—बन्धुल मल्ल

साढ़े सात हज़ार वर्ष का इतिहास देते हुए दूसरी उल्लेखनीय बात इसमें है—मांस और मदिरा। सोमरस को राहुल जी ने भाँग बतलाया है। मांस में गाय और सुअर के मांस की पूरे चटोरेपन के साथ चर्चा की गई है। मांस मदिरा और मैथुन का एक सम्मिलित प्रसंग देखिए—

सोमा सोम की मशक और चषक (प्याले) लिए आई। दोनों मित्रों के बीच अमृताश्व भी बैठ गया। सोमा ने सोम (भाँग के रस) और चषक को धरती पर रखते हुए कहा—

"विस्तर ला दूँ, ज़रा ठहरो।"

"नहीं सोमे! यह कोमल हरी घास विस्तर से अच्छी है।" ऋज्राश्व ने कहा।

"अच्छा, यह बतला ऋज्र! लवण के साथ उबाला मांस खायगा, या आग में भूना? बछेड़ा आठ महीने का था। मांस बहुत कोमल है।"

"मुझे तो सोमे! भूना बछेड़ा पसंद आता है। मैं तो कभी-कभी सम्पूर्ण बछेड़े को आग पर भूनता हूँ। देर लगती है, किन्तु मांस बहुत मधुर होता है। और तुझे भी सोमे! मेरे चषक को अपने ओठों से मीठा करना होगा।"

कृच्छ ने परिवर्तित स्वर में कहा। उसकी आँखें लाल हो रही थीं, "और सोमा आज तुझे क्या परवाह?"

"हाँ, आज तो मैं अतिथि ऋज्र की हूँ"

"अतिथि या पुराने मित्र की।"

—अमृताश्व

"सांकृत्य* ब्राह्मणों ने अपने कुलाचार के अनुसार अपने द्वार पर एक

* संभवतः इसी से सांकृत्यायन बना है।

मोटा सुअर का बच्चा काटा और अपने हाथ से पकाकर बंधुल मल्ल तथा मल्लिका को उसी सूअर मार्दव से संतृप्त किया।"

—बन्धुल मल्ल

ऋषियों के प्रति भावना देखिये—

"सुदास् का पिता दिवोदास प्रतापी राजा था, जिसकी प्रशंसा में वशिष्ट विश्वामित्र और भरद्वाज ऋषियों ने मंत्र बनाए; किन्तु ऋग्वेद में जमा कर देने मात्र से उनके भीतर भरी चापलूसी छिपाई नहीं जा सकती।"

"पीवर गोवत्स के मांस और मधुर सोमरस से तोंद फुलाए इन ऋषियों की राय में वस्तुतः सुदास् (बहुत दान देने वाला) हुआ।"

सुदास्

और ज्ञान के जन्म की कहानी यह है—

"तू बच्ची है गार्गी ! तू जानती है कि यह ब्रह्मवाद सिर्फ़ मन की उड़ान, मन की कलाबाज़ी है। नहीं गार्गी, इसके पीछे राजाओं और ब्राह्मणों का भारी स्वार्थ छिपा हुआ है। जिस क्षण यह ब्रह्मवाद पैदा हुआ था, उस समय इसका जन्मदाता (प्रवाहण) मेरी (सोमा की) बग़ल में सोता था।"

—प्रवाहण

और भगवान की व्याख्या यह—

"पिछले पच्चीस सालों में निशा-जन की संख्या तिगुनी हो गई। इसके लिए जब कभी सूर दिवा के ओठों को चूमकर बधाई देता है, तो वह कहती—

"यह अग्नि की दया है, यह भग (वान) का प्रताप है।..."

—दिवा

और अन्त में उदाहरण देने की साहित्यिक कला देखिए—

"बाबा ! मैं तेरी एक बात से सहमत हूँ; मनुष्य एक जगह बाँधकर रखने के लिए नहीं पैदा किया गया।"

"हाँ, वत्स ! पहले दिन के किए पाखाने पर रोज़-रोज़ पाख़ाना करना हो तो कितना बुरा लगेगा !"

—पुरुहूत

इस प्रकार वेद-शास्त्र, ऋषि-मुनि, ज्ञान-भक्ति के विरोध में मदिरा-मांस और मैथुन का यह दर्शक साम्यवाद के नाम से खड़ा किया गया। बहुत पहले जब मैंने 'वोल्गा से गंगा' को पढ़ा था, तब सुना था कि राहुल जी बौद्ध हैं और कम्यूनिस्ट। मैं दोनों को ही समझना चाहता था। पुस्तक समाप्त करने पर मैंने अपने से प्रश्न किया : क्या बौद्ध सन्यासी ऐसे नग्न विचारक होते हैं ? क्या इसी प्रकार वे हिंसा का समर्थन करते हैं ? कम्युनिस्टों का भविष्य का समाज क्या ऐसा ही होगा ? क्या ये ही वे खोजें हैं जिनके आधार पर उन्हें महापण्डित कहा जाता है ? और मेरी भावनाओं को बड़ा धक्का लगा। और तब मैं सोचने लगा क्या प्रगति का अर्थ नंगा हो जाना है।

एक दूसरे लेखक हैं यशपाल जी। वे भी यथार्थवाद के नाम पर अश्लील प्रसंगों को निस्संकोच भाव से चित्रित करते हैं। केवलचंद नाम का एक क्लर्क अपनी छत फाँदकर पड़ोसिन खत्रानी के घर में घुस जाता है और दस मिनट के भीतर सास-बहू दोनों के शरीर का रस ले लेता है—

"केवल को पसीना आ गया था और उसका कलेजा धकधक कर रहा था। साँस धोंकनी की तरह चल रही थी। परन्तु उससे अधिक उग्र थी उसकी चाह। उसने लक्ष्मी को बाहों में इतने जोर से समेट लिया कि उसे अपने शरीर में ही समेट लेगा। वह उसके होठों को खा जाना चाहता था...!

सहसा जीने के किवाड़ों की साँकल खनखना कर गिरने की आहट हुई और साथ ही किवाड़ खुल गए। दरवाजा खुलने से जीने की बत्ती का प्रकाश भीतर फैल गया। सास ने भीतर कदम रखा और आँखें तथा मुँह फैलाये, खोई सी सामने खड़ी रह गई।

जोर से चिल्लाने के लिए सास ने सीने में साँस भरा...।

केवल की बाहों में सिमटी लक्ष्मी प्रायः बेसुध हो गई थी। केवल ने उसे वैसे ही फर्श पर गिर जाने दिया और आत्म-रक्षा के लिए वह सामने खड़ी, पुकारने के लिए तैयार सास पर टूट पड़ा। सास के मुँह के शब्द निकल पाने से पहले ही केवल ने सास के भरपूर शरीर को बाहों में ले, समीप पड़े पलंग पर गिरा कर ऊपर से दबा लिया...।

केवल ने सास का गला नहीं दबाया; परन्तु अवस्था ऐसी थी कि सास चिल्ला न सकती थी। उसने दबे स्वर में विरोध किया—"हैं, हैं, क्या करते हो ?" परन्तु विरोध को स्वीकार करना केवल के लिए जीने मरने का प्रश्न था।

बहू सुध सँभालते ही कमरे से खिसक गई थी। दस मिनट बाद जब सास ने केवल की बाँहों से मुक्ति पाई तो केवल के गाल पर ठुनका दे मुस्कराकर शिकायत की—"बड़े वैसे हो तुम !"

—प्रतिष्ठा का बोझ

यशपाल की एक दूसरी कहानी है जिसमें एक पिता अपनी पुत्री पर ही टूट पड़ता है। क्रोध करते-करते वह काम के वशीभूत हो जाता है। पता नहीं रस-शास्त्रियों ने रौद्र और शृंगार का कैसे विरोध बतलाया है !

"प्रो० डंडा परे फेंक अस्त-व्यस्त वस्त्रों में चारपाई पर पड़ी ज्ञानवती को थप्पड़ों और घूँसों से पीटने के लिए उस पर झुक पड़े। उनके हाथ ज्ञान के शरीर पर जहाँ तहाँ पड़ रहे थे। ज्ञान के शरीर का स्पर्श उनके हाथों को शक्ति दे रहा था। कुछ ही समय पूर्व चाँदनी में पगडन्डी पर चलते समय ज्ञान के इसी सीने की तुलना लाजो के सीने से करने का चित्र उनके मस्तिष्क में ताजा हो गया। उनकी क्रोध से धुँधली दृष्टि अट्ठारह वर्ष पूर्व का चित्र देखने लगी। उनके हाथ ज्ञान के शरीर को पीटने की अपेक्षा गूँधने, नोचने और पकड़ने लगे।

चोट की मार चुपचाप सहती ज्ञान अब पिता के उच्छृङ्खल हाथों को रोकने का यत्न करती हुई विरोध में बोली—"पिता जी आप क्या कर रहे हैं ?"

प्रो० विमूढ़ हो चुके थे। उन्होंने उसकी पुकार रोकने के लिए उसके मुख पर हाथ रख उसे शक्ति से वश में करना चाहा; परन्तु ज्ञान तिलमिला कर उनकी पकड़ से छूट गई और फुफकार कर बोली—पिता जी आप मुझसे व्यभिचार करना चाहते हैं। ऐसा पाप नहीं करने दूँगी।"

दाँत पीस कर ज्ञान को फिर पकड़ने का यत्न करते हुए प्रो० ने कहा—"पापिन तू नौकर के साथ व्यभिचार नहीं कर रही थी ?"

—धर्म-रक्षा

एक तीसरे प्रगतिवादी हैं श्री नागार्जुन। उनकी गणना प्रगतिवाद के प्रमुख स्तंभों में होती है। उन्होंने एक उपन्यास लिखा है—रतिनाथ की चाची। यथार्थवाद के नाम पर वे महापंडित राहुल और यशपाल से भी आगे बढ़े हुए हैं। राहुल जी ने काम-संबंध स्त्री-पुरुषों में ही दिखाया, पर नागार्जुन ने वे कोने खोज लिए जहाँ लड़के आपस में रस लेते हैं—

"रतिनाथ को नींद आ गई; परन्तु वह गाढ़ी नहीं थी। सोते समय मालूम हुआ कि कोई धीरे-धीरे उसकी जाँघ पर हाथ फेरने लगा है। लड़के की आँख खुल गई और वह सावधान हो गया। देखा कि पास सोने वाला उससे बिल्कुल सट रहा था, यद्यपि बिस्तरा खूब चौड़ा था। रत्ती के जागने से सूर्यदेव एक दम निश्चेष्ट पड़ गया। थोड़ी देर में रतिनाथ को फिर नींद आ गई। अब सूर्यदेव ने अपनी एक जाँघ लड़के की कमर पर रख दी थी। इस बार रत्ती को लगा कि कोई उसके जननेंद्रिय को उँगली से छेड़ रहा है, साथ ही पीठ की ओर हल्का धक्का भी दे रहा है। रतिनाथ सतर्क हो गया। वह हाथ उसने हटा दिया और करवट बदल ली। वह उठकर बाहर आ जाना चाहता था कि सूर्यदेव ने उसकी मुट्ठी में दो रुपये डालकर शांतिपूर्वक लेटे रहने का इशारा किया।

—रतिनाथ की चाची

हिंदुओं की वैवाहिक प्रथा में बहुत से दोष आ गए हैं। उसमें पुरुष एक दम स्वतंत्र है, नारी एक दम परतंत्र। यहीं से अनेक प्रकार की विषमताएँ उत्पन्न हो जाती हैं। पति पत्नी की मृत्यु पर दूसरा, तीसरा, चौथा विवाह कर लेता है, पत्नी विधवा होने पर नहीं कर सकती। बहुत से पुरुष दो-दो पत्नियाँ एक-साथ रखते हैं। पति मदिरासेवी, जुआरी और वेश्यागामी हो सकता है। पत्नी को उससे कहने का कुछ अधिकार नहीं है। घर का वह छोटे से छोटा काम करती है, पर फिर भी उसे चैन नहीं। पति की मृत्यु के उपरांत उसका जीवन एकदम अंधकारमय हो जाता है। उसकी इस महापरवशता का कारण वैवाहिक प्रथा का दोष तो है ही, पर इससे भी बड़ा कारण है यह कि वह आर्थिक दृष्टि से स्वतंत्र नहीं है। अपने जीवित रहने के लिए उसे दूसरों का

मुँह ताकना पड़ता है और यही कारण है कि उसके आँसू कोने में ही सूख जाते हैं।

ऐसी दशा में यह उचित ही है कि भविष्य का समाज उसे मुक्त करे। उसे पूर्ण स्वतंत्रता मिलनी चाहिए। जो पुरुष के अधिकार हैं वे उसके अधिकार होने चाहिए। पर स्त्री और पुरुष बहुत दिन तक पृथक नहीं रह सकते। यहीं नैतिकता का प्रश्न आकर फिर भी खड़ा होता है। भविष्य के नर-नारी नए समाज में अपने उत्तरदायित्व को पूर्ण रूप से समझेंगे। विवाह की प्रथा सहसा मिट तो नहीं जायगी, पर वह इतनी जड़ भी नहीं रहेगी। पति-पत्नी जीवन-साथियों के समान रहेंगे यदि साथी चुनने में भूल होगी तो दोनों को अधिकार रहेगा कि वे सदिच्छा से साथी बदल लें। स्वस्थ समाज में सैक्स का संबंध ऐसा होना चाहिए जिसमें समाज के हेतु उपयोगी रहने के लिए स्वास्थ्य पर कोई बुरा प्रभाव न पड़े और साथ ही प्रेम के लिए किसी के शरीर या मन के साथ बल का प्रयोग न करना पड़े।

प्रगतिवाद और कलाकार

प्रगतिवाद के प्रचार से यही नहीं कि आधुनिक साहित्य पर प्रभाव पड़े, वरन् सारे हिंदी साहित्य पर प्रभाव पड़ेगा। आज का प्रगतिवादी आलोचक छायावादी काव्य को प्रतिक्रियावादी काव्य कहता है। उसने और भी कई शब्दों का निर्माण किया है जैसे पलायनवाद आदि। अभी तो उसके साहित्यिक मानदंड स्थिर नहीं हुए, पर आगे चलकर निश्चित रूप से वह उन्हें सारे साहित्य पर लागू करेगा और उन्हीं के अनुसार वह साहित्य का मूल्यांकन करेगा। बहुत संभव है वह काव्य या साहित्य की व्याख्याएँ ही बदल दे। इस सम्बन्ध में कई बातें स्मरण रखनी चाहिए। पहली यह कि ऐसी आलोचना केवल प्रगतिवादी आलोचना होगी। वह भी आलोचना का एक रूप होगा, पर वही रूप सब कुछ नहीं होगा। वह एक दृष्टिकोण मात्र होगा, पूर्ण सत्य न होगा। दूसरे भिन्न प्रकार के आलोचक भी सदैव उत्पन्न होते रहेंगे जो उस काल की परिस्थितियों को ही नहीं, कवि की भावनाओं को ध्यान में रखते हुए सत्य को समग्रता में ग्रहण करते रहेंगे। तीसरे, साहित्य की

वास्तविक आलोचना समाज करेगा। आलोचकों के लाख प्रयत्न करने पर भी समाज के प्राणों को जो साहित्य प्रभावित करेगा, उसे कोई मिटा न सकेगा!

एक दूसरा प्रश्न साहित्य और राजनीति का है। क्या लेखक को किसी राजनीतिक वाद का प्रचारक होना चाहिए? हमारा स्पष्ट उत्तर है: नहीं। लेखक का व्यक्तित्व सभी प्रकार के वादों से ऊपर होता है। उसके ऊपर किसी प्रकार का दबाव नहीं डालना चाहिए! वह सभी क्षेत्रों से अपने काम के तथ्य चुनकर और उन्हें प्राणों के रस में डुबा कर उसी प्रकार बरसा देता है जैसे बादल खारे समुद्र से जल भर कर उसे मीठा बनाकर धरती को उर्वर करने के लिए लौटा देते हैं। इस संबंध में प्रसिद्ध समाजवादी नेता आचार्य नरेन्द्र देव की सम्मति को मैं अत्यंत मूल्यवान मानता हूँ—

"जीवन-संघर्ष से पृथक रहकर सच्चे और प्रगतिशील साहित्य की सृष्टि संभव नहीं है। किन्तु इस कथन का यह तात्पर्य कदापि नहीं कि कलाकार के लिए राजनीतिक संघर्ष में लिप्त होना आवश्यक है। संघर्ष के इतने निकट रहना कि वह उसका निरीक्षण कर सके, उसके लिए आवश्यक है। किन्तु संघर्ष के संबंध में निष्पक्ष सम्मति बना सकने और साहित्य-सृजन के लिए अवकाश प्राप्त करने के लिए संघर्ष में सक्रिय भाग लेने से कलाकार को बचना पड़ता है।"

नव प्रभात

प्रगतिवाद हिंदी साहित्य की नवीनतम प्रवृत्ति है। वह जीवन की कठोर वास्तविकता को लेकर चलती है। यह सत्य है कि साहित्य कभी स्थिर नहीं रहता, वह एक प्रवृत्ति में बँधकर नहीं चलता। समय के साथ उसका 'विषय' ही नहीं बदल जाता, उसकी 'कला' भी बदल जाती है। यह हुआ विकास का एक रूप। परन्तु आज जिस अर्थ में 'प्रगति' शब्द का प्रयोग होता है वह भिन्न प्रकार का है। आज प्रगति का अर्थ है मार्क्स द्वारा प्रतिपादित जीवन दर्शन को अपनाना। उसके अनुसार साहित्यिकों को अपनी रचनाओं के द्वारा जनता में ऐसी भावना भरनी है जिससे वे एक वर्गहीन समाज की स्थापना में विश्वास करने लगें। वैसी स्थिति के लिए भारत में अभी देर है; अतः अभी किसान और मजदूर अर्थात् शोषित वर्ग के दुःख और दूसरी ओर पूँजीपतियों

Library Sri Pratap College.
Srinagar

के अत्याचार को चित्रित किया जा रहा है। इसमें वर्ग संघर्ष की भावना प्रबल होगी और जनता के जागरण पर पूँजीवादी प्रथा एक दिन सदैव को सो जायेगी। भारतवर्ष में जो पिछले पन्द्रह वर्षों में प्रगतिवाद अधिक सफल नहीं हुआ उसका कारण एक तो यह है वह हमारे आचार-विचार, हमारी संस्कृति और देश के वातावरण के बिल्कुल अनुकूल नहीं था। अनुकूल तो वह आज भी नहीं है, पर संसार की स्थिति आज बदल रही है और उसके अनुकूल हो रही है। प्रत्येक महायुद्ध के उपरान्त जो यह आशा बँधती दिखाई देती थी कि अब शान्ति और सुख का साम्राज्य छा जायगा वह छाता नहीं दिखाई देता। दूसरे अभी तक जो साहित्यिक खड़ी बोली ने उत्पन्न किए थे—उदाहरण के लिए अयोध्यासिंह उपाध्याय, मैथिलीशरण गुप्त, जयशंकर प्रसाद, सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला', सुमित्रानन्दन पन्त, महादेवी वर्मा, रामचन्द शुक्ल, प्रेमचन्द आदि, वैसा कोई भी साहित्यिक प्रगतिवाद उत्पन्न नहीं कर सका। जिन नामों को लेकर वह गर्व कर सकता था, उन पर भी इस युग से अधिक पिछले युग का अधिकार था। तीसरे जिन अधकचरे साहित्यिकों को प्रगतिवाद ने प्रोत्साहन दिया, उन्होंने विषय और कला की दृष्टि से बड़ी हीन रचनाएँ हिंदी साहित्य को दीं। परिणाम यह हुआ कि उन रचनाओं के आधार पर शिक्षित जनता की धारणा यह हुई कि यदि इसी का नाम प्रगतिवाद है तो उसका साहित्य में न पनपना ही श्रेयस्कर होगा। परन्तु प्रगतिवादी लेखकों के दोषों को हम प्रगतिवाद के दोष नहीं मान सकते। समय आ गया है कि प्रगतिवाद के क्षेत्र में भी महान् साहित्यिक उत्पन्न हों। आज से कई वर्ष पूर्व 'बच्चन' जी ने पिछली स्थिति को दृष्टि में रखते हुए लिखा था :—

ढले न गीत में नवल विहंग स्वर,
चले न स्वप्न ही नवीन पंख पर,
न खोल फूल ही सके नए नयन,
युग प्रभात
में अभी
विलंब है।

नहीं, युग प्रभात अब हो गया।

———

पंत की प्रगतिशीलता

पन्त की प्रगति के चरण हैं—ईश्वर, प्रकृति, प्रणय, जीवन और आशा अर्थात् रहस्यवाद, प्रकृतिवाद, रोमांचवाद, प्रगतिवाद और भविष्यवाद। 'युगान्त' के प्रारम्भ से ही प्रगतिवाद उनके काव्य में प्रारम्भ हो जाता है और 'युगवाणी' तथा 'ग्राम्या' में वह अपनी जड़ें जमा लेता है। व्यक्तिवाद से समाजवाद की ओर मुड़ना पन्त के जीवन और काव्य की स्वाभाविक परिणति थी। बचपन से ही वे चिन्तनशील रहे हैं। हो नहीं सकता था वे एक स्थान पर रुक जाते। और आज भी वे प्रगतिवादियों के बाँधे बँधे कहाँ हैं! बढ़े ही चले जा रहे हैं। पर उनके उधर मुड़ने से प्रगतिवादियों ने तुरन्त लाभ उठाया और लिखा, "श्री प्रेमचन्द के बाद श्री सुमित्रानन्दन पन्त का प्रगतिवादी आन्दोलन में सक्रिय रूप से प्रविष्ट होना एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण घटना है।" परिणाम यह हुआ कि ज्यों ही उन्होंने बँधी हुई लकीर को छोड़ा, उनकी रचनाओं में बहुत से दोष निकल आए। फिर भी इसमें संदेह नहीं कि उनकी कुछ रचनाओं की प्रगतिवादियों ने जी खोलकर प्रशंसा की। 'युगवाणी' की कविताओं के लिए प्रकाशचन्द्र गुप्त ने लिखा ही था : भविष्य के समाज में 'यह टेक्स्ट बुकों' में शायद रखी जावें। 'ग्राम्या' पर श्री शिवदानसिंह चौहान ने सम्मति दी : ग्राम्या पन्त जी अनुपम कृति है। डा० रामविलास शर्मा और भी आगे बढ़ गए। उन्होंने घोषित किया : ग्राम्या प्रगतिशील कविता का एक ऐतिहासिक मार्ग चिह्न है।

मानसिक विकास

पन्त जी जब बहुत अधिक भावुक थे, उसी समय से उनके भीतर चिन्तन की प्रवृत्ति रही है। यही कारण है कि उनकी भावुकता बराबर कम होती गई

है और चिन्तन प्रधानता प्राप्त करता गया है। यहाँ तक कि अब चिन्तन ही सब कुछ हो गया है। 'वीणा' में जिस समय भक्ति से गद्‌गद् हो वे मा से आत्म-निवेदन कर रहे थे, उस समय भी विश्व-प्रेम और विश्व-सेवा की बात उनके मन में उठती थी—

विश्व-प्रेम का रुचिकर राग
पर-सेवा करने की आग,
इसको संध्या की लाली सी
मा! न मन्द पड़ जाने दे!

—१९१८

'पल्लव' यद्यपि प्रकृति का क्रीड़ागार है, पर कवि व्यक्तिगत सुख-दुःख का अनुभव करते हुए भावनाओं को विश्व-व्यापी रूप दे देता है, क्रंदन और अश्रु को विराटता प्रदान करता हुआ वह कहता है—

विश्व-वाणी ही है क्रंदन
विश्व का काव्य अश्रु कन

और इसी 'पल्लव' में तो वह 'परिवर्तन' शीर्षक रचना है जो पन्त जी को प्रथम बार प्रौढ़ विचारक के रूप में प्रस्तुत करती है। इसमें कवि स्वर्णिम अतीत के विनाश, वर्तमान की पीड़ा और भविष्य के निर्माण पर पछताता, शोक ग्रस्त होता और चिन्तन करता पाया जाता है।

कहाँ नश्वर जगती में शान्ति!
सृष्टि का ही तात्पर्य अशान्ति!
जगत अविरल जीवन संग्राम,
स्वप्न है यहाँ विराम!
एक सौ वर्ष, नगर उपवन,
एक सौ वर्ष विजन वन!
—यही तो है असार संसार
सृजन, सिंचन संहार!

—१९२४

और 'गुञ्जन' में तो उसने स्पष्ट ही कहा है—

तप रे मधुर मधुर मन!
विश्व-वेदना में तप प्रतिपल,
जग-जीवन की ज्वाला में गल।

—१९३२

'गुञ्जन' में ही उन्होंने अनुभव किया था कि संसार को परिवर्तित होने और परिवर्तित करने की आवश्यकता है। इस पुराने संसार में मनुष्य स्वाभाविक साँसें नहीं ले सकता। उनके भीतर से पुकार उठी—

मैं प्रेमी उच्चादर्शों का,
संस्कृति के स्वर्गिक-स्पर्शों का,
जीवन के हर्ष-विमर्शों का;
लगता अपूर्ण मानव-जीवन,
मैं इच्छा से उन्मन, उन्मन!
जग-जीवन में उल्लास मुझे,
नव-आशा, नव-अभिलाष मुझे
ईश्वर पर चिर-विश्वास मुझे;
चाहिए विश्व को नव-जीवन,
मैं आकुल रे उन्मन, उन्मन!

इस प्रकार उनका यह चिन्तन चलता रहा और 'युगान्त' काल प्रारम्भ होते ही पिछला सब कुछ परित्याग कर एक नई दिशा की ओर वे मुड़ गये। मधुवर्षी कवि से उन्होंने पावक-कण बरसाने को कहा। विचारों के परिवर्तन की दृष्टि से उनकी 'कोकिल' रचना अत्यन्त महत्वपूर्ण है—

गा, कोकिल, बरसा पावककण!
नष्ट भ्रष्ट हो जीर्ण पुरातन,
ध्वंस भ्रंस जग के जड़ बन्धन!
पावक-पग धर आवे नूतन,
हो पल्लवित नवल मानवपन!

N
Library Sri Pratap College Srinagar.

गा, कोकिल, नव गान कर सृजन !
रच मानव के हित नूतन मन,
वाणी, वेश, भाव नव शोभन,
स्नेह, सुहृदता हो मानस-धन,
करें मनुज नव जीवन-यापन !
गा, कोकिल, संदेश सनातन !
मानव दिव्य स्फुलिंग चिरंतन,
वह न देह का नश्वर रजकण
देश काल है उसे न बन्धन,
मानव का परिचय मानवपन !
कोकिल, गा, मुकुलित हों दिशि-क्षण ?

कोकिल से, जो कवि का प्रतीक है, पन्त जी, पावक-कण बरसाने की प्रार्थना इसलिए कर रहे हैं कि मृत प्राचीन भस्म होकर नवीन युग का अवतरण इस पृथ्वी पर हो सके। पुराचीन की कार्य-अवधि जब पूरी हो चुकी तब धरा के मञ्च से उसका हट जाना ही ठीक है—

द्रुत झरो जगत के जीर्ण पत्र,
हे स्रस्तध्वस्त, हे शुष्क शीर्ण !
हिम-ताप-पीत, मधुवात-भीत,
तुम वीतराग, जड़, पुराचीन !!

—युगांत

नवीन दृष्टिकोण

युगान्त में जिस नवीन दृष्टिकोण का कवि ने आभास मात्र दिया है, युगवाणी में उसी की व्याख्या की है और ग्राम्या में उसी के व्यावहारिक पक्ष की स्थापना। युगान्त पन्त के नवीन दृष्टिकोण की भूमिका है, युगवाणी उसका दर्शन पक्ष और ग्राम्या उसी का व्यावहारिक प्रयोग।

यह नवीन दृष्टिकोण क्या है ?

एक सर्वथा नवयुग की कल्पना काव्य में पन्त का नवीन चरण है। यह

नवीन दृष्टिकोण ऐसा नहीं है जो उनके मानसिक विकास के सामंजस्य में न हो। अध्यात्म से प्रकृति, प्रकृति से प्रेम, प्रेम से जीवन और जीवन से जगत की रूपरेखा ही इस भाव-विकास के कोटियाँ हैं। पन्त सूक्ष्मता से स्थूलता की ओर, कल्पना से सत्य की ओर बढ़ते रहे हैं। युगवाणी और ग्राम्या में ठोस और सत्य जगत ही उनके चिन्तन का विषय रहा है। प्रत्यक्ष जगत, हँसता-क्रंदन करता जगत, उठता-गिरता जगत, सुन्दर-कुत्सित जगत, सोने-मिट्टी का जगत ही अब उनकी कल्पना का आधार है।

चिन्तन के आधार के बदलते ही चिन्तन के माप-दंड बदल जाते हैं; अतः पहली उल्लेखनीय बात जो हम युगवाणी में पाते हैं वह यह कि सूक्ष्म वस्तुओं के स्थान पर कवि अब साकार, स्थूल और ठोस वस्तुओं को देखना चाहता है। भाव के स्थान पर मूर्ति, झंकार के स्थान पर जीवन-गीत, कल्पना के स्थान पर रक्त-मांस लाना चाहता है। कोरे भाव, कोरे स्वर, कोरी कल्पना उसे अपेक्षित नहीं। वह अपने भाव की सजीव प्रतिमा देखना चाहता है, झंकार को निश्चित गीत के रूप में बदलना चाहता है और चाहता है कि उसकी कल्पना सजीव हो उठे। आत्मा की चर्चा के स्थान पर पवित्र आत्मा-वान्, स्नेह की चर्चा के स्थान पर अमित स्नेहशील व्यक्ति उसे चाहिये। हम मानसी विभूतियों की चर्चा न करें, प्रत्येक व्यक्ति का मन स्वर्गीय हो। हमारे चिन्तन हमारे कर्मों में परिवर्तित हो जायँ। सबसे बड़ी बात यह कि व्यक्ति के रूप में सोचना छोड़, समष्टि के रूप में हम सोचें, केवल अपनी मुक्ति न चाहें, सभी को स्वतन्त्र रखने के लिए प्रयत्नशील हों और कवि लोग भी अब व्यक्तिगत सुख-दुःख की बात न उठा जनता के सुख-दुःख से एकाकार हों—

सर्व मुक्ति हो मुक्ति-तत्व अब,
सामूहिकता ही निजत्व अब।

इस प्रकार हम देखते हैं कि कवि का ध्यान सब ओर से खिंचकर आज मानव पर केन्द्रित हो गया है। यह मानव रहता है धरती पर और अपने रहने के लिए उसने कुछ आदर्श बना लिए हैं। इस प्रकार कवि को तीन बातों पर चिंतन करना आवश्यक हो गया (१) धरती (२) मानव (३) कला और संस्कृति।

इसमें संदेह नहीं कि पन्त हमारी धरती को प्यार करते हैं, क्योंकि धरती को बिना प्यार किए कोई भी धरती के गीत नहीं लिख सकता। उन्होंने स्पष्ट कहा है : आकाश की ओर न ताको, उसमें कुछ नहीं है, धरती का सुन्दर मुख देखो—

ताक रहे हो गगन ?
मृत्यु—नीलिमा—गहन गगन ?
अनिमेष, अचितवन, काल-नयन ?—
निःस्पन्द शून्य, निर्जन निःस्वन ?
देखो भू को !
जीव प्रसू को !
हरित भरित
पल्लवित मर्मरित
कूजित गुञ्जित
कुसुमित
भू को !

धरती को प्यार करने वाले के स्वभाव में जो पहला परिवर्तन होता है वह यह कि विरोधी तत्त्व के संबंध में उसका दृष्टिकोण बदल जाता है। उसका दृष्टिकोण एकांगी नहीं रहता। वह पूर्ण हो जाता है। एक समय था जब पंत जी को केवल रूप भाता था, केवल सुन्दर पर उनकी दृष्टि रहती थी। पर धरती को प्यार करते ही सुन्दर के साथ कुरूप का स्थान भी उन्होंने स्वीकार किया—

हे कुरूप, हे कुत्सित प्राकृत,
हे सुन्दर, हे संस्कृत, सस्मित,
आओ जग जीवन परिणय में
परिचित से मिल बाँह भरो !

एक दिन सौंदर्य-वृत्ति केवल सुन्दरता का चयन करती थी, पर आज वे सौंदर्य-वृत्ति को ऐसा चाहते हैं जो कुरूप को सहन भी कर सके—

वह अन्तः सौंदर्य, सहन कर सके

वाह्य वैरूप्य विरोध !

इसी प्रकार जीवन संघर्ष से भी आज कवि मुँह नहीं मोड़ता। वह घोषित करता है—

जीवन संघर्षण देता सुख
लगता ललाम !

आज उसकी सत्य की व्याख्या भी बदल गई है। प्रत्येक वस्तु को वह जनता और जन-हित की दृष्टि से देखता है—

धर्म नीति औ' सदाचार का
मूल्यांकन है जन-हित
सत्य नहीं वह, जनता से जो
नहीं प्राण—संबंधित

मार्क्सवादी दर्शन का प्रभाव

'युगवाणी' में मार्क्सवादी दृष्टिकोण ने कवि को प्रभावित किया है, यह स्पष्ट देखा जा सकता है। 'मार्क्स के प्रति' रचना में कवि ने मार्क्स के प्रति अपने उद्‌गार प्रकट करते हुए उन्हें प्रलयंकर शिव का तीसरा ज्ञान—चक्षु बतलाया है। इससे अधिक मार्क्स के लिए वह और क्या कह सकता था ! आगे की अनेक रचनाओं में मार्क्सवादी दर्शन की छाप है जो मार्क्सवाद के प्रति कवि के विश्वास को प्रकट करती है। संसार, इतिहास और समाज की जैसी व्याख्या साम्यवाद करता है वैसी ही व्याख्या पंत जी ने की है। अंतर केवल बात करने और पद्यबद्ध करने का है। वही संसार को सत्य मानना, वही सामूहिक हित की दृष्टि से सब कुछ सोचना, वही पूँजीवाद को सब प्रकार के कष्टों के लिए उत्तरदायी ठहराते हुए उसे मरणासन्न घोषित करना, वही द्वन्द्वात्मक तर्क प्रणाली से काम लेना, वही साम्यवाद के साथ स्वर्ण-युग का पदार्पण मानना—सब कुछ वही है। साम्राज्यवाद और पूँजीपतियों की निंदा भी कवि ने साम्यवादी दृष्टिकोण से की है। दूसरी दिशा में इसी दृष्टिकोण से प्रभावित होकर किसानों और मज़दूरों की प्रशंसा भी की गई है। यहीं तक नहीं, हथौड़े पर भी एक

रचना प्रस्तुत है। नीचे के उद्धरणों से कवि का यह दृष्टिकोण स्पष्ट हो जायगा—

भूत दर्शन

कहता भौतिकवाद, वस्तु जग का कर तत्वान्वेषण—
भौतिक भव ही एक मात्र मानव का अन्तर दर्पण!
स्थूल सत्य आधार, सूक्ष्म आधेय, हमारा जो मन,
वाह्य विवर्तन से होता युगपत् अन्तर परिवर्तन!
राष्ट्र, वर्ग, आदर्श, धर्म, गत रीति नीति औ' दर्शन
स्वर्ण पाश हैं: मुक्ति योजना सामूहिक जन जीवन!
नवोद्भूत इतिहास भूत सक्रिय, सकरण, जड़-चेतन
द्वन्द्व तर्क से अभिव्यक्ति पाता युग युग में नूतन!
साम्यवाद के साथ स्वर्ण युग करता मधुर पदार्पण,
मुक्त निखिल मानवता करती मानव का अभिवादन!

साम्राज्यवाद

मुखियों के, कुलपति, सामंत, महन्तों के वैभव क्षण
बिला गए बहु राज तंत्र,—सागर में ज्यों बुद्बुद कण!
रजत स्वप्न साम्राज्यवाद का ले नयनों में शोभन
पूँजीवाद निशा भी है होने को आज समापन!

धनपति

वे नृशंस हैं: वे जन के श्रमबल से पोषित,
दुहरे धनी, जोंक जग के, भू जिनसे शोषित!
सुरांगना, सम्पदा, सुराओं से संसेवित,
नर पशु वे: भू भार: मनुजता जिनसे लज्जित!
दर्पी, हठी, निरंकुश, निर्मम, कलुषित, कुत्सित,
गत संस्कृति के गरल, लोक जीवन जिनसे मृत!
जग जीवन का दुरुपयोग है उनका जीवन,
अब न प्रयोजन उनका, अन्तिम हैं उनके क्षण!

कृषक

युग युग का वह भारवाह, आकटि नत मस्तक,
निखिल सभ्य संसार पीठ का उसके स्फोटक!
वज्र मूढ़, जड़ भूत, हठी, बृष बांधव कर्षक,
ध्रुव, ममत्व की मूर्ति, रूढ़ियों का चिर रक्षक!
विश्व विवर्तनशील, अपरिवर्तित वह निश्चल,
वही खेत, गृह-द्वार, वही वृष, हँसिया औ' हल!
युग युग से निःसंग, स्वीय श्रमबल से जीवित,
विश्व प्रगति अनभिज्ञ, कूप-तम में निज सीमित।
कर्षक का उद्धार पुण्य इच्छा है कल्पित
सामूहिक कृषि काय-कल्प, अन्यथा कृषक मृत!

श्रमजीवी

वह पवित्र है : वह जग के कर्दम से पोषित,
वह निर्माता : श्रेणि, वर्ग, धन, बल से शोषित!
दैन्य कष्ट कुण्ठित—सुन्दर है उसका आनन,
गन्दे गात वसन हों, पावन श्रम का जीवन!
भूख प्यास से पीड़ित उसकी भद्दी आकृति,
स्पष्ट कथा कहती, कैसी इस युग की संस्कृति!
वह पशु से जघन्य मानव—मानव की है कृति!
जिसके श्रम से सिंची समृद्धों की पृथु सम्पति!
शीत ताप औ' क्षुधा तृषा में सदा संयमित,
दृढ़ चरित्र वह, कष्ट सहिष्णु, धीर, निर्भय चित!
लोक क्रान्ति का अग्रदूत, वर वीर, जनादृत,
नव्य सभ्यता का उन्नायक, शासक, शासित।

घन नाद

ठङ्—ठङ् ठन!
व्यर्थ विचारों का संघर्षण,

Library Sri Pratap College Srinagar

अविरत श्रम ही जीवन साधन;
घोषित करता घन वज्र-स्वन—
ठङ्—ठङ् ठन !

इस दृष्टिकोण से प्रभावित होकर कहीं-कहीं उन्होंने ऐसी बात कह दी है कि यदि वे मार्क्सवादी दर्शन से प्रभावित न होते तो उस सीमा तक न जाते। पंत जैसा सूक्ष्मता का प्रेमी मांसलता के सम्बन्ध में कहता है—

कहाँ खोजने जाते हो
सुन्दरता औ' आनन्द अपार ?
इस मांसलता में है मूर्तित
अखिल भावनाओं का सार !

शत वसन्त, शत ग्रीष्म, शरद का
मांस बीज में है आवास,
ईश्वर है यह मांस, पूर्ण यह,
इसका होता नहीं विनाश !

मांसों का है मांस, मानुषी मांस
करो इसका सम्मान,
निर्मित करो मांस का जीवन,
जीवन मांस करो निर्माण !

साम्यवादी दृष्टिकोण के सम्बन्ध में उद्धरण कुछ आवश्यकता से अधिक हो गए। परन्तु इन उद्धरणों से कई बातों का पता चलता है। साम्यवादी दर्शन और साम्यवादी दृष्टिकोण को अब तक एक स्थान पर जिस स्पष्टता, विश्वास और पूर्णता से पंत ने उपस्थित किया है, उस प्रकार अन्य किसी साम्यवादी कवि ने नहीं। उन जैसी चिंतन की व्यापकता और गहराई भी दूसरे छोटे-मोटे साम्यवादी कवियों में नहीं पाई जाती। ये रचनाएँ कवि की दृढ़ आस्था से उद्भूत हैं; अतः कहीं-कहीं सिद्धान्तों और परिचित विचारों को चाहे दुहराने वाली हो गई हों, पर उस कट्टर प्रचारात्मक प्रवृत्ति की गंध इनमें नहीं है जिसके लिए अन्य नारे लगाने वाले कवियों को दोषी ठहराया जाता है। पंत की संस्कृत रुचि

के अनुशासन में चलने के कारण इनमें अश्लीलता और कुरुचि का पुट भी कहीं नहीं दिखलाई देता।

साम्यवादियों से मतभेद

पंत जी साम्यवाद को उसी रूप में स्वीकार नहीं करते जिस रूप में वह पाया जाता है। यहीं से साम्यवादियों के साथ उनका मतभेद प्रारम्भ होता है। यह मतभेद मतवादी और कलाकार का मतभेद है और यही वह स्थान है जहाँ कलाकार अन्य प्राणियों से भिन्न होता है। यदि कलाकार भी राजनीति या किसी दल के पीछे हाथ बाँधकर चलने लगे तो फिर उसके व्यक्तित्व की विशेषता क्या रही। राजनीतिज्ञ, धार्मिक, दार्शनिक और समाज-सुधार के समान कलाकार भी संसार, उसमें व्याप्त दुःख और अशान्ति तथा उस दुःख और अशान्ति के शमन के उपायों पर विचार करता है। उसे पूरा अधिकार है कि वह स्वतंत्र रूप से विचार कर सके और उन विचारों को संसार के सामने रख सके। मतभेद स्वस्थ मस्तिष्क और स्वस्थ आत्मा का परिचायक है। पंत जी की इस बात के लिए प्रशंसा करनी चाहिए कि उन्होंने अपना मतभेद स्पष्ट शब्दों में प्रकट किया है और उस मतभेद पर वे दृढ़ रहे हैं। साम्यवादी विचार-धारा को जो उन्होंने स्वीकार किया था वह लोक-कल्याण की भावना से ही। जब उन्होंने देखा कि यह विचार-धारा अपने में पूर्ण नहीं है, इसमें बहुत-सी कमियाँ हैं तो उन्होंने उसे पूर्णता देने और उन कमियों को पूरा करने के लिए अन्य मनीषियों और चिंतकों की विचारधारा को अपनाया। उनका विश्वास है कि मनुष्य का बाहरी विकास ही पूर्ण विकास नहीं, उसकी चेतना भी पूर्ण रूप से विकसित होनी चाहिए। अहिंसा के भी वे प्रतिपादक हैं और इधर जीवन-सौंदर्य के भी उपासक। अतः मार्क्स के व्यक्तित्व के प्रति आकर्षित होते हुए भी गांधी, अरविंद और रवीन्द्र के प्रति भी उनके हृदय में आकर्षण है। इस प्रकार उनकी मानवता की प्रतिष्ठा एक प्रकार से गांधी-मार्क्स-अरविंद-रवीन्द्र दर्शन की आधार शिला पर होती है। साम्यवाद की देन को वे बहुत बड़ी देन समझते हैं, पर गांधीवाद, अरविंद-वाद और रवीन्द्र के सौंदर्यवाद की देन को भी वे कम नहीं समझते। बाहर

और अन्तर का सम विकास ही वे पूर्ण मानव के लिए आवश्यक समझते हैं। इस प्रकार अंत में दो ही वाद रह जाते हैं जिनका समन्वय उन्हें प्रिय है। वे हैं भौतिकवाद और अध्यात्मवाद। भौतिकवाद के प्रतीक हैं मार्क्स और अध्यात्मवाद के गांधी अरविंद आदि। भौतिकवाद स्थूलता को लेकर चलता है, अध्यात्मवाद सूक्ष्मता को। भौतिकवाद सामूहिकता को महत्त्व देता है, अध्यात्मवाद व्यक्ति को। इसी स्थूल-सूक्ष्म, व्यष्टि-समष्टि के समन्वय से नवीन मानवता की सृष्टि होगी। कोई पूछ सकता है तब पंत की मौलिकता इसमें कहाँ है? यह तो दृष्टियों को समन्वित करना हुआ। उनकी अपनी देन क्या है? पर कवि यहीं नहीं रुक जाता। उसकी दृष्टि इससे कहीं व्यापक है। उसका कहना है कि सत्य इस समन्वय से बड़ा है। वह व्यक्ति-विश्व स्थूल-सूक्ष्म से परे है। ये दोनों वाद तो जीवन-सरिता के दो कूल-मात्र हैं। नीचे की कविता को ध्यान से पढ़िए—

संकीर्ण भौतिकवादियों के प्रति

हाड़ मांस का आज बनाओगे तुम मनुज समाज?
हाथ पाँव संगठित चलावेंगे जग जीवन काज!
दया द्रवित हो गए देख दारिद्र्य असंख्य तनों का?
अब दुहरा दारिद्र्य उन्हें दोगे निरुपाय मनों का?
आत्मवाद पर हँसते हो भौतिकता का रट नाम?
मानवता की मूर्ति गढ़ोगे तुम सँवार कर चाम?
मानव! कभी भूल से भी क्या सुधर सकी है भूल?
सरिता का जल मृषा? सत्य केवल उसके दो कूल
आत्मा औ' भूतों में स्थापित करता कौन समत्व
वहिरंतर, आत्मा भूतों से, है अतीत वह तत्व
भौतिकता आध्यात्मिकता केवल उसके दो कूल,
व्यक्ति-विश्व से, स्थूल-सूक्ष्म से, परे सत्य के मूल!

ग्राम जीवन पर प्रकाश

प्रगतिवाद के आंदोलन से बहुत पूर्व ग्राम जीवन और किसानों के

जीवन पर हिंदी कवियों की दृष्टि पड़ती रही है; परन्तु जब से प्रगतिवाद के रूप में साम्यवाद का प्रचार हुआ, तब से दीन-दुःखियों के जीवन, छोटे लोगों के जीवन, निम्न श्रेणी के व्यक्तियों के जीवन को चित्रित करना आधुनिक काव्य की विशेषता बन गई। भिखारियों, मज़दूरों, किसानों का जीवन शोषित वर्ग के अन्दर समाहित होकर इस प्रकार चित्रित होने लगा जिससे पूँजीपतियों या शोषक वर्ग के अत्याचार प्रत्यक्ष हो सकें और जनसाधारण में यह भावना फैले कि उनके दुःखों का अंत ईश्वर से प्रार्थना करने या बड़े लोगों की दानशीलता अथवा दया से न होगा, पूँजीवाद के विनाश से होगा। कहने का तात्पर्य यह है कि साम्यवाद का एक जीवंत और व्यावहारिक दर्शन है जो जीवन के सभी पक्षों को छूता है और अपने विशिष्ट ढंग पर समस्याओं का समाधान करता है। देखना यह है कि ग्राम जीवन के प्रति पंत जी का दृष्टिकोण इस दृष्टिकोण से कहाँ तक मेल खाता है और कहाँ भिन्न हो जाता है।

एक समय था जब हमने ईश्वर और प्रकृति की शक्तियों के सामने सिर झुकाया और वेद-मंत्रों की रचना की। आगे चलकर हमारी उत्सुकता का विषय राजमहल और राजकुमारों के जीवन की कहानियाँ बनीं। पर आज दृष्टि आकाश और महलों के गुंबदों से उतर कर झोंपड़ों और खेत-खलिहानों में सौंदर्य खोजने का प्रयत्न कर रही हैं। हमारा युग दैवी शक्तियों या सम्राटों का न होकर जनता का युग है। आज का कवि इसी से ईश्वर या सत्ताधारियों से पीठ फेर कर धरती के गीत गा रहा है।

भारतवर्ष गाँवों का देश है और ये गाँव हिंदी कवियों को किसी न किसी रूप में थोड़ा-बहुत बराबर लुभाते रहे हैं। इस युग में जब देश-प्रेम ने बल पकड़ा तो गाँव की ओर हमारे आधुनिक कवियों की भी दृष्टि गई और वे उनकी सहानुभूति, आकर्षण और ममता का केन्द्र बने। परन्तु इन कवियों में श्री सुमित्रानंदन पंत ही एक ऐसे संवेदनशील कवि निकले जिन्होंने ग्राम जीवन पर सबसे अधिक प्रकाश डाला। यहाँ तक कि उनकी काव्यकृति 'ग्राम्या' का मुख्य विषय ग्राम जीवन का चित्रण ही बन गया।

सुमित्रानंदन पंत के संबंध में यह बात स्पष्ट हो जानी चाहिए कि वे किसी वाद के प्रचारक नहीं हैं, जीवन के द्रष्टा हैं। संसार का सुधार करने वाले किसी भी महापुरुष का हृदय जितना कोमल हो सकता था, उससे अधिक कोमल उनका हृदय है। लोक-कल्याण में जिन व्यक्तियों का जीवन रत रहा है, न केवल उनके विचारों का उन्होंने आदर किया है, वरन् उनकी प्रशस्तियाँ भी लिखी हैं। परन्तु उनकी भी अपनी भविष्य-द्रष्टा की दृष्टि है; अतः जहाँ विचारों का मतभेद है, वहाँ उसे उन्होंने स्पष्टता से व्यक्त किया है।

ग्राम-जीवन का एक स्वस्थ पक्ष है। वहाँ की प्राकृतिक शोभा की अकृत्रिमता अपना पृथक् आकर्षण रखती है। वहाँ के लहलहाते खेत, जल भरे नदी-नाले, मैदान-कछार, बन-उपवन, पशु-पक्षी सभी कितने प्रिय लगते हैं। वहाँ के युवक-युवतियों का स्वास्थ्य, वहाँ के आनंदोत्सव, वहाँ के नृत्य-गीत सब कितने प्राणप्रद हैं। कालाकाँकर में रहकर इस प्रकार के कुछ स्वस्थ क्षणों को कवि ने काव्य-बद्ध किया है। धोबियों का नृत्य, कहारों का रुद्र नृत्य, चमारों का नाच, गंगा, संध्या के बाद, ग्राम श्री, ग्राम युवती, नहान आदि ऐसी ही रचनाएँ हैं। श्री, स्वास्थ्य, रोमांस और आनंद की कुछ झलक निम्निलिखित पंक्तियों से मिल सकती है—

(क) अब रजत स्वर्ण मंजरियों से
लद गई आम्र तरु की डाली;
झर रहे ढाँक, पीपल के दल
हो उठी कोकिला मतवाली।

(ख) उन्मद यौवन से उभर
घटा सी नव असाढ़ की सुन्दर,
अति श्याम वरण,
श्लथ, मंद चरण,
इठलाती आती ग्राम युवति
वह गजगति
सर्प डगर पर!

(ग) ऊँची अरहर में लुका-छिपी
खेलतीं युवतियाँ मदमाती,
चुम्बन पा प्रेमी युवकों के
श्रम से श्लथ जीवन बहलातीं।

(घ) अररर .....
मचा खूब हुल्लड़ हुड़दंग,
घमक घमाघम रहा मृदंग !
ज़मींदार पर फबती कसता;
ब्राह्मण ठाकुर पर है हँसता,
बातों में वक्रोक्ति, काकु औ'
श्लेष बोल जाता वह सस्ता,
कल काँटा को कह कलकत्ता।
ये समाज के नीच अधम जन,
नाच कूद कर बहलाते मन,
वर्णों के पद दलित चरण ये
मिटा रहे निज कसक औ' कुढ़न,
कर उच्छृङ्खलता, उद्धतपन।

गाँव के व्यापक जीवन पर भी कवि की दृष्टि पड़ी है। उसने धूलि में खेलते बच्चों, विदा होती बहू-बेटियों और पीतल तथा गिलट के गहनें लादे किसानों की पत्नियों को नहाने के लिए जाते देखा है।

पर यह सुन्दरता, यह निर्द्वन्द्वता, यह मस्ती, यह आह्लाद ग्राम्य-जीवन का एक पक्ष है। उसका एक दूसरा पक्ष भी है जिसमें दरिद्रता है, अज्ञान है, रोग है, कराह है। यहाँ क्षुधा मिटाने को अन्न नहीं, शरीर ढकने को वस्त्र नहीं, रक्षा पाने को घर जैसे घर नहीं। नर-नारी रूढ़ियों में बँधे हुए हैं, छोटी-छोटी बातों पर लड़ते-झगड़ते हैं, जीवन के प्रकाश से मुँह फेरे बैठे हैं। शिक्षा, कला, संस्कृति की बात वहाँ करना व्यर्थ है। चित्र का यह पक्ष भी कवि ने पूरे यथार्थवादी दृष्टिकोण से चित्रित किया है—

(क) यहाँ धरा का मुख कुरूप है
कुत्सित गर्हित जन का जीवन,
सुन्दरता का मूल्य वहाँ क्या
जहाँ उदर है क्षुब्ध, नग्न तन ?

(ख) मिट्टी से भी मटमैले तन,
अधफटे, कुचेले जीर्ण वसन,-
ज्यों मिट्टी के हों बने हुए
ये गँवई लड़के—भू के धन !
कोई खंडित, कोई कुंठित
कृश बाहु, पसलियाँ रेखांकित,
टहनी सी टाँगें, बड़ा पेट,
टेढ़े मेढ़े, विकलांग घृणित !
जग जीवन धारा में बहते
ये मूक, पंगु बालू के कण !

(ग) रे दो दिन का
उसका यौवन !
सपना छिन का
रहता न स्मरण !
दुःखों से पिस,
दुर्दिन में घिस
जर्जर हो जाता उसका तन !
ढह जाता असमय यौवन धन !
बह जाता तट का तिनका
जो लहरों से हँस-खेला कुछ क्षण !!

(घ) अंधकार की गुहा सरीखी
उन आँखों से डरता है मन,

भरा दूर तक उनमें दारुण
दैन्य दुःख का नीरव रोदन!
फूट रहा उनसे गहरा आतंक
क्षोभ, शोषण, संशय, भ्रम,
डूब कालिमा में उनकी
कँपता मन, उनमें मरघट का तम!
आँखों ही में घूमा करता
वह उसकी आँखों का तारा,
कारकुनों की लाठी से जो
गया जवानी ही में मारा!
बिका दिया घर द्वार,
महाजन ने न व्याज की कौड़ी छोड़ी,
रह रह आँखों में चुभती वह
कुर्क हुई बरधों की जोड़ी।

प्रकाश के उन चित्रों की मंद छाया में घने तम के ये चित्र कितने भयावह लगते हैं। अंधकार के इस अजगर को क्या ऐसे ही छोड़ दिया जायगा?

ऐसी स्थितियों का अध्ययन साम्यवादी भी करते हैं और पंत जी ने भी किया है, इनका चित्रण प्रगतिवादी भी करते हैं और पंत जी ने भी किया है। पंत जी के ये चित्र यथार्थवादी हैं, यह स्वीकार करना पड़ेगा। यहाँ तक कट्टर प्रगतिवादी और पंत जी में कोई अंतर नहीं। कोई अंतर यदि हो सकता है तो यही कि किसी अन्य कवि की रचनाएँ एक मतवाद के अन्तर्गत आतीं और ये नहीं आयेंगी। एक ही विषय, एक ही दृश्य, जीवन की एक ही झलक से भिन्न व्यक्ति भिन्न रूप से प्रभावित होते हैं और उस प्रभाव को भिन्न-भिन्न रूप से व्यक्त करते हैं। इन पिछले उद्धरणों को पढ़कर दुःख होता है, दया उत्पन्न होती है। इच्छा होती है मनुष्य इतना दयनीय न होता। मन में एक प्रकार की प्रतिक्रिया का भी जन्म होता है, एक प्रकार की सद्भावना जगती है, और वह यह कि हमसे जितना हो सकेगा इन लोगों के जीवन को सुधारने में

सहायक होंगे। मैं समझता हूँ कवि इन ग्रामीणों के प्रति इतनी सहानुभूति जगाने में सफल हुआ है और कोई कह सकता है कि कला की सिद्धि के लिए इतना पर्याप्त है, एक प्रकार से कवि-कर्म सफल हो गया।

पर जैसे एक ही प्रकार की मिट्टी से भिन्न प्रकार की मूर्तियाँ गढ़ी जा सकत हैं जो दर्शकों के हृदय में भिन्न प्रकार की भावनाएँ जाग्रत करें, वैसे ही काव्य का कोई विषय कई रूपों में मोड़ा जा सकता है। इन्हीं पिछली रचनाओं को इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता था जिससे पाठकों के हृदय में यह भावना जगती कि इन शोषित व्यक्तियों की दुर्दशा का मूल कारण धनपति और पूँजीवादी प्रथा है और जब तक ये दोनों रहेंगे तब तक ये लोग इसी प्रकार पिसते रहेंगे। ऐसी दशा में करुणा के स्थान पर क्षोभ, क्रोध या प्रतिहिंसा की भावना जाग्रत होती और वर्ग-संघर्ष को बल मिलता। इससे क्रांति की भावना शक्तिशालिनी होती। केवल दृष्टिकोण की भिन्नता दिखाने के लिए ग्राम्या की एक कविता लेते हैं। शीर्षक है 'वह बुड्ढा।' एक बुड्ढा है जो ठठरी मात्र रह गया है। पेट उसका पिचका हुआ है। कंधों में गढ़े पड़ गए हैं। एड़ियाँ बिवाई से फटी हुई हैं। कातर वाणी में वह अपना दुःख सुनाता है। कवि को दया उत्पन्न होती है और वह उसे कुछ पैसे दे देता है। चला जाता है वह। निश्चित है कि उसकी इस दशा पर प्रत्येक व्यक्ति पीछे कुछ न कुछ सोचेगा। कोई सोच सकता है कि आख़िर मनुष्य की दशा ऐसी क्यों हुई कि वह गिड़गिड़ा कर किसी के सामने हाथ फैलाए? इस प्रकार एक व्यक्ति कितने माँगने वालों को संतुष्ट कर सकेगा? यह तो सामाजिक रोग है। इसका उपचार तो समाज की व्यवस्था बदलने से ही होगा। ऐसी दशा में उसका चिंतन कुछ इस प्रकार का होता जिससे समाजवाद की स्थापना में व्यक्ति का विश्वास बढ़ता। पर कवि का सौंदर्य-बोध उसे एक भिन्न दिशा में ही ले गया है। उसकी कुरूपता पर उसका अधिक ध्यान जाता है। वह कहता है—

काली नारकीय छाया निज
छोड़ गया वह मेरे भीतर,

पैशाचिक सा कुछ : दुःखों से
मनुज गया शायद उसमें मर!

इतना होते हुए भी पंत जी की सद्भावना पर सन्देह नहीं किया जा सकता। ये उनके सौंदर्य-प्रिय स्वभाव की सीमायें हैं जिनके लिए कुछ भी कहा जा सकता है। इस सौंदर्य-बोध, इस कला-प्रेम और सुरुचि की अवस्थिति ने उन्हें इस दिशा में सोचने के लिए प्रेरित किया है कि मनुष्य का जीवन उच्च से उच्चतर और सुन्दर से सुन्दरतर बने। इसीलिए उन्होंने यह पुकार कभी नहीं उठाई कि गाँवों की ओर लौट चलो। कुछ कवियों ने गाँव को स्वर्ग कह कर छोड़ दिया है, पर सच पूछिए तो उन्हें स्वर्ग कहना चित्र को आधा दिखाना है। पंत जी की दृष्टि से गाँव का जीवन ऐसा नहीं है जिसे आदर्श मानकर स्वीकार कर लिया जाय। उनकी दृष्टि से विज्ञान की सहायता से उसके बाहरी और कला के अनुशीलन से उसके आंतरिक जीवन को विकसित करना चाहिए। पंत जी के ग्राम-वर्णन में यथार्थ के प्रति आग्रह ही नहीं है, महान् कलाकारों का-सा पूर्णता की ओर ले जाने वाला एक संकेत भी है। विज्ञान की शक्ति पर वे चकित हैं और चाहते हैं कि वैज्ञानिक अनुसंधानों से लाभान्वित हो लोग अपने जीवन को भौतिक समृद्धि से परिपूर्ण करें। यंत्रों के सम्बन्ध में वे कहते हैं—

जड़ नहीं यंत्र : वे भाव रूप : संस्कृति द्योतक :
वे विश्व शिराएँ, निखिल सभ्यता के पोषक।
रेडियो, तार औ' फोन—वाष्प, जल, वायुयान,
मिट गया दिशावधि का जिनसे व्यवधान मान—
धावित जिनमें दिशि दिशि का मन—वार्ता विचार,
संस्कृति, संगीत—गगन में झंकृत निराकार।
जीवन सौंदर्य प्रतीक यंत्र : जन के शिक्षक :
युग क्रांति प्रवर्तक औ' भावी के पथ दर्शक।

पर यह स्मरण रखना चाहिये कि किसी भी प्रकार की एकांगिता के पक्ष में पंत जी नहीं। भौतिक समृद्धि को ही वे सब कुछ नहीं समझते। वे देखते

Library Sri Pratap College,
Srinagar.

हैं कि सभी प्रकार के भौतिक साधनों के उपलब्ध होने पर भी संसार में अशान्ति फैली हुई है। विज्ञान की शक्ति से परिचित होते हुए भी वे उसके मादक दोषों से अपरिचित नहीं—

मानव ने पाई देश काल पर जय निश्चय,
मानव के पास नहीं मानव का आज हृदय।
चर्वित उसका विज्ञान ज्ञान : वह नहीं पचित :
भौतिक मद से मानव आत्मा हो गई विजित !

अतः वे बार-बार समझाते हैं—

राजनीति का प्रश्न नहीं रे आज जगत के सम्मुख,
अर्थ साम्य भी मिटा न सकता मानव जीवन के दुख।
आज वृहत् सांस्कृतिक समस्या जग के निकट उपस्थित,
खंड मनुजता को युग-युग की होना है नव निर्मित।

? How

इसी से वे चाहते हैं—

संस्कृत हों सब जन, स्नेही हों, सहृदय, सुन्दर,
संयुक्त कर्म पर हो संयुक्त विश्व निर्भर।
राष्ट्रों से राष्ट्र मिलें, देशों से देश आज,
मानव से मानव—हो जीवन निर्माण काज।

स्वर्ण किरण का चिंतन

स्वर्ण किरण में अनेक स्थलों पर कवि लोक-समस्याओं पर चिंतन और विवेचन करता दिखाई देता है। 'इंद्र धनुष' में वह सोचता है कि विज्ञान से शक्ति पाकर मनुष्य मतवाला हो गया है। कहीं ऐसा न हो कि देवता दानव बन जाय ? भविष्य में पृथ्वी पर स्वर्ग बसेगा या प्रलय मचेगा ? राष्ट्र संगठित होंगे या विभाजित ? शांति का राज्य होगा या अशांति का ? ऐसे कुछ प्रश्न उसे चिंतित बना देते हैं। संसार के दुःख के समाधान के लिए वे चार बातों का होना आवश्यक मानते हैं—

(१) शरीर के लिए अन्न-वस्त्र।

(२) मन के लिए प्रीति।

(३) बुद्धि के लिए शिक्षा—विशेष रूप से ललित कलाओं की।

(४) आत्मा के लिए चेतना का उर्ध्व संचरण।

कवि देखता है प्रकृति तो जीवन, सौंदर्य और आनन्द से युक्त है; परन्तु मनुष्य नहीं। इससे उसे बड़ी पीड़ा होती है। वह चाहता है कि मानव-जगत में भी सौंदर्य, प्रेम, उल्लास लौट आयें।

इसी प्रकार की 'चिंतन' 'भू प्रेमी' 'संक्रमण' आदि उसकी रचनाएं हैं, जहाँ बड़ी व्यापक दृष्टि के साथ लोक-कल्याण की स्थापना के लिए कवि आकुल है। इस प्रकार की समस्त रचनाओं में कवि का दृष्टिकोण प्रगतिवादियों के दृष्टिकोण से कुछ भिन्न है; पर है वह प्रगतिशील दृष्टिकोण ही। 'इंद्रधनुष' वाली रचना में ही कवि ने चेतना के विकास पर जो बल दिया है, उसे कट्टर प्रगतिवादी कभी स्वीकार नहीं करेंगे। 'चिंतन' शीर्षक रचना में 'सामाजिक साधारणता' के महत्व को स्वीकार करते हुए भी 'व्यक्ति' के महत्व को स्वीकार किया है। पंत जी व्यक्ति को इतना नगण्य नहीं समझते। 'सिंधु' के साथ 'विन्दु' का मूल्य भी वे मानते हैं। कवि व्यक्तिगत जीवन से बात प्रारंभ करता है। सोचता है आज जीवन की संध्या मेरी आँखों के सामने आ गई है और मन सामूहिक सुख-दुःख पर ही अधिक चिंतन करने लगा है, पर यौवन की स्मृतियाँ ऐसे में भी उमड़ती हैं और व्यक्तिगत प्रश्नों को सामने लाती हैं। तब क्या इस सामाजिकता के सामने व्यक्ति के निजी प्रश्न कुछ नहीं हैं? यह विंदु-सिंधु, व्यक्ति-समाज का जो प्रश्न उठाया गया है, उसमें सिंधु बूँदों से नहीं बना? उन से भिन्न है क्या? समाज व्यक्तियों से नहीं बना? उनसे भिन्न है क्या? क्या व्यक्ति ही वह तत्व नहीं है जो समाज को बदल देता है?

> क्या यह सामाजिक संघर्षण
> केवल रे मानव का जीवन?
> सुन्दरता, आनन्द, प्रेम के स्वप्न चिरंतन
> क्या केवल प्रभात के उडुगन?

रिक्त शरद घन ?
क्या यह उचित
कि यह सामाजिक साधारणता
मूल्य व्यक्ति का करे नियंत्रित ?
जंगम जीवन ज्वर की जड़ता
करे मनुज आत्मा मर्यादित ?
मानव जीवन नहीं अकूल
अतलता ही में सीमित,
वहाँ बूँद का मान उदधि से
कहीं अधिक है निश्चित !
विंदु सिंधु ? बूँदों का वारिध
बूँदों पर अवलंबित,
व्यक्ति समाज ! व्यक्ति में रहता
अखिल उदधि अन्तर्हित !
सागर की असीमता जड़ है,
जन समाज की जीवित,
सृजन शक्ति का दूत व्यक्ति
करता समाज को विकसित !

यहाँ यह कह देना आवश्यक है कि समाजवाद व्यक्ति के विकास का विरोधी नहीं है। व्यक्ति का कोई काम जहाँ समाज को हानि पहुँचाता है, वहाँ उसकी गति को रोकना आवश्यक हो जाता है। व्यक्ति के समाजविरोधी कार्यों को शायद ही किसी 'वाद' में श्रेयस्कर समझा जाता हो। इसमें कोई सन्देह नहीं कि प्रतिभाशाली व्यक्ति से—चाहे वह राजनीति के क्षेत्र का हो, चाहे विज्ञान के क्षेत्र का और चाहे साहित्य के क्षेत्र का—समाज बल पाता है। पर व्यक्ति का गौरव इसी में है कि उसके कार्य सामाजिक कल्याण की भावना से प्रेरित हों।

'भू प्रेमी' में भी एक समस्या उठायी गई है। कवि का कहना है कि

ऊपर विस्तृत नीलाकाश है और नीचे विस्तृत नील सिंधु। आकाश में जब चाँद हँसता है तो सिंधु की लहरियाँ अपनी बाहें ऊपर की ओर फैलाती हैं। इसी प्रकार यद्यपि मनुष्य पृथ्वी का ही वासी है, फिर भी भू पर अंधकार है इसीसे वह प्रकाश के लिए ऊपर की ओर देखता रहा है। ऐसी दशा में मनुष्य पृथ्वी का है या आकाश का यह एक प्रश्न उठता है। पंत जी सामंजस्य से काम लेते हैं—

अच्छा हो, भू पर हो विचरे यह भू का प्रेमी मानव,
मधुर स्वर्ग आकर्षण से नित होता रहे तरंगित भव!
अन्तर का रूपांतर हो औ' वाह्य विश्व का रूपांतर,
नव चेतना विकास धरा को स्वर्ग बनादे चिर सुन्दर!

इस प्रकार हम देखते है कि 'स्वर्ण किरण' में प्रगतिवादियों से दो बातों में पंत जी का मतभेद है—

(१) प्रगतिवादी भौतिकवादी होते हैं, चेतनावादी नहीं। पंत जी चेतनावादी भी हैं। वे भौतिकवाद और चेतनावाद के समन्वय के पक्ष में हैं।

(२) प्रगतिवादी समष्टिवादी होते हैं, व्यक्तिवादी नहीं। पंत जी व्यक्तिवादी भी हैं। वे समष्टिवाद और व्यक्तिवाद का समन्वय चाहते हैं।

स्वर्ण धूलि की सामाजिक चेतना

समाज की बहुत सी ऐसी समस्याएँ हैं जिन पर प्रत्येक चिंतनशील व्यक्ति की दृष्टि पड़ती है। 'स्वर्ण धूलि' में पंत जी ने कुछ विवादास्पद समस्याओं को उठाया है। उनमें से प्रायः प्रत्येक समस्या हमारे युग से संबंध रखती है। समस्याओं के साथ पंत जी के अपने निर्णय और समाधान भी हैं, जिनसे यह सिद्ध होता है कि ऐसी समस्याओं के सम्बन्ध में 'पंत' जी के अपने क्या विचार हैं। हर्ष की बात है पंत जी ने जहाँ कहीं अपना दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है वह एक दम नवीन और प्रगतिशील है।

एक युवती को कुछ क्रूर और नीच लोग बलपूर्वक भ्रष्ट करके चले जाते हैं। श्वसुर उसका 'हाय' करके रह जाता है, परिजन रो-रो कर कहते हैं—इसका तो धरम बिगड़ गया, पुरजन उसे 'अभागिनी' और 'कलंकिनी'

बतलाते हैं। पर सहानुभूति दिखलाने वाला कोई नहीं। यहाँ तक कि घर की नौकरानी भी उस कुलबधू से आज आँख चुरा रही है! इतने में उसका पति आता है। वह अबला काँप उठती है। न जाने अब क्या होगा! परन्तु पति है जो स्थिति पर विचार करता हुआ कहता है—

'सब सुन चुका!' चीखता केशव,
'बंद करो यह रोना धोना!
उठो मालती, लील जायगा
तुमको घर का काला कोना!

'मन से होते मनुज कलंकित,
रज की देह सदा से कलुषित!
प्रेम पतित पावन है, तुमको
रहने दूँगा मैं न कलंकित!'

—पतिता

एक दूसरी युवती है जिसे जीवित रहने के लिए अपना शरीर दूसरों को अर्पित करना पड़ता है। एक दिन एक व्यक्ति (विनय) उसे (करुणा को) स्वीकार करना चाहता है। वह आँखों में आँसू भर कर कहती है: न जाने आप मेरे संबन्ध में क्या सोचते होंगे, क्योंकि मेरा जीवन तो सदैव परकीया का जीवन रहा है। इस सूचना को पाकर, क्या आप समझते हैं, विनय मर्माहत हुआ? क्या उसे वेश्या, दुराचारिणी और कलङ्किनी कहा? हाँ, मर्माहत तो हुआ उसकी मर्म-कथा की कल्पना करके; पर उसके सोचने का ढंग दूसरा है। वह कहता है: नहीं, आप पवित्र हैं। यह तो जीवन का क्रूर मूल्य था जो आपको चुकाना पड़ा। पति-पत्नी भी यदि अपना जीवन केवल भोग के लिए अर्पित करते हैं, तो दुराचारी हैं। केवल परिणय से ही कोई सम्बन्ध पवित्र नहीं हो जाता। परिणय तो ऐसे लोगों के लिए भोग का साधन (Means) मात्र रहता है। भोग से सामाजिक सृजन-शक्ति का ह्रास होता है। वह प्रशंसनीय वृत्ति नहीं है। स्वकीया और परकीया समाज की परिभाषाएँ हैं। सत्य का सम्बन्ध रूढ़ि से नहीं, हृदय से है; अतः कोई कुछ भी कहे, जिसकी आँखों

में इतने निर्मल आँसू आ सकते हैं, उसे जो अपवित्र बतलाता है, वह स्वयं अपवित्र है।

'पंकिल जीवन में पंकज सी
शोभित आप देह से ऊपर,
वही सत्य जो आप हृदय से,
शेष शून्य जग का आडंबर!
अतः स्वकीया या परकीया
जन समाज की है परिभाषा,
काम-मुक्त औ' प्रीति-युक्त
होगी मनुष्यता, मुझको आशा!'

—परकीया.

इस रचना से पता चलता है कवि का हृदय कैसा सहानुभूतिपूर्ण, उदार और करुणा से द्रवित होने वाला है तथा दृष्टिकोण कितना विवेकपूर्ण, निर्मल और मानवतावादी है!

जाति, वर्ग और धर्म के नाम पर जो लोग रक्तपात कर बर्बरता का परिचय देते हैं, उनके क्रूर कर्मों को देखकर भी कवि का हृदय क्षुब्ध और अशांत रहता है। वह चाहता है कि मनुष्य का परिचय हिंदू, मुस्लिम, ईसाई न होकर मनुष्यत्व हो। इसी प्रकार किसी रक्तपात की, संभवतः साम्प्रदायिक दंगे की, घटना से दुःखी होकर ऐसे लोगों के संबंध में वह कहता है—

ऊर्ध्व मनुज ये नहीं, अधोमुख,
उल्टे जिनके जीवन मान,
अन्धकार खींचता इन्हें है,
गाता रुधिर प्रलय के गान;
ऊर्ध्व मनुज बनना महान् है,
वे प्रकाश की हैं संतान;
ऊर्ध्व मनुज बनना महान् है,
करना उन्हें आत्म-निर्माण?

उन्हें अनादि अनंत सत्य का
करना है आदान प्रदान,
धर प्रतीति ज्वाला हाथों में
करना जीवन का सम्मान ?

—क्षण जीवी

सामंजस्य की बात 'स्वर्ण धूलि' की भी कई रचनाओं में कवि ने उठायी है। भाव की दृष्टि से देखो तो एकता ही सत्य है। धरती एक है, गगन एक है। सत्य की दृष्टि से देखो तो भिन्नता ही सत्य है, भिन्न देह हैं, भिन्न रुचि, भिन्न स्वभाव, भिन्न मन। संसार में स्नेही द्रोही, मूर्ख चतुर, दीन धनी, कुरूप सुन्दर सब पाए जाते हैं। पर संसार में न केवल 'स्वप्न' से काम चलता है और न केवल 'सत्य' से, दोनों में सामंजस्य स्थापित करने पर ही समाज का जीवन चल सकता है—

आत्म सत्य बोली मुसका कर,
'मुझे ज्ञात दोनों का कारण,
मैं दोनों को नहीं भूलती,
दोनों का करती संचालन ?
पंख खोल सपने उड़ जाते,
सत्य न बढ़ पाता गिन गिन पग,
सामंजस्य न यदि दोनों में
रखती मै, क्या चल सकता जग ?'

—सामंजस्य

एक अन्य रचना में जो कथोपकथन शैली पर लिखी गई है कवि एक पात्र से कहलाता है कि जन-संस्कृति की रचना उसी समय हो सकेगी जब मनुष्य अपने सत्वों से परिचित हों। संसार में बहुत थोड़े लोग ऐसे हैं जिन्हें जीवित कहा जा सके। दूसरी दिशा में असंख्य-असंख्य प्राणी ऐसे हैं जो उत्पीड़ित हैं। ऐसी दशा में लौह मुष्टि से हमें सत्ता छीननी होगी, तभी काम चलेगा।

दूसरा पात्र उसे टोकता हुआ उत्तर देता है : मुझे लगता है मनुष्य का मन

अभी एक वृत में घूम रहा है। वह विकास की ओर उन्मुख नहीं। मनुष्य की दृष्टि समतल पर ही दौड़ रही है, वह न ऊपर की ओर उठी है और न अपने भीतर विश्लेषण करती है। वाह्य क्रांति से भी प्रबल जो क्रांति हृदय में चल रही है, उसकी ओर मनुष्य का ध्यान नहीं है। जीवन को वही सत्य परिचालित कर सकेगा जिसका शरीर भौतिकवाद का हो और हृदय अध्यात्मवाद का।

वस्तुओं के संबंध में सोचने का पंत जी का दृष्टिकोण अब स्थिर सा ही हो गया है। 'लोक सत्य' नामक रचना में, जिसका उल्लेख ऊपर हुआ, यह बात देखने योग्य है कि कवि अपनी बात तो समाजवाद के सिद्धांतों से ही प्रारम्भ करता है, पर आगे चलकर उसमें अध्यात्मवाद का पुट दे देता है। दोनों का सामंजस्य उसे प्रिय है। वह भौतिकवादी अथवा अध्यात्मवादी न होकर मानवतावादी है। भौतिकवाद और अध्यात्मवाद दोनों का उपयोग वह अपने मानवतावाद के लिए करता है। साम्यवादी उसे प्रगतिवादी मानें या न मानें, पर मानवतावादी उसके स्वभाव को सदैव प्रगतिशील घोषित करते रहेंगे।

पंत और प्रकृति

एक समय वह था जब कभी आत्म-रक्षा के लिए और कभी ऐसी सुन्दरियों के लिए जिनकी बाल्यावस्था में शशि उनके निकट बैठकर अमृत-रस पीता था, लोहा खटकता था और प्रकृति रक्त से रंग उठती थी; एक समय वह था जब बढ़ई को देखकर तरुवर डोलने लगते या रोकर ही बारह मास गँवा दिए जाते; एक समय वह था जब गिरि बूँदों का आघात उसी प्रकार सहते दिखाई देते जैसे खल के वचनों को संत सहते हैं या गुपाल के साथ तो प्रकृति प्यारी लगती पर बिन गुपाल यमुना का बहना, खगों का बोलना, कमलों का फूलना, अलियों का गुंजारना सब व्यर्थ लगता, और एक समय वह भी आया जब कीर, कमल, कोयल, कुरंग, अहि, कपि, सिंह, मराल एक ही डाल पर लटका दिए गए। पर आज कवि को लगता है जैसे सृष्टि के प्रारंभ में जो उसने उषा के गाल चूमे थे इसी से प्रभातकाल में लालिमा छा जाती है। आज वह अपने उपवन में चंपा, कुंद, जूही, कमल के साथ डेफोडिल, डेज़ी, पैंजी, ट्यूलिप भी खिलाता है। आज वह समय आया है जब कवि की आत्मा पूर्ण रूप से यह स्वीकार करने लगी है कि प्रकृति का भी अपना स्वतंत्र अस्तित्व है। उसका वाह्य रूप ही आकर्षक नहीं, उसके हृदय में भी मधु है। वह दूती ही नहीं, अभिसारिका भी है। वह चेतन है।

प्रकृति के सम्बन्ध में पन्त जी की चर्चा करते हुए कई बातों पर ध्यान जाता है। जैसा अभी ऊपर संकेत कर चुके हैं प्रकृति या तो आध्यात्मिक भावों के प्रकाशन के लिए प्रयुक्त होती थी, या उससे उपदेश दिलाए जाते थे, या फिर उद्दीपन और अलंकार के रूप में वह आती थी। पन्त जी ने इन रूढ़ियों को छिन्न-भिन्न करके प्रकृति की स्वतंत्र सत्ता घोषित की। उसे आलंबन के रूप में स्वीकार किया। इससे भी महत्वपूर्ण दूसरा काम उन्होंने यह किया कि उसमें चेतना का आरोप किया, उसे वाणी दी। तीसरी विशेषता उनकी यह है कि प्रकृति पर उन्होंने सबसे अधिक लिखा। वीणा से लेकर अतिमा तक उनके

समस्त काव्य-ग्रंथ उनके प्रकृति-प्रेम के परिचायक हैं। उनका प्रकृति-प्रेम यहाँ तक बढ़ा हुआ है कि एक-एक विषय पर उन्होंने भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों से अनेक बार लिखा। छाया प्रकाश, संध्या प्रभात, नक्षत्र चाँदनी, सूर्य चन्द्र, पशु पक्षी, निर्झर सरिता, लहर सरोवर, ओस हरीतिमा, लता सुमन, बादल पवन, सावन, शरद, पतझर वसंत, पर्वत समुद्र, पृथ्वी आकाश—सब उनकी दृष्टि-परिधि में खिंच आए। केवल वर्णन की दृष्टि से बड़ी भारी प्राकृतिक निधि उसके काव्य-ग्रंथों में सुरक्षित है।

वीणा के वर्ण्य विषय दो ही हैं—प्रकृति और मा। छाया, अंधकार, सरिता, निर्झर, लतिका, उषा और विहग-बाला पर छोटी-छोटी रचनाएँ इसमें पाई जाती हैं। कवि ने इस ग्रंथ में स्वयं को एक भोली बालिका के रूप में चित्रित किया है और प्रकृति के तत्वों को सजीव मानकर वह उनसे अनेक प्रकार के प्रश्न करता है। दो प्रवृत्तियाँ कवि में विशेष रूप से पाई जाती हैं—अनुकरण और एकाकार की। वह देखता है, प्रकृति की वस्तुओं में कुछ ऐसे गुण हैं जो प्रशंसनीय हैं और जिनका अनुकरण उसे करना चाहिए। छाया शीतलता प्रदान करती हुई पथिकों का श्रम हरती हैं। अंधकार रंग-रहित है और रश्मि के स्पर्श मात्र से वह स्वर्ण-वर्ण होना जानता है। सरिता का जैसा तन उज्ज्वल है वैसा ही मन भी। वह अनंत-पथ में पीछे मुड़ना जानती ही नहीं। विलक्षण है उसका कर्म-योग! छाया से वह प्रार्थना करता है कि वह उसका मनस्ताप हरे, अंधकार से कहता है कि वह उसे भी रंग-रहित होकर जीवन व्यतीत करना सिखलावे, सरिता से चाहता है कि वह उसी के समान गीत गा सके, निर्झर को देखकर उसकी कामना होती है कि वह भी उसी जैसा आँसुओं का दान दे सके। वीणा का कवि पहले प्रकृति के प्रति जिज्ञासा-भावना लेकर चलता है, फिर उसके गुणों पर मुग्ध होता है और फिर उसमें घुल-मिलकर एक होना चाहता है। प्रकृति के भावों और अपने भावों में तादात्म्य स्थापित करने के लिए कवि की आकुलता इस ग्रन्थ में देखने योग्य है।

'पल्लव' प्रकृति की चित्रशाला है। 'पल्लव' की रचनाएँ लिखने के पूर्व ही कवि को प्रेम में आघात लगा; अतः इस संग्रह में तीन प्रकार की रचनाएँ पाई जाती हैं—विरह-संबंधी, चिंतन-प्रधान और प्रकृतिपरक। प्रेम में हृदय के

दग्ध होने का परिणाम यह हुआ कि वह अपना हृदय पूर्णरूप से प्रकृति को नहीं दे पाया। पर क्योंकि प्रेम की ओर लौटने का अवसर जीवन में नहीं, अतः कवि का अधिक झुकाव प्रकृति की ओर है। 'पल्लव' में कुछ रचनाएँ तो पुराने विषयों पर ही हैं जैसे छाया, निर्झर, विहग पर, पर कवि ने अनेक नये विषय भी लिए हैं जैसे बादल, वीचि, नक्षत्र, पवन, वसंत, मधुकरी आदि। प्रवृत्ति में एक अंतर तो यह हुआ है कि कवि इन्हें स्वतंत्र विषय मानकर उन पर अपने विचार व्यक्त करने बैठा है। इसी से इनमें से बहुत सी रचनाएँ वर्णन-प्रधान हो गई हैं। 'वीणा' की रचनाओं में यह बात नहीं। वीणा में छाया का वर्णन चार पंक्तियों में है। 'पल्लव' में उसी छाया का उसी प्रकार का वर्णन सौ पंक्तियों में कवि ने उपमाओं की वहाँ झड़ी लगा दी है। छाया, बादल, नक्षत्र, वीचि-विलास आदि रचनाएँ सीमा से अधिक वर्णनात्मक हो गई हैं। भाव-पक्ष वहाँ जैसे दब गया है। पर 'वीणा' में भाव-पक्ष पूर्ण रूप से उभर कर आया है। 'पल्लव' में किसी वस्तु के प्रति जितनी भी कल्पनाएँ संभव हैं कवि ने सब कर ली हैं। रचनाएँ वर्णन-प्रधान होने के साथ ही कल्पना-प्रधान हैं। भाव यदि कहीं झलक मारता है तो कल्पनाओं के भीतर से ही। यहाँ प्रकृति के सम्पर्क में आकर बड़े भारी आनंद का अनुभव कवि करता है। प्रकृति की एक-एक वस्तु से वह प्रश्न करता फिरता है; प्रकृति यहाँ सजीव है; अतः छायावाद की स्थापना इन्हीं रचनाओं में व्यापकता से हुई है। प्रकृति में अपने भावों का प्रतिबिंब ही वह नहीं खोजता फिरता, प्रकृति का प्रभाव भी अपने ऊपर वह पाता है।

'गुंजन' में कवि जीवन की ओर बढ़ता है। इस संग्रह में प्रकृति संबंधी समस्त रचनाएँ सौंदर्य और आनन्द की भावना से परिपूर्ण हैं। इन पर नारी-भावना का आरोप विशेष रूप से है। जैसे 'वीणा' की रचनाएँ भाव-प्रधान थीं, पल्लव की कल्पना-प्रधान, वैसे ही गुंजन की प्रकृति-सम्बन्धी रचनाएँ विचार-प्रधान हैं। जैसे वीणा में अध्यात्म का आग्रह था, पल्लव में प्रकृति का, वैसे ही गुंजन में जीवन का। गुञ्जन में वातावरण के संश्लिष्ट चित्रणों की ओर भी कवि का ध्यान है। पल्लव में अनेक कल्पनाएँ एक स्थान पर एकत्र थीं, पर गुञ्जन की रचनाओं में सभी पंक्तियों से एक पूर्ण चित्र

उठता है। 'पल्लव' की 'नक्षत्र' और 'गुञ्जन' की 'एक तारा' रचनाओं की तुलना से यह बात स्पष्ट हो जायगी। 'पल्लव' के समान शुद्ध प्रकृति-वर्णन गुन्जन की रचनाओं का लक्ष्य नहीं। कहीं कोई विशिष्ट विचार, कहीं कोई आध्यात्मिक भाव और कहीं निजी जीवन-दर्शन व्यक्त करना कवि का जैसे लक्ष्य बन गया है। 'कली' 'एक तारा' और 'नौका विहार' रचनाएँ इस बात की पुष्टि में उपस्थित की जा सकती हैं। जीवन की स्वीकृति के साथ जीवन के भोग की लालसा भी कवि के मन में अब जगी है। उस भोगवृत्ति की छाप इन रचनाओं पर भी पड़ी है। 'मधुवन' शीर्षक रचनाएँ इस बात का प्रमाण हैं। पंत की दृष्टि दुःख से अधिक सुख की ओर रहती है। दुःख की भावना उगती है, कभी-कभी उन्हें घेर भी लेती है और अधिक विह्वल करती है, पर ठहर नहीं पाती। यह देखने की बात है कि 'वीणा', 'पल्लव', 'ग्रंथि', गुञ्जन', 'युगांत' आदि ग्रंथों का प्रारम्भ उन्होंने वसंत के स्वागत के साथ किया है।

'युगांत' की प्रकृति पर मानवतावाद का प्रभाव है। वहाँ कवि नवीन जीवन, नवीन चेतना, नवीन सृष्टि के लिए आकुल है; अतः नवीन प्रभात की कामना करता है। प्रकृति और जीवन दोनों पर जब वह दृष्टि डालता है तो देखता है कि प्राकृतिक जगत प्रसन्न है और मानव जग मलीन। जगत की इस विश्री को धोने के लिए वह प्रकृति से प्रार्थना करता है। एक ओर वह कोकिल से प्रार्थना करता है कि मधुर गानों के स्थान पर अब पावक-कण बरसावे जिससे संसार की जीर्ण रूढ़ि-रीतियाँ जल जायँ, दूसरी ओर तारों से विनय करता है कि जग के तम में वे स्वर्गीय आलोक विकीर्ण करें जिससे मानवात्मा जग उठे। यह प्रकृति का एकदम नया प्रयोग है।

युगांत की परम्परा में ही 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' की रचनाओं को लेना चाहिए। यहाँ प्रकृति से अधिक मानव पर उसकी दृष्टि है और आकाश से अधिक पृथ्वी पर। कवि का कहना है कि आज मनुष्य प्रकृति में वैसे उल्लास का अनुभव नहीं कर सकता जैसे पहले वह करता था। मनुष्य का जीवन अनेक प्रकार के अभावों से आज पूर्ण है। इनका प्रभाव उसके दृष्टिकोण पर पड़ता है। यह भी कहता है कि प्रकृति की अपेक्षा आज मनुष्य अधिक निर्जीव प्रतीत होता है। पर यह सब होते हुए भी वह निराशावाद को स्थान नहीं देता।

जन-जीवन को उत्फुल्ल देखने की उसकी कामना ने एक नवीन आशावाद का संचार उसमें किया है। उसका संदेश है कि स्वस्थ आनन्द के उपभोग के लिए मनुष्य को श्रमशील होना चाहिए और सामाजिक भाव का जैसे-जैसे उसमें विकास होगा वैसे-वैसे जीवन की जय निकट आवेगी।

'ग्राम्या' की प्रकृति में गाँव की प्रकृति चित्रित हुई है—पैंठ से लौटे हुए ऊँट-घोड़ों के साथ नाव पर जाते व्यापारी, बिरहा गाते गाड़ीवान, घर की ओर लौटती हुई गाएँ, डालों पर चीखता घुग्घू, कगार पर जटाओं वाले पीपल, बबूल पर बया का घोंसला। यहाँ कवि जन-भावना के निकटतर आता दिलाई देता है।

'स्वर्ण किरण' में प्रकृति के प्रति लिखी गई कविताएँ भिन्न प्रकार की हैं। वर्ण्य विषय हैं—हिमालय, समुद्र, सूर्य, कौआ आदि। हिमालय पर जो रचना है उसमें व्यक्तिगत सम्पर्क, व्यक्तिगत अनुराग और व्यक्तिगत सम्बन्ध की अधिक गंध और झलक है। इस रचना पर कालिदास की पंक्तियों का प्रभाव कहीं-कहीं स्पष्ट है। भूत की विभूति और आज के आकर्षण के मिले-जुले वर्णन ने इस रचना के कल्पना-वैभव को विचित्र सौंदर्य से मंडित कर दिया है। कवि अब विशेषरूप से विराट् कल्पनाओं का प्रेमी हो गया है। हिमालय को कवि ने अपना मूक शिक्षक स्वीकार किया है। 'हिमाद्रि और समुद्र' में हिम-गिरि और सागर दोनों की तुलना है। कवि एक को आत्मा का गौरव कहता है, दूसरे को मन का आन्दोलन बतलाता है। कुछ रचनाएँ जैसे 'पूषण' या 'कौवे के प्रति' से उपयोगिता की भावना या उपदेश-वृत्ति झलकती है। 'मत्स्य गंधाएँ' रचना कवि के सौंदर्य और मानसिक आदर्श की प्रतिष्ठा के लिए लिखी गई है। व्यक्ति और प्रकृति एक ही हैं, कवि इस परिणाम पर अब पहुँच चुका है।

'स्वर्ण धूलि' में प्रकृति सम्बन्धिनी रचनाएँ कम हैं। वर्षा पर कई कविताएँ हैं जिनमें इस ऋतु के वातावरण को अंकित करने का प्रयत्न किया गया है। इनमें ध्वनि (Sound) और वर्ण (Colour) दोनों का अंकन सराहनीय है। शरद चाँदनी उद्दीपन की दृष्टि से उल्लेखनीय है। 'क्रोटन की टहनी' में धरती को प्यार करने की बात कवि अत्यन्त स्वाभाविक तर्कों और मार्मिक पद्धति पर उठाता है।

'उत्तरा' में 'शरद' और 'वसंत' को वैसे ही अपनाया है जैसे 'स्वर्ण धूलि' में वर्षा को। मानवीकरण के रूप में शरद ऋतु के कहीं-कहीं पूर्ण नारी चित्र अत्यन्त भव्य उतरे हैं। सामान्य रूप से प्रकृति सम्बन्धिनी रचनाओं में शांति और पवित्रता का वातावरण अंकित हुआ है। कवि जैसे प्रकृति से अधिक प्रकृति की आत्मा को चित्रित करने के लिए यहाँ आकुल है। एक विलक्षण बात इन रचनाओं में यह पाई जाती है कि यहाँ प्रकृति से अधिक व्यक्ति प्रमुख हो गया है। कवि कहना चाहता है कि व्यक्ति के बिना प्रकृति अधूरी है। व्यक्ति जैसे देवता है और प्रकृति उसकी उपासिका मात्र। कहाँ 'वीणा' की वह प्रवृत्ति जब व्यक्ति प्रकृति के चरणों में बैठकर शांति प्राप्त करता है और कहाँ 'उत्तरा' की यह प्रवृत्ति जब व्यक्ति प्रकृति को अपने चरणों में बिठा लेता है! इन दो विरोधी प्रवृत्तियों के दो कूलों के बीच मानसिक विकास की अनेक भाव-लहरियाँ कवि के अन्य काव्य-ग्रंथों में उठकर प्रकृति-काव्य को समृद्ध कर गई हैं!

'अतिमा' में कई प्रकार का प्रकृति-वर्णन पाया जाता है। कुछ रचनाओं का ढाँचा थोड़े परिवर्तन के साथ बिल्कुल वैसा ही है जैसा 'पल्लव' और 'गुञ्जन' काल की रचनाओं का। इनमें मधुर कल्पनाओं के ऊपर मधुरतर कल्पनाएँ एवं सूक्ष्म विवरणों के ऊपर सूक्ष्मतर विवरण पाठक की बुद्धि को चकित करते हैं। कुछ रचनाओं में मानवीकरण की पुरानी प्रवृत्ति उभर आई है। ऐसे स्थलों पर पन्त जी छायावादी प्रवाह में एक बार फिर बह गए हैं। तीसरी बात यह कि इन रचनाओं में से कई को पन्त जी ने अपने विचारों के प्रचार का माध्यम भी बनाया है। अब शुद्ध प्रकृति के वर्णन बहुत कम पाए जाते हैं। बीच या अन्त में कहीं तो उपदेश की गंध उनसे आने लगती है और कहीं वे सहसा चेतना से मंडित हो अरविंदवाद की प्रतिष्ठा करने लगते हैं।

अब पन्त जी के प्रकृति-वर्णन की विविधता पर दृष्टि डालें। प्रकृति में वस्तुओं का नाम गिनाना अत्यन्त साधारण कला समझी जाती है। पन्त जी भी किसी उद्यान की क्यारी-क्यारी में घूम-घूम कर फूलों के नाम गिना रहे हैं। हो सकता है ये नाम उन्होंने किसी फल-फूलों के सूचीपत्र (Catalogue) से एकत्र किए हों। इस नाम-परिगणन से काव्यत्व को किसी भी प्रकार सहायता नहीं मिलती—

Library Sri Pratap College Srinagar

नव वसंत की रूप राशि का ऋतु उत्सव यह उपवन,
सोच रहा हूँ, जन जग से क्या सचमुच लगता शोभन !
रंग रंग के खिले फ़्लॉक्स, वरवीना, छपे डियांथस,
नत दृग ऐंटिह्निनम, तितिली सी पैंज़ी, पापी सालस;
हँसमुख कैंडीटफ़्ट, रेशमी चटकीले नैशटरशम,
खिली स्वीट पी,—एवंडंस, फ़िल बास्केट औ ब्लू बैंटम।
दुहरे कार्नेशंस, स्वीट सुलतान सहज रोमांचित,
ऊँचे हॉली हॉक लार्कस्पर पुष्प स्तम्भ से शोभित।
फूले बहु मखमली, रेशमी, मृदुल गुलाबों के दल,
धवल मिसेज एंड्रू कार्नेगी ब्रिटिश क्वीन हिम उज्ज्वल।
जोसेफ़ हिल, सनबर्स्ट पीत, स्वर्णिम लेडी हेलिंडन,
ग्रेंड मुगल, रिचमंड, विकचब्लैक-प्रिंस नील लोहित तन।
फेअरी क्वीन, मार्ग्रेरेट मृदु वीलियम शीन चिर पाटल,
बटन रोज़ बहु लाल, ताम्र, माखनी रंग के कोमल।

—ग्राम्या

पर वस्तु-परिगणन में ही जहाँ वातावरण का चित्रण करने के लिए थोड़ी कला का प्रयोग किया है, वहाँ उसी मात्रा में प्रभाव आप से आप आ गया है। देखिए—

बाँसों का झुरमुट—
संध्या का झुटपुट—
हैं चहक रहीं चिड़ियाँ
टी० वी० टी—टुट्-टुट् !

—युगांत

नीचे के उद्धरण में भी वसंत में खिलने वाले वृक्षों के नाम ही गिनाए गए हैं, पर उनमें प्रिया के दर्शन से अद्भुत परिवर्तन आता दिखाया गया है। इस विदग्धता के कारण कवि ने अपने वर्णन को न केवल शुष्क होने से बचाया है, वरन् उसमें थोड़ी रस की स्थापना करने में भी वह समर्थ हुआ है—

तुम्हारी मंजुल मूर्ति निहार
लग गई मधु के वन में ज्वाल,
खड़े किंशुक, अनार कचनार
लालसा की लौ-से उठ लाल।
कपोलों की मदिरा पी प्राण!
आज पाटल गुलाब के जाल,
विनत शुक-नासा का धर ध्यान
बन गये पुष्प पलाश अराल।
खिल उठी चल-दसनावलि आज
कुन्द-कलियों में कोमल-आभ,
एक चंचल चितवन के व्याज
तिलक को चारु छत्र-सुख लाभ।
तुम्हारे चल-पद चूम निहाल
मञ्जरित अरुण अशोक सकाल,
स्पर्श से रोम-रोम तत्काल
सतत सिंचित प्रियंगु की बाल।
स्वर्ण कलियों की रुचि सुकुमार
चुरा चम्पक तुमसे मृदु वास,
तुम्हारी शुचि स्मित से साभार
भ्रमर को आने दे क्यों पास?
देख चंचल मृदु-पटु पद-चार
लुटाता स्वर्ण राशि कनियार,
हृदय फूलों में लिए उदार
नर्म मर्मज्ञ मुग्ध मन्दार।
तुम्हारी पी मुखवास तरंग
आज बौरे भौंरे, सहकार,
चुनाती नित लवंग निज अंग
तन्वि! तुम-सी बनने सुकुमार।

लालिमा भर फूलों में प्राण !
सीखती लाजवती मृदु लाज,
माधवी करती झुक सम्मान
देख तुम में मधु के सब साज।

—गुञ्जन

उपाध्याय जी ने 'प्रिय-प्रवास' के प्रारंभ में 'दिवस का अवसान समीप था' से लेकर 'अरुणता अति ही रमणीय थी' तक प्रकृति का बड़ा ही सरल और स्वाभाविक चित्र खींचा है, पर यदि महाकाव्य में कवि को जो वर्णन में विस्तार की स्वतन्त्रता प्राप्त है, उस बहाने को इन सोलह पंक्तियों से हटा दिया जाय तो एक ओर गगन का, दिशाओं का, पादप पुन्जों का, हरीतिमा का, पुलिन सरित और सरों का अरुणिमा विनिमज्जित होना दिखाया गया है और दूसरी ओर विहगावली का कल निनाद सुनाया गया है, उन सब में केवल दो बातें हाथ आती हैं—एक रंग को भरा है, दूसरे ध्वनि को बाँधा है। 'पंत' ने युगान्त की 'मंजरित आम्रवन छाया में' वाली कविता में 'वर्ण' और 'ध्वनि' दोनों को एक ही पंक्ति में बाँध दिया है और विहगावली आदि का कहीं नाम तक नहीं लिया—

ऊपर हरीतिमा नभ गुञ्जित

संश्लिष्ट चित्र उपस्थित करने में पंत जी सिद्ध-हस्त हैं। यदि कोई साधारण कवि पर्वतों के निकट जायेगा, तो उनके आकार से प्रभावित होगा, वहाँ यदि फूल खिलते देखेगा तो उनके नाम गिनावेगा, कहीं निकट के ताल पर यदि उसकी दृष्टि पड़ गई तो उसका उल्लेख भी कर देगा। पर पर्वत, फूल और ताल को लेकर अपने में पूर्ण दृश्य भी अंकित किया जा सकता है, फूलों की आँखों से ताल के दर्पण में पर्वत अपने गर्वीले शरीर को निहारता हुआ महान् प्रतीत हो सकता है, यह कम लोग सोचते हैं—

पावस-ऋतु थी, पर्वत-प्रदेश;
पल-पल परिवर्तित प्रकृति वेश।
मेखलाकार पर्वत अपार
अपने सहस्र दृग-सुमन फाड़

अवलोक रहा है बार बार
नीचे जल में निज महाकार;
—जिसके चरणों में पला ताल
दर्पण-सा फैला है विशाल !!

'पल्लव' की छाया कविता को लीजिए जो इतनी प्रसिद्ध हो गई। उस रचना के सौंदर्य के मूल में कवि की कल्पना का वैभव तो है ही, पर उसकी सबसे उल्लेखनीय विशेषता यह है कि उसमें उपमाएँ जुटाते समय अत्यन्त मार्मिक, एकदम पूर्ण, बहुत ही स्पष्ट भूत और वर्तमान जीवन से संबंधित संश्लिष्ट चित्र अंकित किए गए हैं। वृक्ष के नीचे छाया सोई हुई है। कवि अतीत की एक परिचित घटना का आरोप करता हुआ पूछता है—

कहो कौन हो दमयन्ती-सी
तुम तरु के नीचे सोई ?
हाय ! तुम्हें भी त्याग गया क्या
अलि ! नल-सा निष्ठुर कोई !

'कोई' को अनिश्चित रखकर कैसे रहस्य और मानवीय संवेदना को जगाया गया है !

दमयन्ती के जीवन दृश्यों ने संभवतः कवि को बहुत लुभाया है। इसी से रोमांस का एक संश्लिष्ट चित्र उसने अपनी दूसरी रचना 'बादल' में दिया है—चाँदनी के रजत-करों में मधुर ध्वनि करता मेघ हंस के समान उसे उसके प्रिय का संदेश दे रहा है !

दमयन्ती सी कुमुद कला के
रजत करों में फिर अभिराम
स्वर्ण-हंस से हम मृदु ध्वनि कर
कहते प्रिय संदेह ललाम !

थक कर कभी-कभी वृक्ष के नीचे विश्राम ले ही लेते हैं और ओस की बूँदें भी वृक्ष के नीचे पड़ ही जाती हैं। इतने से आधार को लेकर हमारी

स्मृतियों में रक्षित एक अन्य करुण-कोमल घटना को कवि दृष्टि-पथ में लाता है। ओह !

तुम पथ-श्रांता द्रुपद-सुता सी
कौन छिपी हो अलि ! अज्ञात
तुहिन अश्रुओं से निज गिनती
चौदह दुखद-वर्ष दिन रात ?

कैसी सूक्ष्म वस्तु के लिए कैसा गोचर दृश्य है !

काव्य-जगत से कोई घटना लेनी चाहिए ! निर्जन स्थान में जहाँ छाया पड़ी होती है वहाँ शीत वायु कभी कभी चलती है। कवि तुरंत कल्पना करता है—

निर्जनता के मानस-पट पर
—बार बार भर ठंडी साँस
क्या तुम छिप कर क्रूर काल का
लिखती हो अकरुण इतिहास ?

छाया के संबंध में एक पूर्ण चित्र और देखिये। यहाँ कवि छाया के जीवन की उपयोगिता का उल्लेख करता हुआ, अपने जीवन को भी उपयोगी बनाने की कामना प्रकट करता है। छाया का पूरा परिचय ही इसमें कवि देता है—

दिनकर कुल में दिव्य जन्म पा
बढ़कर नित तरुवर के संग
मुरझे पत्रों की साड़ी से
ढँककर अपने कोमल अंग,
सदुपदेश-सुमनों से तरु के
गूँथ हृदय का का सुरभित-हार,
पर-सेवा-रत रहती हो तुम
हरती नित पथ-श्रांति अपार !
हे सखि ! इस पावन अंचल से
मुझको भी निज मुख ढँककर,

अपनी विस्मृत सुखद गोद में
सोने दो सुख से क्षण-भर !
चूर्ण शिथिलता सी अँगड़ा कर
होने दो अपने में लीन,
पर पीड़ा से पीड़ित होना
मुझे सिखा दो, कर मदहीन !

प्रकृति को नारी रूप में चित्रित करना भी पन्त जी का प्रिय स्वभाव है। इस क्षेत्र में अत्यन्त रम्य कल्पनाएँ कवि ने की हैं। ये चित्र केवल वहीं कुछ अस्वाभाविक लगते हैं जहाँ दूसरी ओर के उपमान अधूरा चित्र जगाते हैं, या फिर कोई चित्र ही नहीं जगाते। पर रसग्राही पाठकों की दृष्टि प्रायः पूरे चित्र पर जाती है, अंगपर प्रत्यंग के विश्लेषणपर नहीं। 'युगांत' में संध्या का यह अवतरण देखिये जो निराला जी के संध्या-वर्णन से बहुत-कुछ मिलता-जुलता सा है—

कहो, तुम रूपसि कौन ?
व्योम से उतर रही चुपचाप
छिपी निज छायाछवि में आप
सुनहला फैला केशकलाप
मधुर, मंथर, मृदु मौन !

इसी प्रकार 'गुञ्जन' में चाँदनी की कल्पना उन्होंने एक मरणोन्मुखी रुग्ण बाला के रूप में की है। कल्पना कुछ लोक-धारणा के विपरीत अवश्य है, पर पूरी उतरी है। देखिए—

जग के दुख दैन्य-शयन पर
यह रुग्णा जीवन-बाला
रे कब से जाग रही, वह
आँसू की नीरव माला !
पीली पड़, निर्बल, कोमल,
कृश-देह-लता कुम्हलाई;

विवसना, लाज में लिपटी
साँसों में शून्य समाई !

रे म्लान अङ्ग, रंग, यौवन !
चिर मूक, सजल, नत चितवन !
जग के दुख से जर्जर उर,
बस मृत्यु-शेष है जीवन !!

कवि लोग सदैव से नायिकाओं के शरीर को प्रकृति के रम्य उपादानों से विभूषित करते रहे हैं। जायसी की पद्मावती की माँग घन में दामिनी सी दमकती थी, तुलसी की मृग-शावक नयनी सीता जनक के उपवन में जिस ओर दृष्टि डालतीं, वहाँ श्वेत कमलों की वर्षा होने लगती, बिहारी की नायिका के झीने पट के घूँघट में चंचल नयन इस प्रकार चमचमाते मानों सुर सरिता के जल में दो मीन उछलते हों। विद्यापति की राधा के सौन्दर्य का तो कहना ही क्या है ? चन्द्रमा के सार को लेकर ही जैसे उनके मुख का निर्माण हुआ था। अतः यह ढंग भी कभी पुराना न होगा, चाहे सामान्य नायिकाएँ रहें या उनका स्थान कोई अलक्ष्य प्रेयसी ले ले। अब भी निराला जी की शूर्पणखा के कपोल कुसुमदल तुल्य, हँसी बिजली सी, कपोत सा कंठ, बल्ली सी बाहु, सरोज से कर दिखाई देते हैं; अब भी मैथिलीशरण जी की उर्मिला के घन-पटल से केश, विद्युत् से बदन की झाँकी मिल सकती है; अब भी 'बच्चन' जी ने जिसके चरणों की पग-ध्वनि पहचानने का दावा किया है उसके तलुए नन्दनवन की मेंहदी से लाल, उन पर उषा की किरणों की महावर, नक्षत्र से उन चरणों के नख मिलेंगे। उपाध्याय जी की राधा का आनन अब भी राकेंदु-सा, दृग मृग-दृग से हैं। प्रसाद जी भी इसी प्रकार कहीं देव-कामिनी के नयनों से नील नलिनों की सृष्टि कराते, कभी बालों में घिरे मुख में पश्चिम गगन में श्याम घन को भेदते हुए अरुण रवि मंडल की कल्पना करते हैं और कभी किसी के शरीर का रंग तैयार करने के लिए बिजली को चाँदनी में घोलते हैं। पन्त जी भी जिस पर मुग्ध हैं उसकी उषा-सी सुन्दर छवि, नव वसंत सा उसका शृंगार, तारों सा हार, मेघों के केश और मलयानिल जैसी उसकी मुखवास है। 'ग्रंथि'

और 'पल्लव' दोनों में अपनी प्रिया का स्मरण करते हुए उसके अंग प्रत्यंग की शोभा के रूप में बहुत से प्राकृतिक उपमानों को जुटाया है। नीचे हम 'गुञ्जन' की 'भावी पत्नी के प्रति' रचना में से ऐसे रम्य उपमानों का एक उद्धरण प्रस्तुत करते हैं—

अरुण अधरों की पल्लव-प्रात,
मोतियों-सा हिलता-हिम-हास;
इन्द्रधनुषी पट से ढँक गात
बाल-विद्युत् का पावस-लास;
हृदय में खिल उठता तत्काल
अधखिले अङ्गों का मधुमास
तुम्हारी छवि का कर अनुमान!

खोल सौरभ का मृदु कच-जाल
सूँघता होगा अनिल समोद,
सीखते होंगे उड़ खग-बाल
तुम्ही से कलरव, केलि विनोद,
चूम लघु-पद-चंचलता, प्राण,
फूटते होंगे नव जल-स्रोत;
मुकुल बनती होगी मुसकान!
प्रिये प्राणों की प्राण!

मन की एक ऐसी स्थिति होती है जब वह किसी एक ही भावना में डूबा रहता है—इतना डूबा रहता है कि उसी में डूब जाता है। उससे बाहर निकल कर वस्तुएँ गिनने, विश्लेषण करने या विचार करने की इच्छा सो जाती है। प्रकृति के सम्पर्क में आकर पन्त जी कभी-कभी इस स्थिति को प्राप्त होते हैं। 'लहर' को उठता देखकर कवि उससे कहता है—

अरी सलिल की लोल हिलोर!
यह कैसा स्वर्गीय हुलास?

सरिता की चंचल दृग-कोर !
यह जग को अविदित उल्लास !
आ, मेरे मृदु अङ्ग झकोर.
नयनों को निज छबि में बोर,
मेरे उर में भर यह रोर !

इस विस्मृति के एकात्म-भाव में कैसा दिव्य आनन्द फूटा पड़ रहा है !

नाव से नदी के जल पर कवि की दृष्टि पड़ती है। इच्छा होती है इस जल पर वह लोटता फिरे ! पर कैसे ? कवि सरल शिशु के समान सोचता है यदि जल हमें डुबाया न करता तो कैसा आनन्द रहता !

दिन की इस विस्तृत आभा में, खुली नाव पर,
आर पार के दृश्य लग रहे साधारणतर;
यह सैकत तट पिघल-पिघल यदि बन जाता जल,
बह सकती यदि धरा चूमती हुई दिगंचल
यदि न डुबाता जल, रह कर चिर मृदुल तरलतर,
तो मैं नाव छोड़, गंगा के गलित स्फटिक पर,
आज लोटता, ज्योंति जड़ित लहरों संग जी भर !
किरणों से खेलता मिचौनी में लुक छिप कर,
लहरों के अंचल में फेन पिरोता सुन्दर,
हँसता कल-कल, मत्त नाचता, झूल पैंग भर !
कैसा सुन्दर होता, बदन न होता गीला,
लिपटा रहता सलिल रेशमी पट सा ढीला !

कभी-कभी आकाश को देखकर वह आश्चर्य चकित होता है—

तारों का नभ ! तारों का नभ !
सुन्दर समृद्ध आदर्श सृष्टि !

कभी वसन्त-श्री को देख केवल सुन्दरता नयनों में घूमने लगती है—

प्रिय कचनार ! प्रिय कचनार !
मुझे बिना पत्रों की पुष्पों की डाली दोगे उपहार ?

सुन्दर मधुऋतु, सुन्दर है गुञ्जित दिगन्त का हरित प्रसार,
ताम्र, रजत, मरकत, विद्रुमके विविध किसलयोंका मृदुभार,
सुन्दर सलिल समीर आज, सुन्दर लगता नभ का विस्तार
सुन्दर निखिल धरित्री, सुन्दर खग मृग युग्मों का अभिसार

और कभी चाँदनी से भरी घाटी को देखकर आनन्द से हृदय भर उठता है !

वह विजन चाँदनी की घाटी
छाई मृदु वनतरु गंध जहाँ,
नीबू आड़ू के मुकुलों के
मद से मलयानिल लदा वहाँ !
सौरभश्लथ हो जाते तनमन,
बिछते झरझर मृदु सुमन शयन,
जिन पर छन, कम्पित पत्रों से,
लिखती कुछ ज्योत्स्ना जहाँ-तहाँ !

आ ! कोकिल का कोमल कूजन,
उकसाता आकुल उर कम्पन,
यौवन का री वह मधुर स्वर्ग,
जीवन बाधाएँ वहाँ कहाँ ?

प्रतीक के रूप में प्राकृतिक वस्तुओं को कहीं-कहीं पन्त जी ने लिया है। कला के क्षेत्र में प्रतीक-विधान आधुनिक हिंदी कविता की एक प्रमुख विशेषता है। कहीं-कहीं पन्त जी ने ऐसा किया है कि प्रतीक विधान और सांग रूपक के सहारे किसी व्यापक क्रिया का वर्णन किया है। ऐसी दशा में मुख्य आशय लुप्त हो गया है और अप्रधान बात प्रमुख बन बैठी है। नीचे के वर्णन में यह दिखलाया गया है कि जब प्राण सौंदर्य के सम्पर्क में आते हैं तो अंतश्चेतना में दबे भाव उमड़ कर ऊपर उठते हैं और अपनी अभिव्यक्ति के लिए आकुल होते हैं। पर पढ़कर केवल ऐसा लगता है जैसे प्रभात-काल में पक्षियों की चहचहाहट का कोरा वर्णन यह हो। अधिक गहराई से सोचने पर यह उस

Library Sri Pratap College,
Srinagar.

स्थिति का वर्णन भी हो सकता है जहाँ अज्ञान के अंधकार को ज्ञान की किरण छू देती है और फिर अंतर से निर्मल भावों की सरिता वेग से फूट पड़ती है। कुछ भी हो, पक्षियों का वर्णन यह नहीं है। तीनों अर्थों का कितना सुन्दर निर्वाह एक साथ किया है, कवि की इस पटुता की सराहना कीजिए—

विहग, विहग,

फिर चहक उठे ये पुञ्ज पुञ्ज,
कल-कूजित कर उर का निकुञ्ज,

चिर सुभग, सुभग!

किस स्वर्ण-किरण की करुण-कोर
कर गई इन्हें सुख से विभोर?
किन नव स्वप्नों की सजग-भोर?
हँस उठे हृदय के ओर-छोर
जग-जग खग करते मधुर-रोर,
मैं रे प्रकाश में गया बोर!
चिर मुँदे मर्म के गुहा-द्वार,
किस स्वर्ग-रश्मि ने आर-पार
छू दिया हृदय का अन्धकार!
यह रे, किस छबि का मदिर-तीर
मधु-मुखर प्राण का पिक अधीर
डालेगा क्या उर चीर-चीर!
अस्थिर है साँसों का समीर,
गुंजित भावों की मधुर भीर
झर झरता सुख से अश्रु-नीर!
बहती रोओं में मलय-बात
स्पन्दित उर पुलकित पात-गात
जीवन में रे यह स्वर्ण-प्रात!

ये
विहग, विहग
जग उठे, जग उठे पुंज-पुंज,
कूजित-गुंजित कर उर निकुञ्ज,
चिर सुभग, सुभग !

व्यक्ति और जग प्रकृति के दो छोर हैं। किसी रूप में वह दोनों को प्रभावित करती है। 'पल्लव' में हम देख चुके हैं कि कवि कला की शिक्षा पाने प्रकृति के पास जाता है। प्रकृति से अधिक स्वाभाविक शिक्षिका और कौन मिलेगी ?

किसी के उर में तुम अनजान
कभी बँध जाती, बन चितचोर,
अधखिले, खिले, सुकोमल गान
गूँथती हो फिर उड़-उड़ भोर;
मुझे भी बतला दो न कुमारि !
मधुर निशि-स्वप्नों के वे गान !

एक बार कवि बीमार पड़ता है। मानवी करुणा के लिए वह तरसता है। सोचता है मानव-हृदय को मानवी करुणा ही ठीक रख सकती है। पर इसके पूर्व ही प्रकृति की ओर से मौन अजस्र मंद करुणा की जो वर्षा हुई है, उसके आभार को भी वह स्वीकार करता है। 'ग्राम्या' में कोमल उपचार की यह सूक्ष्म स्मृति रक्षित है !

शय्या ग्रस्त रहा मैं दो दिन, फूलदान में हँसमुख
चन्द्र मल्लिका के फूलों को रहा देखता सम्मुख।
गुलदावदी कहूँ,—कोमलता की सीमा ये कोमल !
शैशव स्मिति इनके जीवन की भरी स्वच्छ, सद्योज्ज्वल !
उज्ज्वल सूरज का प्रकाश, ज्योत्स्ना भी उज्ज्वल, शीतल,
उज्ज्वल सौरभ अनिल, और उज्ज्वल निर्मल सरसी जल;

इन फूलों की उज्ज्वलता छू लेती अन्तर के स्तर,
मधुर अवयवों में बँध वह ज्यों हो आगई निकटतर!
मृदुल दलों के अंगजाल से फूट त्वचा-कोमल सुख
सहृदय मानवीय स्पर्शों से हर लेता मन का दुख!

'उत्तरा' में यह भावना यहाँ तक बढ़ गई है कि कवि द्वैत को सहन नहीं कर पाता और 'शरद चेतना' से आकुल होकर कहता है—

तुम मुझे डुबा लो अपने में
या मुझमें जाओ स्वयं डूब!

व्यष्टि के दृष्टिकोण की चर्चा हो चुकी। समष्टि के दृष्टिकोण से भी कवि ने प्रकृति को देखा है। केवल उनकी 'विहग' पर लिखी रचनाएँ लीजिये। ऐसी रचनाएँ वीणा, पल्लव, गुंजन, युगांत, युगवाणी और स्वर्ण-किरण में पाई जाती हैं जहाँ उन्होंने किसी पक्षी को संबोधन कर जगत की किसी रूप में चर्चा की है। 'गुंजन' में 'विहग के प्रति' जो रचना है उसका मूल आशय यह है कि पक्षी वह जीवधारी है जो सूने वृक्षों को, सूने सायं-प्रात को, सूने जीवन को और सूने जगत को अपने गानों से मुखरित रखता है। यदि वह न होता तो सृष्टि बड़ी सूनी लगती। कवि के शब्दों में ही सुनिये—

विजन वन के ओ विहग कुमार!
आज घर-घर रे तेरे गान;
मधुर मुखरित हो उठा अपार
जीर्ण जग का विषण्ण उद्यान!
मुक्त पंखों में उड़ दिन रात,
सहज स्पंदित कर जग के प्राण,
शून्य नभ में भर दी अज्ञात
मधुर जीवन की मादक तान।
सुप्त जग में गा स्वप्निल गान
स्वर्ण से भर दी प्रथम प्रभात,

मंजु गुंजित हो उठा अजान
फुल्ल जग-जीवन का जलजात।

श्रांत, सोती जब संध्या वात,
विश्व-पादप निश्चल, निष्प्राण,—
जगाता तू पुलकित कर पात
जगत-जीवन का शतमुख-गान।

छोड़ निर्जन का निभृत निवास,
नीड़ में बँध जग के सानंद,
भर दिए कलरव से दिशि-आस
गृहों में कुसुमित, मुदित, अमंद!

'युगांत' के उपरांत जब से पंत जी ने लोक-भावना को व्यापक रूप से अपनाया; तब से कहीं कोकिल और कहीं सामान्य विहग से जगत को बदलने के लिए कहा। युग-वाणी में 'आम्र विहग' को संबोधित करते हुए उन्होंने उन बातों का विवरण दिया है जिन पर वे विचार करते रहते हैं। जगत के वर्तमान स्वरूप, उसकी वर्तमान व्यवस्था से असंतोष और भविष्य में जीवन को सुंदर सुखपूर्ण देखने की आकांक्षा दोनों स्पष्ट उभर आई हैं—

हे आम्र विहग!
तुम सुनो सजग,—
जग का उपवन
मानव जीवन
है शिशिर-त्रस्त
बहु व्याधि ग्रस्त!

ये जीर्ण, शीर्ण, चिर दीर्ण पर्ण
जो स्रस्त, ध्वस्त श्री-हत, विवर्ण
क्षय हों समस्त,
युग सूर्य अस्त!

ये राष्ट्र वर्ग
बल शक्ति भर्ग,
बहु जाति पाँति,
कुल वंश ख्याति,
द्रुत हों विनष्ट सब नरक स्वर्ग !
विश्वास अंध
संघर्ष द्वन्द्व
बहु तर्कवाद
उर के प्रमाद
गत रूढ़ि रीति
मृत धर्म नीति
ये हैं जगती की ईति भीति !
हों अन्त
दैन्य जग के दुरन्त,
आवे वसन्त,
जीवन दिगन्त
फिर से हो स्मित कुसुमित अनन्त !

पन्त जी की रचनाओं में प्रकृति का वह पक्ष भी प्रबल है जहाँ कवि किसी प्राकृतिक दृश्य के आधार पर उसका दर्शन करते-करते चिंतन करने लगता है। ऐसी रचनाओं में या तो वह किसी विचार की प्रतिष्ठा करता है या दार्शनिक भावों की। 'गुञ्जन' में कली पर एक रचना है। कवि देखता है लहर के आने से एक कली झर कर सलिल में बह जाती है। पर अन्य कलियाँ हैं कि लहरियाँ उनके भी पास आती हैं। वे भी उनसे खेलती हैं, पर इस प्रकार बह नहीं जातीं, सँभली रहती हैं। एक यह सरला थी कि तनिक देर में बह गई। लहरें तो आती ही रहती हैं, पर क्या वे किसी के पास ठहरती हैं ? इस पर कवि निर्णय देता है कि भावों के आदान-प्रदान में तो कोई बुराई नहीं, पर अपने व्यक्तित्व की हानि किसी भी दशा में ठीक नहीं। जिसने अपने व्यक्तित्व को खो दिया उसका सब कुछ चला गया समझो !

झर गई कली, झर गई कली !
चल-सरित-पुलिन पर वह विकसी,
उर के सौरभ से सहज-बसी,
सरला प्रातः ही तो विहँसी,
रे कूद सलिल में गई चली !

आई लहरी चुम्बन करने,
अधरों पर मधुर अधर धरने,
फेनिल मोती से मुँह भरने,
वह चंचल सुख से गई छली।

आती ही जाती नित लहरी,
कब पास कौन किसके ठहरी ?
कितनी ही तो कलियाँ फहरीं,
सब खेलीं, हिलीं, रहीं सँभली !

निज वृन्त पर उसे खिलना था,
नव नव लहरों से मिलना था,
निज सुख-दुख सहज बदलना था,
रे गेह छोड़ वह बह निकली !

है लेन देन ही जग-जीवन,
अपना पर सबका अपनापन,
खो निज आत्मा का अक्षय-धन
लहरों में भ्रमित, गई निगली !
झर गई कली !

इसी प्रकार युग-वाणी में 'सुमन के प्रति' जो रचना है उसमें कवि रूप न देखकर रूप पर चिन्तन करने लगता है। रूप नश्वर है या अविनश्वर ? थोड़ी देर में वह उत्तर देता है—

रूप नहीं है नश्वर!
सत्ता का वह पूर्ण प्रकृत स्वर!
रूप नहीं है नश्वर!

यह खिले हुए सुमन की बात हुई। एक दिन वह कुसुम को झरते देखता है। उसके हृदय में करुणा उत्पन्न होती है और उसके मुख से हाय निकल जाती है। फिर वह सोचता है यह विनाश नहीं, आत्म-त्याग है—

चिर पूर्ण नहीं कुछ जीवन में
अस्थिर है रूप-जगत का मद,
बस आत्म-त्याग जीवन विनिमय
इस संधि जगत में है सुखप्रद!
करुणा-रंजित जीवन का सुख,
जग की सुन्दरता अश्रु-स्नात,
करुणा ही से सार्थक होते
चिर जन्म-मरण संध्या-प्रभात!

एक दिन पूरी प्रकृति में ही वह पतझर देखता है। पर इससे वह हताश नहीं होता। सदैव से वह आशावादी रहा है। विश्वास के स्वर में कहता है—

रिक्त हो रहीं आज डालियाँ,—डरो न किंचित्
रक्त पूर्ण, माँसल होंगी फिर, जीवन रंजित!
जन्मशील है मरण: अमर मर मर कर जीवन,
झरता नित प्राचीन, पल्लवित होता नूतन!
झरते हों, झरने दो पत्ते,—डरो न किंचित्
नवल मुकुल मंजरियों से भव होगा शोभित!
सदियों में आया मानव जग में यह पतझर,
सदियों तक भोगोगे नव मधु का वैभव वर?

'गुञ्जन' की नौका-विहार अनेक दृष्टियों से पन्त जी की सुन्दरतम रचनाओं में से है। रचना के अन्त में जब कवि की नौका किनारे पर लगने लगती है

तब वह विचार करने लगता है। विचार शायद उसका स्वभाव बन गया है। वह कहता है—

ज्यों ज्यों लगती है नाव पार
उर में आलोकित शत विचार।
इस धारा-सा ही जग का क्रम, शाश्वत इस जीवन का उद्गम,
शाश्वत है गति, शाश्वत संगम।
शाश्वत नभ का नीला विकास, शाश्वत शशि का यह रजतहास
शाश्वत लघु लहरों का विलास।
हे जग-जीवन के कर्णधार! चिर जन्म-मरण के आर-पार
शाश्वत जीवन-नौका विहार।
मैं भूल गया अस्तित्व ज्ञान, जीवन का यह शाश्वत प्रमाण
करता मुझको अमरत्व-दान।

छाया अथवा चाँदनी पर लिखते समय कवि प्रायः अध्यात्म-भाव में लीन हो जाता है। 'युगान्त' में छाया को पृष्ठ-भूमि में रखकर कवि कहता है—

खोलो मुख से घूँघट खोलो,
हे चिर अवगुन्ठनमयि, बोलो!
क्या तुम केवल चिर अवगुन्ठन,
अथवा भीतर जीवन कम्पन?
पट पर पट केवल तम अपार,
पट पर पट खुले, न मिला पार!
सखि, हटा अपरिचय अंधकार
खोलो रहस्य के मर्म द्वार!

इसी प्रकार 'गुञ्जन' में 'चाँदनी' पर अनेक प्रकार की कल्पाएँ करते कवि अन्त में इस निष्कर्ष पर रुकता है—

वह है, वह नहीं, अनिर्वच,
जग उसमें, वह जग में लय!

यह प्रसंग अधूरा ही रहेगा, यदि 'गुञ्जन' की 'एक तारा' रचना की चर्चा इस प्रसंग में न की जाय। यह रचना भी 'नौका विहार' की भाँति पन्त जी श्रेष्ठतम रचनाओं में से है। नौका-विहार में जैसे नदी के रम्य दृश्यों के चित्रणों की भरमार है, वैसे ही यहाँ संध्या के वातावरण का चित्रण अपूर्व हुआ है। पर आदि और अन्त का सम्बन्ध जिस दार्शनिक भाव सूत्र से कवि ने जोड़ा है वह भी विलक्षण है। कवि देखता है प्रारम्भ में शून्य में एक ही तारा रहता है। कुछ ही क्षणों में वैसे ही अनन्त तारों की सृष्टि हो जाती है। कवि इस दृश्य की तुलना उस घटना से करता है जिसमें एक ब्रह्म से अनन्त जीवों की सृष्टि हुई। उस तारे को कवि परमात्मा बतलाता है, इन अनन्त तारों के समूह को विश्व। देखिए—

जगमग जगमग नभ का आँगन, लद गया कुन्द कलियों से घन,
वह आत्म और यह जग-दर्शन!

थोड़े में अधिक और सुन्दर कहना महान् कवियों का लक्षण है और पन्त जी में इस बात का अभाव नहीं। पहले रवीन्द्रनाथ की 'खेया' पुस्तक के अन्तर्गत 'दीघि' कविता की इन पंक्तियों को लीजिए—

दिनेर शेषे शेष आलोटि पुड़ेछे ओई पारे
जलेर किनाराय,
पथे चलते बधू जेमन नयन राङ्गा कोरे
बापेर घरे चाय॥

(दिवसावसान के समय सरोवर के उस पार के जल में सूर्य का अन्तिम आलोक पड़ता हुआ इस प्रकार प्रतीत होता है मानों पिता के घर की ओर देखती हुई कोई नववधू अपने नेत्रों को (रोकर) रंगीन करती विदा होती है)

यहाँ सरोवर और नेत्र, सरोवर में जल और बाप के घर से विदा होते समय बालिका के नेत्रों में जल, संध्याकालीन सूर्य की लालिमा का सरोवर में पड़ना और वधू का रोकर नेत्र लाल करना, किरणों का पृथ्वी को बरवश छोड़ना और वधू का पति के घर प्रथम बार शंकित हृदय से जाना—इन सब बातों से रवि बाबू का सूर्यास्त वर्णन अत्यन्त मार्मिक हो उठा है। पर जितने स्थान

में उन्होंने जल पर पड़ी हुई संध्या की लालिमा का वर्णन किया है, उससे भी थोड़े स्थान में पन्त जी ने उस मिटती लालिमा और आने वाले अंधकार की हल्की नीलिमा को भी चित्रित कर दिया है—

लहरों पर स्वर्ण रेख सुन्दर, पड़ गई नील, ज्यों अधरों पर
अरुणाई प्रखर शिशिर से डर
एक तारा : गुंजन

दोनों छवियों का आनन्द नेत्रों में भरने से ही अधिक मिलेगा, स्पष्ट करने से बिखर जायगा। प्रकृति के इस परिवर्तनशील दृश्य को अंकित करने के लिए 'पंत' ने जिस समान कोमल भूमि के समान वर्ण वाले समान कोमल दृश्य को ग्रहण किया है, वह उनकी प्रतिभा तथा हृदय की कोमलता का परिचायक है।

कभी-कभी एक ही बात को जब बार बार दुहराया जाता है तो वह अरुचि-कर सी यदि नहीं, तो शिथिल सी अवश्य लगने लगती है। उसमें एक प्रकार की एकरसता (Monotony) आजाती है। लगता है जैसे कवि लकीर पीटना ही जानता है, वर्णन की नवीनता और मौलिकता से उसका परिचय नहीं। दूसरी ओर ऐसा भी देखा गया है कि जब कोई नवीनता-प्रिय कवि किसी रूढ़-वर्णन में परिवर्तन कर देता है तो प्राचीनतावादी चौंक पड़ते हैं। मुझे अच्छी तरह स्मरण है कि जब पंत जी की—

विद्रुम औ' मरकत की छाया
सोने चाँदी का सूर्यातप,
हिमपरिमल की रेशमी वायु
शतरत्न-छाय, खगचित्रित नभ!

कविता प्रकाशित हुई थी तो कुछ पाठकों ने प्रश्न किया था 'रेशमी वायु' क्या होती है? शीतल, मंद, सुगन्ध पवन अभी तक वे लोग सुनते आये थे। फिर कवि ने यह क्या किया कि हिम परिमल और रेशमी को रख दिया। शीतल और सुगंध के स्थान पर तो हिम परिमल है ही। गति को यहाँ छोड़ दिया

गया है। गति की चर्चा न कर वायु की चिकनाहट, रेशम सदृश उसके कोमल स्पर्श-सुख को स्मरण किया गया है, बात केवल इतनी-सी है।

वर्णन-पटुता की पन्त जी की जितनी प्रशंसा की जाय थोड़ी है। नीचे के वर्णनों में देखिए कि किस प्रकार कवि ने एक एक दो-दो पंक्तियों में प्रकृति की वस्तुओं के स्वरूप और आत्मा का चित्रण किया है—

—लहर—

१. सरिता की चंचल दृग-कोर!
२. अरी वारि की परी किशोर!
३. ओ अकूल की उज्ज्वल हास!

—नक्षत्र—

४. ऐ निशि जाग्रत् वासर निद्रित!
५. आदि नग्न सौंदर्य निरामय!
६. नव प्रभात के अस्फुट अंकुर!
७. ऐ अनंत के हृत्कम्पन!

—बादल—

८. चातक के प्रिय जीवनधर!

—छाया—

९. ऐ विटपी की व्याकुल प्रेयसि!

—चींटी—

१०. भूरे बालों की-सी कतरन!

—खद्योत—

११. अँधियाली घाटी में सहसा,
हरित स्फुलिंग सदृश फूटा वह!

—तितली—

१२. या फूलों से ली अनिल-कुसुम
तुमने मन के मधु की मिठास?

ये एक-एक दो-दो पंक्तियाँ ही जैसे अपने में पूर्ण कविताएँ हैं।

प्रकृति वर्णन की सूक्ष्मता के लिए 'नौका विहार' को लीजिए। गंगा जी का श्वेत निर्मल जल, उस पर चंचल लहरों का उठना, उसमें नक्षत्र विजड़ित नील गगन का प्रतिबिंबित होना, कितने व्यापार हैं जिन्हें कवि ने तारा जड़ित नीली साड़ी परिधान किए एक गौर-वर्णा सुन्दरी के चित्र में अत्यंत कौशल से अंकित कर दिया है—

गोरे अंगों पर सिहर सिहर, लहराता तार-तरल सुन्दर
चंचल अंचल-सा नीलाम्बर

चाँदनी रात है। निर्मल जल में कगार प्रतिबिंबित हो रहा है। नौका में बैठकर जब यह दृश्य देखा जाता है तो क्षण भर को ऐसा धोखा हो जाता है कि कगार दूना लंबा हो गया है। बिंब और प्रतिबिंब दोनों मिलकर एक हो गए हैं। अंतर का भान ही नहीं होता—

निश्चल जल के शुचि दर्पण पर, बिम्बित हो रजत-पुलिन निर्भर
दुहरे ऊँचे लगते क्षणभर

नदी के बीच में से जब दूर दृष्टि फेंकी जाती है तो ऐसा प्रतीत होता है कि तट की समानान्तर रेखाएँ एक ओर अधिक फैलकर और दूसरी ओर कम चौड़ी होकर सिकुड़ती आ रही हैं, मानों किसी की ये दो दीर्घ भुजाएँ नदी के कृश शरीर को आलिंगन में कस ही लेंगी—

दो बाहों से से दूरस्थ तीर धारा का कृश कोमल शरीर
आलिंगन करने को अधीर

और इस बेचारे विरही कोक को तो देखिए जो अपने ही प्रतिबिंब को अपनी प्रेमिका समझ कर जल के ऊपर चाँदनी रात में चक्कर काट रहा है—

वह कौन विहग ? क्या विकल कोक, उड़ता हरने निज विरह शोक ?
छाया की कोकी को विलोक

सूक्ष्म निरीक्षण के न जाने ऐसे कितने दृश्य पन्त जी के काव्य में भरे पड़े हैं।

Library Sri Pratap College
Srinagar.

ऐसा ही अंकन उन्होंने 'युगवाणी' में दो वृक्षों का किया है। इस अंकन में 'चित्र' और 'काव्य' में कोई अंतर ही नहीं रह गया। देखिए तो इन दोनों मित्रों को !

उस निर्जन टीले पर
दोनों चिलबिल,
एक दूसरे से मिल,
मित्रों से हैं खड़े,
मौन, मनोहर !
दोनों पादप,
सह वर्षातप
हुए साथ ही बड़े,
दीर्घ सुदृढ़तर ?

पतझर में सब पत्र गए झर,
नग्न, धवल शाखों पर
पतली, टेढ़ी टहनी अगणित
शिरा-जाल-सी फैली गुम्फित,
तरुओं की रेखा-छवि कम्पित

भू पर कर छायांकित !
नील निरभ्र गगन पर
चित्रित-से दो तरुवर
आँखों को लगते हैं सुन्दर
मन को सुखकर !

आधुनिक कविता में प्रकृति वर्णन में एक और भी नवीन तथ्य पर दृष्टि गई। वह था वातावरण का चित्रण। इसमें वस्तुओं के वर्णन पर कवि की दृष्टि नहीं रहती है, रहती है उस वातावरण (Atmosphere) के चित्रण पर जिसका संपूर्ण अंग वे वस्तुएँ हैं। ऐसे चित्रणों में प्रभात का वातावरण, रात का वातावरण, वर्षा का वातावरण, पतझर का वातावरण आदि आते हैं।

वातावरण चित्रण का प्रयोग और भी छोटे-बड़े कवियों ने किया है, पर इसमें पंत जी का हाथ बहुत सधा हुआ है। 'गुंजन' की 'एक तारा' कविता में संध्या के वातावरण-अंकन की कुछ पंक्तियाँ देखिए—

नीरव संध्या में प्रशान्त
डूबा है सारा ग्राम प्राँत।
पत्रों के आनत अधरों पर सो गया निखिल बन का मर्मर,
ज्यों वीणा के तारों में स्वर।
खग-कूजन भी हो रहा लीन, निर्जन गो पथ अब धूलि-हीन,
धूसर भुजंग-सा जिह्म, क्षीण।
झींगुर के स्वर का प्रखर तीर केवल प्रशान्ति को रहा चीर,
संध्या प्रशान्ति को कर गँभीर।

'बदली का प्रभात' नाम से 'युगवाणी' में उनकी एक रचना है। उसमें तूलिका का हल्का स्पर्श देखिए—

निशि के तम में झर झर
हल्की जल की फुही
धरती को कर गई सजल !
अँधियाली में छन कर
निर्मल जल की फुही
तृण तक को कर उज्ज्वल !...

वातावरण के ऐसे चित्रण पृष्ठभूमि-अंकन और संश्लिष्ट वर्णन से बिल्कुल भिन्न कोटि के होते हैं, इस बात का ध्यान रखना चाहिए।

प्रकृति-वर्णन में 'पन्त' जी ने और भी कई अपरिचित नए क्षेत्रों में प्रवेश किया है। उदाहरण के लिए 'वर्ण' 'ध्वनि', 'गंध' और 'गति' का ज्ञान और उनका यथारूप चित्रण उनके प्रकृति-काव्य को एक विशिष्टता प्रदान करता है। कुछ उदाहरण लीजिए—

वर्ण-ज्ञान

(१) बन के विटपों की डाल डाल,
कोमल कलियों से लाल लाल।
(२) रुपहले, सुनहले आम्र-बौर।
(३) धूप छाँह के रँग की रेती,
अनिल ऊर्मियों से संपर्कित,
नील लहरियों में लोड़ित,
पीला जल रजत जलद से बिंबित।

ध्वनि-ज्ञान

चीख उठा घुग्घू डालों में
लोगों ने पट दिए द्वार पर,
निगल रहा बस्ती को धीरे
गाढ़ अलस निद्रा का अजगर!

गंध-ज्ञान

मिट्टी की सौंधी सुगंध से
मिली सूक्ष्म सुमनों की सौरभ

गति-ज्ञान

अभी गिरा रवि, ताम्र कलश सा,
गंगा के उस पार।
सिमटा पंख साँझ की लाली
जा बैठी अब तरु शिखरों पर,
ताम्रपर्ण पीपल से शतमुख
झरते चंचल स्वर्णिम निर्झर;
ज्योति स्तंभ सा धँस सरिता में
सूर्य क्षितिज पर होता ओझल!

वर्ड्सवर्थ ने अपनी एक कविता में लूसी नाम की एक बालिका को

प्रकृति के संरक्षण में छोड़ा है। प्रकृति के संसर्ग से उसके हृदय का, उसके सौंदर्य का विकास होता है। प्रकृति अपने अकृत्रिम ढंग से उस बालिका को अपने साँचे में ढालती है। परिणाम यह होता है कि वह बालिका प्रकृति से बिल्कुल पृथक प्रतीत नहीं होती। निशीथ के नक्षत्र उसे प्यारे लगते हैं। ऐसे अनेक निभृत स्थानों में जहाँ नृत्य-निरत लघु नद चमकरदार घुमाव लेते हैं, वह अपने कान लगाती फिरती है। उन नदों की कल ध्वनि से जिस सुषमा की सृष्टि होती है वह उसके आनन में जाकर झलकती है। देखिए न—

The stars of midnight shall be dear
To her; and she shall lean her ear
In many a secret place
Where rivulets dance their wayward round,
And beauty born of murmuring sound
Shall pass into her face.

पन्त पर भी प्रकृति का ऐसा ही स्नेह बिखरता रहा है। कवि 'वीणा' में इस स्नेह को स्वीकार करता हुआ कहता है—

बालकाल में जिसे जलद से
कुमुद-कला ने किलकाया,
तारावलि ने जिसे रिझाया,
मृदु स्वप्नों ने सुहलाया;
मारुत ने जिसकी अलकों में
चंचल चुम्बन उलझाया,
उसे आज अपनी ही छवि में
केवल बाले ! न लुभा ले
उनका भी तो है कुछ भाग !
दीप-शलभ ने जिसे मिचौनी
खेल खेल कर हुलसाया,

कुसुमों ने हँसना सिखलाया,
मृदु लहरों ने पुलकाया;
जिसे ओस-जल ने ढुलकाया,
धवल धूलि ने नहलाया,
उसे कुसुम-सा गूँथ न ले अलि !
कुटिल कुंतलों में काले,
मेघों से भी है अनुराग !

आकर्षण होते ही प्रकृति की लीलाओं को जानने की उत्कण्ठा कवि के हृदय में जग उठती है। प्रकृति के रहस्य का पाठ पढ़ने के लिए वह प्रकृति के ही पास जाता है। जिसे प्रेम करता है उसी से कहेगा मुझे अपना रहस्य समझाओ। नवल कलियों के निकट झूमती हुई, प्रसूनों के अधरों को चूमती मधुकरी घूम रही है। उसी से विनय करनी चाहिए—

सिखा दो ना, हे मधुप कुमारि !
मुझे भी अपने मीठे गान
कुसुम के चुने कटोरों से
करा दो ना, कुछ कुछ मधुपान !

कवि प्रकृति के रूप पर अवश्य मुग्ध हुआ है और इतने वेग से मुग्ध हुआ है कि जिस सौंदर्य ने उसके प्राणों को भर दिया है, उसे वह अपने तक ही सीमित नहीं रखना चाहता, एक-एक प्राणी के उर में उतारना चाहता है। और मधुकरी के साथ कुसुम के खुले कटोरों से उसने कुछ-कुछ मधुपान भी किया है—प्रकृति के रहस्य-रस का कुछ संचय भी कर लिया है; अतः बिना मोल लिए वह प्रकृति के अक्षय भण्डार से हृदय खोल मुक्त-हस्त सौंदर्य लुटा रहा है, आनंद की वर्षा कर रहा है। वह फूलों के हास को, तरल तुहिन वन के उल्लास को, वसंत में वन की डाल-डाल पर विचरण करने वाली कोकिल के कोमल बोल को, लोल लहरियों को, जलद पटों को खोल कर फूटने वाली शरद की रजत मुस्कान को लिए प्राणियों के नयनों और हृदयों की कुञ्जगलियों में पूछता फिरता है—

लाई हूँ फूलों का हास,
लोगी मोल, लोगी मोल ?

अतः प्रकृति के अनन्य उपासक कवि ने प्रकृति से जो अपना संबंध स्थापित किया है उसमें एक अपना ढंग है, एक विकास-क्रम है। प्रकृति की गोद में पलने के कारण कवि उसके प्रेम का अधिकारी है; उससे आकर्षित होने पर वह उसी से प्रेम का पाठ पढ़ने जाता है और रस का संचय करने पर वह विश्व के मन को रस के स्रोत में डुबा डुबा देता है।

'गुंजन' में कवि चिंतनशील हो गया है। उसे अब अपने ही पुलक-कंपन से काम नहीं है। जिन स्थानों को देखकर वह प्रसन्नता से भर जाता था, उन्हीं स्थानों के निकट अब वह गम्भीर मुद्रा से प्रश्न करता है—

शांत सरोवर का उर
किस इच्छा से लहराकर
हो उठता चंचल चंचल ?

घटना साधारण है, पर इस घटना ने उसकी कल्पना को इस ओर अवश्य दौड़ाया होगा कि क्या प्रकृति अपने में पूर्ण है ! क्या वह किसी के लिए विकल नहीं है ! एक दिन कवि का अनुमान सत्य निकलता है—

लहरें अधीर सरसी में
तुमको तकतीं उठ-उठ कर।

जब एक ही प्रणयिनी के लिए मानव-हृदय और प्रकृति-हृदय अधीर है, तब दोनों की आत्मा में कहीं तो सामंजस्य होगा; दोनों की वाणी में कहीं तो मेल होगा ! कहीं एक प्राण ही तो दोनों के शरीर में स्पन्दन नहीं कर रहा ! यदि ऐसा है तो दोनों के भाव-जगत में कहीं साम्य होना चाहिये, भले ही भाषा भिन्न हो। इस सत्य का अनुभव करके ही कवि विहग-कुमारी से आश्चर्य-चकित होकर पूछता है—

विजन वन में तुमने सुकुमारि !
कहाँ पाया यह मेरा गान ?

कवि के भाव-विकास की प्रारंभिक स्थिति यही है कि वह प्रकृति में अपने व्यक्तित्व को प्रतिबिंबित होते देखता है और प्रकृति के जीवन को आदर्श जीवन मानता है। 'पल्लव' में गुलाब के फूल से कवि कहता है—

मुस्कराते गुलाब के फूल!
कहाँ पाया मेरा बचपन?
सुभग मेरा भोला बचपन?
स्व-विस्मित-से गुलाब के फूल,
तुम्हीं सा था मेरा बचपन!
रँगीले मृदु गुलाब के फूल!
कहाँ पाया मेरा यौवन?—
प्राण मेरा, प्यारा यौवन?
हृदय ही-से गुलाब के फूल,
तुम्हीं-सा है मेरा यौवन!
सहज प्रमुदित गुलाब के फूल!
कहाँ पाया ऐसा जीवन?—
सुहृद, ऐसा स्वर्गिक जीवन!
सजग कवि-से गुलाब के फूल,
तुम्हीं-सा हो मेरा जीवन!

प्रकृति को जीवन का आदर्श स्वीकार कर लेने पर वह पक्षियों से कभी तो यह चाहता है कि वे उसके गीतों को लेकर घर-घर फैला आवें और कभी यह सोचता है कि यदि वह पक्षियों के समान गा सकता, तो संसार में फिर दुःख-ताप कुछ भी शेष न रहता। पहली भावना को 'वीणा' और दूसरी को 'युगांत' में उसने अभिव्यक्ति दी है। देखिए—

(क) है स्वर्ण-नीड़ मेरा भी जग उपवन में,
मैं खग-सा फिरता नीरव भाव गगन में;
उड़ मृदुल-कल्पना-पंखों में, निर्जन में,
चुगता हूँ गाने बिखरे तृन में, कन में!

कल-कंठिनि ! निज कलरव में भर,
अपने कवि के गीत मनोहर,
फैला आओ वन-वन घर-घर,
नाचें तृण, तरु, पात !

(ख) गा सके खगों सा मेरा कवि
विश्री जग की संध्या की छवि !
गा सके खगों सा मेरा कवि,
फिर हो प्रभात—फिर आवे रवि !

प्रारंभ में प्रकृति कवि की जीवन-साधना रही है, यह स्वर्ण-किरण की 'हिमाद्रि' रचना से, जो बहुत पहले लिखी जानी चाहिए थी और बहुत बाद में प्रकाशित हुई स्पष्ट होती है। हिमालय बचपन से ही कवि की प्रेरणा का उत्स रहा है, यह वह इन शब्दों में स्वीकार करता है—

मुझ अंचलवासी को तुमने
शैशव में आशी दी पावन,
नभ में नयनों को खो, तब से
स्वप्नों का अभिलाषी जीवन !
बाल्य चेतना मेरी तुम में
जड़ीभूत आनंद तरंगित,
तुम्हें देख सौंदर्य साधना
मेरी महाश्चर्य से विस्मित !

परन्तु जब से कवि मानवतावादी हुआ तब से प्रकृति संबंधी उसकी धारणा में भी अंतर पड़ने लगा। और यह स्वाभाविक ही था। युगांत के उपरांत प्रकृति गौण हो गई और मानव प्रधान हुआ। पहले तो उसने कहा कि प्रकृति की जो प्राणमयता है वह प्रकृति के अपने कारण नहीं, मेरे कारण है। यह भावना 'युगांत' और 'स्वर्ण किरण' दोनों में पाई जाती है—

(अ) नव हे, नव हे !
नव नव सुषमा से मंडित हो

Library Sri Pratap College.
Srinagar.

चिर पुराण भव हे
नव हे!

नव ऊषा-संध्या अभिनंदित
नव नव ऋतुमयि भू, शशि-शोभित,
विस्मित हो, देखूँ मैं अतुलित
जीवन वैभव हे!
नव हे!

अपनी इच्छा से निर्मित जग,
कल्पित सुखदुख के अस्थिर पग,
मेरे जीवन से हो जीवित
यह जग का शव हे!
नव हे!

(आ) यह नीला आकाश न केवल,
केवल अनिल न चंचल,
इनमें चिर आनंद भरा
मेरी आत्मा का उज्ज्वल!
हल्की गहरी छाया के जो
घिरते ये रँग—बादल,
मेरी आकांक्षा की विद्युत्
बहती इनमें प्रतिपल!
मेरी प्राणों की हरीतिमा
तृण तरु दल में पुलकित,
मेरी प्रणय भावना से ही
कली कुसुम नित रंजित।

जैसे-जैसे वह मानव-जीवन के संपर्क में अधिक आता जाता है, मानव-जीवन के सौंदर्य को अधिक देखता है, मानव सुख-दुःख से अधिक तादात्म्य

स्थापित करता है, वैसे ही वैसे प्रकृति की पूर्णता में उसे संदेह होने लगता है। वह कहता है—

मानव की सजीव सुन्दरता
नहीं प्रकृति दर्शन में!

वह सोचता है—ऐसा क्यों? और उसे जो अपने विचार-मंथन से उत्तर मिलता है उसका सार यह है—

जग विकास क्रम में सुन्दरता कब की हुई पराजित,
तितली, पक्षी, पुष्प वर्ग इसके प्रमाण हैं जीवित।
हृदय नहीं इस सुन्दरता के, भावोन्मेष न मन में,
अंगों का उल्लास न चिर रहता, कुम्हलाता क्षण में!
हुआ सृष्टि में बुद्धि हृदय जीवों का तभी पदार्पण,
जड़ सुन्दरता को निसर्ग कर सका न आत्म-समर्पण!
मानव उर में भर ममत्व जीवों के जीवन के प्रति
चिर विकास प्रिय प्रकृति देखती तब से मानव परिणति।

इसी बात को एक दूसरी रचना में उसने इस प्रकार व्यक्त किया है—

हार गई तुम
प्रकृति!
रच निरुपम
मानव-कृति!
निखिल रूप, रेखा, स्वर
हुए निछावर
मानव के तन, मन पर!

प्रकृति संबंधी भावना के विकास का अंतिम रूप पंत जी की रचनाओं में अभी तक यह है कि पुरुष प्रधान है, प्रकृति अप्रधान, पुरुष देवता है, प्रकृति आराधिका, पुरुष प्रकृति के लिए आकुल नहीं, प्रकृति ही पुरुष के लिए आकुल है। चिर यौवना रमणी के रूप में प्रकृति का चित्रण करते हुए कवि 'उत्तरा' में कहता है—

ना, तुमको भी क्या ढक लेगी
धरती की वेणी अँधियाली ?
तुम भू के जीवन के तम में
दो गूँथ उषा मुख की लाली !
वह हरी मखमली चोली में
बाँधे मुकुलों के स्वप्न शिखर,
तुम उन पर निज चेतना रश्मि
बरसाओ, वे नव उठें निखर !
फूलों की शय्या पर लेटा
मधु से गुंजित उसका यौवन,
तुम उसके कंपित अधरों पर
धर दो प्रकाश का चिर-चुम्बन !
कामना लता उसकी बाँहें
कँपती पल्लव पुलकित थर थर;
तुम भू रज के परिरंभण में
दो निखिल स्वर्ग का वैभव भर !
वह चलती, ज्यों उड़ती नभ पर
जीवन के धर शत चरण मुखर,
लहरी सी, गंध समीरण सी,
पग पग पर शोभा पड़ती झर !
चेतना चाँदनी सी उसकी
तम औ' प्रकाश जिसमें गुंफित,
तुम उसका निर्जन शयन कक्ष
नव स्वप्नों से कर दो दीपित !
वह कहती, तुम उसके प्रकाश
वह जिसकी जीवन प्रिय छाया,
श्री सुषमा, प्रीति मधुरिमामय
हो, देव, तुम्हारी रज काया !

पंत जी के काव्य-रूपकों—रजत शिखर और शिल्पी—में प्राकृतिक सौंदर्य के अपूर्व चित्र पाए जाते हैं। अब तक वसंत को प्रकृति की सुंदरतम ऋतु मानने की प्रथा-सी रही है; पर पंत जी ने अपने एक काव्य-रूपक में यह गौरव शरद ऋतु को प्रदान किया है। वहाँ निदाघ, वर्षा, हेमंत, शिशिर और वसंत सभी ऋतुएँ शरद का अभिवादन करती हैं। शुद्ध प्रकृति-वर्णन की दृष्टि से 'रजत शिखर' का 'शरद चेतना' शीर्षक काव्य-रूपक अनुपम बन पड़ा है।

एक बात और। अपने सभी काव्य-ग्रंथों में कवि ने प्रकृति के कोमल और कमनीय स्वरूप का ही चित्रण विशेष रूप से किया है; पर 'शिल्पी' के 'ध्वंस शेष' में पंत जी के पाठक उस प्रलय का वर्णन भी पाएँगे जो प्रकृति के भयंकर और वीभत्स रूप को सामने लाता है। कुछ पंक्तियाँ देखिए—

घोर बवंडर, प्रबल प्रभंजन अट्टहास भर
पंख अश्व दैत्यों से उड़कर, निखिल भुवन को
कुचल रहे निज नृत्य मत्त उद्धत टापों से!
धुंध धूल बन निखिल भूत घूमते निलय के
विकट भँवर में, चक्राकार घुमड़ अंबर को!
भूमि कंप शत दौड़ रहे क्षत धरा वक्ष पर
शिला अस्थियों को, मांसल रज को बखेरते,
फट-फट पड़ती ज्वालामुखियाँ विकट घोष कर
द्रवित रक्त मज्जा उड़ेलतीं धरा उदर से—
हृदय क्षोभ ज्यों उगल उबालों में, वमनों में
थूक रही हों नभ के मुख पर घोर घृणा से!

'अतिमा' में प्राकृतिक वस्तुओं का वर्णन करते समय उनकी सुंदरता और कोमलता पर फिर कवि की दृष्टि एक बार कुछ अधिक देर तक जमी है, आकार प्रकार का विवरण कुछ विस्तार से दिया गया है, अंग-भंगिमाओं को कुछ अधिक मुग्ध दृष्टि से देखा गया है, वस्तुएँ फिर युवतियाँ बन गई हैं। संक्षेप में मानवीकरण की ओर उनकी रुचि फिर जगी है और इस प्रकार ये रचनाएँ

एक बार फिर छायावादी प्रभाव में आ गई हैं। सेम की बेल, जपा के फूल और सोनजुही आदि के वर्णन उसी प्राचीन शैली में हैं। 'संदेश' शीर्षक रचना में अपने कमरे की जाजिम पर लेटी धूप के वर्णन में पंत जी की उस मुग्ध दृष्टि की सराहना कीजिए जिसने धूप के कमल से कोमल स्तनों, गोरी बाँह और ग्रीवा को देख ही लिया—

वह सूर्यमुखी किरणों की परियों से वाहित
सुकुमार सरोरुह से स्तनवाली सलज धूप!
वह हेम हंस के पंखों पर उड़ने वाली
गोरी ग्रीवा बाँहों वाली चंपई धूप!
वह तुहिन वाष्प के धूप छाँह बल्कल पहने
सौरभ मरंद तन वाली, मलयज सनी धूप,
वह फूलों के मृदु मुखड़ों पर हँसने वाली
नीले ढालों पर सोने वाली सुघर धूप!

ऐसा ही कुछ-कुछ रसमय वर्णन 'उभरे अंगों की गोलाई' और 'निखरे रंगों की गोराई' वाली 'सोनजुही' का है—

दुबली पतली देह लतर, लोनी लंबाई,
—प्रेम डोर सी सहज सुहाई!
फूलों के गुच्छों से उभरे अंगों की गोलाई,

निखरे रंगों की गोराई—
शोभा की सारी सुघराई
जाने कब भुजगी ने पाई!
अर्पित करती, लो प्रकाश को
निज अधरों के अमृत हास को
प्राणों के स्वर्णिम हुलास को!

'पतझर' एक विशेष ऋतु से संबंध रखने वाली रचना है। हिंदी के कवियों ने शरद वसंत और वर्षा के ही गीत गाए हैं। 'पतझर' प्रायः उनकी

उपेक्षा का विषय रहा है; पर पतझर का भी अपना निराला सौंदर्य है जिसे सब की दृष्टि नहीं देख पाती। कुछ पंक्तियाँ देखिए—

(१)

अनलंकृत सौंदर्य ! प्रकृति के रेखाचित्र अकल्पित !
नग्न टहनियों के ठूँठे, नीलिमा जड़े, छवि पंजर,
धूप छाँह संगति से, पल्लव माँसल परिणति से भर
तुम मधु के मंजरित स्वप्न अंतर में करते जागृत !

(२)

धूसर साँझों में, कुहरों के मुँदे प्रात कुम्हलाते,
म्लान कमल के दिवस, सुहाता चल मृदूष्ण मेघातप,
पके धान लहराते स्वर्णिम धूप छाँह में कँप कँप,
बूट चबा, गन्ने का रस पी, थके किसान सिराते !

(३)

झर झर पड़ते पीले पत्ते पांशुल कर दिङ्मंडल,
चरमर कर पैरों के नीचे, भँवरों में उड़ फर् फर्,
रजस्वती पांडुर वरना भू, अंगराज मल तन पर,
नहा महावट की फुहार में निखर रही तृण श्यामल !

(४)

हे अपरूप, दिगंबर, दारुण सुन्दर, चिर ताँडव रत,
मुझे ज्ञात, नित प्रलय सृजन, पतझर मधु साथ विचरते,
विद्रोही तुम, जीर्ण विरस भू भार जगत का हरते,
भग्न रिक्त को पूर्ण, पुरातन को कर नूतन अविरत !

'कूर्माचल के प्रति' इस संग्रह की असाधारण सुंदर रचना है जिसकी गणना पंत जी के सभी कालों की श्रेष्ठतम रचनाओं में होनी चाहिए। रचना कुछ लंबी है; पर कवि की सभी ऐसी रचनाओं के समान है अत्यधिक सफल।

इतनी लंबी रचना जो कहीं से भी नहीं उतरी है, उसके कई कारण हैं। पहला यह कि हिमालय सदा से कवि की प्रेरणा का स्रोत रहा है और संभवतः इस विषय पर लिखी अनेक रचनाओं में से यही वह रचना है जिसमें वह अपने मन की समस्त भावनाओं को पूर्ण रूप से उड़ेल पाया है। दूसरे इसका प्रारंभ अत्यंत आत्मीयता भरे स्वरों में हुआ है जिससे आगे के सृजन-पल भी स्वस्थ क्षणों में परिवर्तित हो गए हैं। यों इस रचना में पच्चीकारी कुछ अधिक है और ऐसा प्रतीत होता है जैसे कवि ने इसे बड़े मनोयोग से धीरे-धीरे लिखा हो। तीसरी बात यह कि यह वर्णन षट् ऋतुओं के आधार पर हुआ है, इससे वर्णन के लिए विस्तृत पट और कल्पना के लिए मुक्त अवकाश स्वतः मिल गया है।

गुहा और घाटी, झरने और सोते, शिखर शिला और हिम, घन ज्योत्स्ना, तड़ित और इंद्रधनु, चीड़ देवदारु और बाँझ, लतागुल्म फूल और पत्ते, सिंह ऋक्ष और मृग आदि के उल्लेख द्वारा कवि ने चित्र को यथार्थता; रंग स्वर और गंध का संसार बसाकर उसे अनुपम कमनीयता एवं हिमालय की विराटता, सुषमा और पवित्रता का भान कराकर कला को गरिमा प्रदान की है। यों इस रचना का सौंदर्य उसे पूरा पढ़ने में ही है, फिर भी कुछ अंश देखिए—

(१)

ऊपर, सीपी के रंग का नभ, नव मुक्तातप से भर,
रजत नीलिमा गलित, सहज हँसता-सा लगता सुन्दर।
ऊँचे उड़ने वाले, निर्जल, कौश मसृण, रोमिल घन
चूर्ण रुपहली अलकों में उलझा रवि किरणें उज्ज्वल
मौन इंद्रधनुषी छाया का स्वप्न नीड़ रच, चंचल
उड़ती-चितवन के खग को बन्दी कर लेते कुछ क्षण!

(२)

उग्र कराल शिलाएँ भरतीं मन में विस्मय संभ्रम,
घोर अँधेरी गहरी दरियों में बसता आदिम तम,
स्फीत नाद भर बहते ढहते-जल-स्तम्भों से निर्झर!

निविड़ गहन में सहसा जगमग जल उठते पट बीजन
हिंस्र व्याघ्र के विस्फारित हरिताभ भयावह लोचन,—
सँकरी घाटी में सर्पों से स्रोत सरकते सरमर !

(३)

विहंगों के स्वर उर में अलिखित गीतों के पद बनते,
तरु वन की अस्फुट मर्मर में भाव अचेतन छनते,
क्षिप्र मुखर स्रोतों में रहते अगणित छन्द तरंगित !
मूर्त प्रेरणा सी लहराती नभ में शतधा विद्युत्,
साँझ प्रात के कांचन तोरण किसे न लगते अद्भुत,
रजत मुकुर सरसी में हँसता मुख अनंत का बिम्बित !

(४)

यह भौतिक ऐश्वर्य शुभ्र गरिमा से मन को छूकर,
नीरव आध्यात्मिक विस्मय से अन्तर को देता भर,—
एक महत् गुण अन्य गुणों को करता नित आकर्षित !
जग जीवन का क्रंदन शोषण हो जाता तुममें लय,
जगता प्राणों में अनन्त भावों का वैभव अक्षय,
उर्ध्वारोही मौन शांति में भू मन को कर मज्जित ।

प्रकृति के क्षेत्र में 'पन्त' की सबसे बड़ी विशेषता है 'ज्योत्स्ना' में प्रकृति के कल्याणकारी स्वरूप को चित्रित करना। वैसे 'पल्लव' में पन्त जी ने गगन के गान को धरा, सरित, सर, सागर में बरसवा कर जगत के ताप को हरने की प्रार्थना की है, इसी प्रकार 'युगांत' में कवि ने कोकिल से वाणी के पावक-कण बरसवाकर अंध-रूढ़ि-रीतियों तथा राग-द्वेषों को नष्ट करने एवं सुखपूर्ण नवीन मधुर जीवन लाने की बात कही है। पर बात दोनों स्थानों पर बढ़ने नहीं पाई। उनकी बात मेघों और कोकिलों ने सुनी या नहीं, इसका कोई संकेत नहीं।

पर ज्योत्स्ना नाटिका में कवि की आशा फलवती हुई है। प्रकृति के मंगल-विधायक कर्नों को अंकित कर कवि ने अपने उद्देश्य की प्राप्ति की है। संसार को ही स्वर्ग बनाने के स्वप्न बहुत दिन से संसार की कल्याण-कामना से पूर्ण हृदय देखते आए हैं। 'ज्योत्स्ना' भी एक वैसा ही स्वप्न है। प्रकृति का इतना विराट् रूपक आजतक हिन्दी में नहीं प्रस्तुत हुआ। प्रकृति से इतने महान् कार्य का सम्पादन आज तक हिन्दी में किसी ने नहीं कराया। कवि देखता है : इस युग के मनोजगत में सर्वत्र ऊहापोह और क्रांति मची हुई है। धर्मान्धता अंध-विश्वास और जीर्ण रूढ़ियों से संग्राम चल रहा है। विकासवाद के दुष्परिणाम से भौतिक ऐश्वर्य पर मुग्ध एवं इंद्रिय सुख से लुब्ध मनुष्य जाति समस्त वेग से जड़वाद के गर्त की ओर अग्रसर हो रही है! इस स्थिति की रोक-थाम प्रकृति ही कर सकती है। सम्राज्ञी ज्योत्स्ना किरणों के यान पर छाया पथ से भू-लोक के मानस सरोवर के निकट उतरती है, पवन से संसार की डाँवाडोल स्थिति का ज्ञान प्राप्त करती है। सम्राज्ञी की आज्ञा से स्वप्न और कल्पना सुप्त मनुष्य जाति के मनोवेग-लोक में प्रवेश कर मनुष्यों में नवीन संस्कार एवं भावनाएँ जाग्रत करते हैं। 'नवयुग' का निर्माण होता है। नाटक संशय की संध्या में प्रारम्भ होकर स्पष्ट सुख के आलोक में समाप्त होता है—

> लो, जग की डाली डाली पर
> जागीं नव जीवन की कलियाँ!

———

पंत की प्रेम-भावना

नर-नारी के बीच आकर्षण के स्थायित्व को प्रेम कहते हैं। आकर्षण क्यों होता है, यह एक रहस्य है। जो लोग जन्मांतरवाद में विश्वास करते हैं, उनका कहना है कि जिन दो व्यक्तियों के बीच आकर्षण होता है वे पूर्व जन्म के एक दूसरे के परिचित होते हैं और इस जन्म में जब कहीं अनजाने मिल जाते हैं तो एक दूसरे से आकर्षित हो जाते हैं। परन्तु और हैं जो इस सिद्धांत में विश्वास नहीं करते। उनके लिए आकर्षण के मूल में रहने वाले किसी कारण की खोज करनी होगी। यह एक अत्यन्त सामान्य-सी बात है कि हमारा आकर्षण ऐसे ही व्यक्तियों के प्रति होता है जो जाने या अनजाने किसी न किसी रूप में हमारे संस्कारों को संतुष्ट करते हैं। अपने माता-पिता से, पुस्तकों के अध्ययन से और साथ ही अपने चारों ओर के वातावरण से हम जिन संस्कारों को प्राप्त करते हैं वे हमारे हृदय में संचित हो जाते हैं। उन संस्कारों के जो जितने अधिक अंश में अनुकूल रहता है, उसी अंश में वह हमें प्रिय हो उठता है।

प्रेम के क्षेत्र में सबसे प्रमुख और तीव्र सैक्स की भावना है। जिसकी ओर हम आकर्षित होते हैं, वह किसी न किसी रूप में हमारी सैक्स भावना को गुदगुदाता है। यह भावना बड़ी जटिल है। इतना होने पर भी सभी प्रेमियों में यह प्रबल नहीं होती। बहुत से व्यक्ति हैं जो शरीर के सुख के लिए इतने लालायित नहीं होते जितने इस बात के इच्छुक होते हैं कि किसी के मन को वे प्रभावित कर सकें और कहीं कोई ऐसा हो जो उनके मन को समझ सके। इससे आगे आकर्षण कहीं-कहीं बौद्धिकता पर चलता है। किसी-किसी की प्रतिभा से हम चकित रहते हैं और जीवन भर बँधे रहते हैं। न ऐसे व्यक्तियों के शरीर की ओर हमारा ध्यान रहता है और न अपने लिए उनकी भावुकता से तात्पर्य। प्रेम की कोई-कोई घटना इससे भी सूक्ष्म होती है। कभी-कभी ऐसा होता है कि जीवन में दो प्राणी मिलकर सदैव को एक-दूसरे से बिछुड़

जाते हैं। वहाँ शरीर से भी सम्बन्ध नहीं रहता, बौद्धिकता से प्रभावित होने की बात भी नहीं उठती और नहीं उठती उनके मन को प्रभावित करने की बात। फिर भी दो प्राणी दूर बैठे एक दूसरे के लिए चुप-चुप अनुभव करते रहते हैं। ऐसी दशा में केवल आत्मा आत्मा को पहचानती है। प्रेम के लिए एक प्रवृत्ति ही पर्याप्त होती है, पर पूर्ण और उच्चकोटि का प्रेम वह है जहाँ दो प्राणियों में शरीर, मन, बुद्धि एवं आत्मा चारों की अनुकूलता हो।

साहित्य और जीवन दोनों में देखा गया है कि जहाँ प्रेम उत्पन्न हुआ, वहाँ बाधा भी खड़ी हो जाती है। कहीं प्रतिपक्षी, कहीं घर, कहीं समाज, दो प्राणों के बीच आकर खड़े हो जाते हैं और उन्हें मिलने से रोकते हैं। पश्चिम में जब कोई व्यक्ति किसी के प्रेम में पड़ जाता है तो किसी न किसी प्रकार उसे प्राप्त करके ही छोड़ता है। वहाँ जीवन को बहुत महत्त्वपूर्ण समझा जाता है। परन्तु दार्शनिक विचारों की प्रधानता के कारण पूर्व में जीवन की माँग के लिए वह माँग नहीं है। यहाँ का साहित्य भी इस प्रकार का रहा है जो इस आग को भड़काता नहीं, शान्त करता है।

आधुनिक हिन्दी काव्य में मैथिलीशरण गुप्त एवं अयोध्यासिंह उपाध्याय के व्यक्तिगत प्रेम का कोई परिचय हम उनकी कृतियों में नहीं पाते। हो सकता है दोनों के जीवन में प्रेम की कोई ऐसी घटना न घटी हो जो उस प्रकार के काव्य को जन्म देती। प्रेम में प्रसाद की दृष्टि विलासपूर्ण, निराला की दाम्पत्य भाव की, पन्त की मानसिकता की और महादेवी की आध्यात्मिक है; परन्तु पिछले पचास वर्ष के काव्य को यदि हम लें तो एक बात सामान्य रूप से पाई जाती है और वह यह कि प्रसाद, निराला, पंत, महादेवी, रामकुमार, बच्चन, नरेन्द्र, तारा पांडे, सुमित्राकुमारी सिनहा, शान्ति मेहरोत्रा और सैकड़ों कवियों को यदि एक पंक्ति में आप खड़ा कर दें तो इन्होंने इतने उच्छ्वास भरे हैं कि आकाश के नीचे एक नया आकाश निर्मित हो जाय और उन सबकी आँखों में इतने आँसू हैं कि यदि वे कपोलों पर ढुलक कर पृथ्वी पर गिर पड़ें तो यदि समुद्र नहीं, तो एक सूखा सरोवर अवश्य ही भर जाय।

इनमें 'बच्चन' की प्रवृत्ति कुछ भिन्न है। उन्होंने विनाश के खँडहर पर रात-दिन आँसू न बहाकर निर्माण के प्रासाद पर हँसी बिखेरी है। एक रुग्ण

भावना से अधिक उन्होंने जीवन को महत्त्व दिया है। पूछा जा सकता है कि उनके जीवन में अनन्यता को कहाँ स्थान है ? परन्तु मैं समझता हूँ आने वाले युग में पुराने ढंग की अनन्यता को शायद ही कोई महत्त्व प्राप्त हो। पिछली अर्द्ध शताब्दी का साहित्य प्रेम में आँसुओं की बाढ़ का विराट् प्रदर्शन है। उसमें जीवन की कितनी विवशता, कितनी दयनीयता, कितनी अकिंचनता बंदिनी है ! कितनी विरक्ति, कितनी उपेक्षा, कितनी निष्क्रियता वहाँ ठंढी साँसें भर रही है। इन बातों पर ध्यान दें तो अनन्यता का आदर्श उदाहरण न होते हुए भी 'बच्चन' का प्रेम-सम्बन्धी दृष्टिकोण अन्य कवियों की अपेक्षा कुछ अधिक व्यावहारिक, विकासशील और स्वस्थ है। पर वह युग आ रहा है प्रेम को और भी स्वस्थ रूप में ग्रहण कर सकेगा।

पन्त जी के जीवन की आकर्षण की घटनाओं पर विचार करें।

ग्रंथि की कथा

मधुर वसन्त की एक रम्य संध्या में जब भौंरे गंध से मुग्ध होकर झूम रहे थे, आम्रराजि में कोकिल कूक-कूक उठती थी, पृथ्वी की कोमल कल्पनाएँ सुमन बनकर खिल रही थीं, तभी कवि एक सरोवर में नौका खे रहा था, कि चंचल लहरों की लपेट में सूर्य के डूबने के साथ जल में नाव भी डूब गई। जीवन और प्रकृति में अंधकार छा गया।

मूर्च्छा टूटने पर कवि ने देखा कि न जाने किस प्रकार एक बालिका ने डूबने से उसे बचा लिया है। वह उसके शीश को अपनी कोमल जाँघ पर रखकर चिन्ता और अधीरता से यह देख रही है इसकी पूर्ण चेतना कब लौटे।

सहसा आकाश में पूर्णिमा का चाँद उग आया। कवि ने दोनों चाँदों को देखा, पर आकाश के चाँद से पृथ्वी का चाँद उसे अधिक आकर्षक लगा। एक लट मुख पर ठहर कर उसे और भी सुन्दर बना रही थी। पल भर के लिए दोनों के नेत्र मिले। बालिका का मुख लज्जा से लाल हो गया। कवि ने अत्यन्त विनम्रता और शिष्टता से प्रणय की याचना की। वह बालिका संकोच के कारण कोई उत्तर न दे सकी। उसने केवल एक शब्द कहा, 'नाथ !' और चली गई।

घर लौटने पर उसकी परिवर्तित दशा को लक्ष्य कर समवयस्का सखियों ने

उससे छेड़छाड़ की। इधर कवि अत्यन्त विकल रहने लगा। बचपन में ही वह अपने माता-पिता को खो चुका था और पता चला था कि उसकी स्नेहिनी के माता-पिता भी नहीं रहे; अतः सोचता था कि दो स्नेह-वंचित जीवन मिलकर सुखी हो सकेंगे।

परन्तु विधाता को यह स्वीकार न था। कवि की आँखों के सामने ही उस बालिका का ग्रंथि-बंधन किसी दूसरे व्यक्ति के साथ हो गया। वह रात कवि ने एक निर्जन स्थान में रो-रो कर काटी। इस प्रकार जल के आवर्त्त से बचकर कवि का जीवन विषाद के आवर्त्त में सदैव को लीन हो गया।

पात्र

इस कथा में दो ही पात्र हैं—कवि और एक बालिका। कवि प्रकृति का प्रेमी है। रम्य वसन्त की रम्य संध्या में वह एक सरोवर में नौका-विहार के लिए निकलता है। लेकिन नाव खेना ठीक से नहीं जानता, अतः डूब जाता है। उसे एक बालिका बचाती है—निश्चित रूप से तैर कर। प्रेम की कहानियों में अब तक ऐसा पढ़ा गया है कि प्रायः युवकों ने ही युवतियों को बचाया है। यहाँ उल्टे एक युवती एक युवक को बचाती है। कवि सौंदर्य का प्रेमी है और प्राण बचते ही उसकी सबसे पहिली दृष्टि बालिका के सौंदर्य पर पड़ती है। यह सौंदर्य-भावना बड़ी सूक्ष्म है। कृतज्ञता की भावना भी उसमें पूरी-पूरी पाई जाती है। कृतज्ञता और आकर्षण के संयोग से उसकी वाणी में एक प्रकार का विलक्षण माधुर्य सन्निविष्ट हो गया है। दृष्टि मिलते ही वह आकर्षित हो जाता है और अपने आकर्षण को उसने स्पष्ट शब्दों में स्वीकार किया है। प्रथम परिचय में ही वह बहुत मुखर हो उठा है यह सत्य है, पर इस मुखरता में शालीनता बराबर विद्यमान है। वह कवि है; अतः उसकी साधारण बातचीत भी भावसिक्त और कल्पना के भार से बोझिल है। धीरे-धीरे उसका आकर्षण गहराई पकड़ता है और वह अत्यधिक विकल रहने लगता है। प्रेम में उसे सफलता नहीं मिलती। उसकी प्रेमिका का विवाह किसी अन्य व्यक्ति से कर दिया जाता है। इस प्रकार उसका सपना टूट जाता है। उसकी आशा पर तुषारपात होता है और वह फिर विछोह सहन करने के लिए बाध्य होता है।

इस व्यक्ति की सबसे बड़ी विशेषता है कोमलता—चरित्र संबंधी भी और भावना संबंधी भी। कहानी से यह तो निश्चित है कि वह बालिका भी आकर्षित थी और वह आकर्षण प्रेम में परिवर्तित हो गया था। ऐसी दशा में कवि की ओर से किसी प्रकार का प्रयत्न न करना बहुत खटकता है। बहुत संभव है लड़की के घर वालों को इस प्रणय-संबंध का पता ही न चला हो। कम से कम कहानी से कुछ स्पष्ट नहीं होता। पुरुष में कोमलता एक सीमा तक ही अच्छी लगती है। यह निश्चित है कि वह विवाह बालिका के मन के अनुकूल भी नहीं रहा होगा। वह भी काफ़ी डूब ही गई थी। जिसने जान पर खेल कर एक व्यक्ति के प्राण बचाये, वह उसके सामाजिक जड़-बंधन के समय उसकी मुक्ति में सहायक न होकर निर्जन में बैठा रोता रहा, इस विवशता पर वह कितनी रोई होगी; पर जो कहानी के प्रारम्भ में ही सरोवर में नौका डुबा बैठा, वह आगे चल कर प्रेम की नौका को खेकर न ले जा सके तो अधिक आश्चर्य न होना चाहिए।

बालिका का नाम कवि ने नहीं दिया। कुछ होगा। उससे कुछ बनता बिगड़ता नहीं। उससे पहिला परिचय हमारा उस समय होता है जब वह एक डूबे हुए को अपने प्रयत्न से बचाकर अपनी सुकोमल जाँघ पर उसका सिर रखे उसकी साँस लौटाने के लिए आकुल है। साहस, सेवा और करुणा की यह मूर्ति पाठकों की दृष्टि एकदम आकर्षित करती है, उनका हृदय एकदम छूती है। इस सबके ऊपर वह सुंदर है—इतनी सुन्दर कि उस रात पूर्णिमा का चाँद उसे देखकर लजा गया है। उसकी तीसरी विशेषता है उसकी मौनता। कवि जितना मुखर है वह उतनी ही मौन। वास्तव में यह अन्तर कवि और बालिका के स्वभाव का नहीं, पुरुष और प्रकृति के, स्त्री और पुरुष के स्वभाव का है। कवि की सारी बातों का उत्तर वह एक शब्द से दे देती है। आगे चलकर जब प्रगल्भा सखियाँ प्रेम पर लम्बे चौड़े व्याख्यान देती हैं और प्रेम-संबंधी अपने-अपने अनुभव सुनाती हैं तब भी वह एकाध बात से अधिक कुछ नहीं कहती, अधिकतर मधुर मुसकान से ही काम लेती है। ग्रन्थि-बंधन के उपरान्त तो वह मूर्ति एकदम आँखों के सामने से हट जाती है। उसे इतने कम बोलने का अवसर कवि ने क्यों दिया है? क्यों उसके हाहाकार को उसने दबा दिया?

इन पात्रों के अतिरिक्त कहानी में बालिका की कई सखियों की अवतारणा हुई है। वे हास्य-विनोद-व्यंग्य-स्नेहमयी हैं, पर नायिका के व्यक्तित्व की रेखाएँ पुष्ट करने के लिए ही उनका उपयोग हुआ है। उनका अपना कोई स्वतंत्र अस्तित्व नहीं। इनके अतिरिक्त इस कथा में नायिका के साथ घूमने वाली उसकी एक प्रिय बिल्ली है जिसने अपनी उपस्थिति से वातावरण को यथार्थता प्रदान की है।

वर्णन

ग्रन्थि एक वर्णन-प्रधान कहानी है। प्रकृति के वर्णन, सौंदर्य के वर्णन और सबसे अधिक भावनाओं के वर्णन में कवि को इसमें सफलता मिली है। ग्रन्थ के प्रारम्भ में ही प्रकृति का वर्णन एक घटना की पृष्ठभूमि के रूप में हुआ है। वसंत की संध्या के इस प्रसन्न मनोहर दृश्य को देखिए जिसके उपरांत ही कवि के जल में डूबने की घटना घटित होती है—

वह मधुर मधुमास था, जब गंध से
मुग्ध होकर झूमते थे मधुप-दल;
रसिक-पिक से सरस तरुण-रसाल थे
अवनि के सुख बढ़ रहे थे दिवस से।
जानकर ऋतुराज का नव-आगमन
अखिल कोमल-कामनाएँ अवनि की
खिल उठी थीं मृदुल-सुमनों में कई
सफल होने को अवनि के ईश से।
रुचिरतर निज कनक-किरणों को तपन
चरम-गिरि को खींचता था कृपण-सा
अरुण आभा में रँगा था वह पवन
रजकणों की वासनाओं से विपुल।
तरणि के ही संग तरल तरंग से
तरणि डूबी थी हमारी ताल में।

नायिका के चंद्र-मुख की सुन्दरता, उसके मुख पर सहसा एक लट के स्थिर

हो जाने की रम्यता और दृष्टि-मिलाप से दौड़ी लाज की लालिमा को निम्नलिखित पंक्तियों में देखिए—

इंदु पर, उस इंदु-मुख पर, साथ ही
थे पड़े मेरे नयन, जो उदय से
लाज से रक्तिम हुए थे;—पूर्व को
पूर्व था, पर वह द्वितीय अपूर्व था!

बाल-रजनी-सी अलक थी डोलती
भ्रमित हो शशि के वदन के बीच में;
अचल, रेखांकित कभी थी कर रही
प्रमुखता मुख की सुकवि के काव्य में!

लाज की मादक-सुरा-सी लालिमा
फैल गालों में, नवीन गुलाब से,
छलकती थी बाढ़-सी सौंदर्य की
अधखुले सस्मित-गढ़ों से, सीप से!

कवि को बचाने के उपरांत बालिका की स्नेह-समन्वित आशामयी अधीरता, चेतना लौटने पर कवि के प्रणय निवेदन, प्रणय याचना की प्रतिक्रिया स्वरूप बालिका की लज्जा, नायिका के वातायन के निकट बैठ उद्यान को देखने, सखियों की छेड़-छाड़, कवि के अपने आश्रयहीन जीवन और सबसे अधिक हताश हृदय की पीड़ा आदि के वर्णन में पंत जी ने कुछ उठा नहीं रखा। कवि ने जब हृदय खोलकर अपने आकर्षण की बात कही, तो नायिका ने एक ही शब्द में उसे भर दिया—

निज पलक, मेरी विकलता, साथ ही
अवनि से, उर से मृगेक्षिणि ने उठा,
एक पल, निज स्नेह-श्यामल दृष्टि से
स्निग्ध कर दी दृष्टि मेरी दीप-सी।
'नाथ!' कह, अतिशय मधुरता से दबे
सरस-स्वर में, सुमुखि थी सकुचा गई।

बालिकाएँ एकांत में जब अपनी सखियों के बीच होती हैं तो अपना हृदय खोलकर ही रख देती हैं। उस गोष्ठी में पुरुष का प्रवेश नहीं; अतः उनकी स्वीकारोक्तियों को सुनने का रस उसे कम मिलता है। ग्रन्थि में एक सखी अपने भावना-जगत की चर्चा करती हुई कहती है—

स्वप्न के सस्मित-अधर पर, नींद में।
एक बार किसी अपरिचित—साँस का
अर्द्ध-चुम्बन छोड़, मैं झट चौक कर
जग पड़ी हूँ अनिल-पीड़ित लहर-सी।

ग्रन्थि अत्यन्त निर्दयता से तोड़े गए कोमलतम हृदय का करुण चीत्कार है। कवि की प्रेमिका का हाथ जब किसी अन्य व्यक्ति के हाथ में सौंप दिया जाता है तो उसका हृदय हा-हाकार कर उठता है—

शैवलिनि ! जाओ, मिलो तुम सिंधु से,
अनिल! आलिङ्गन करो तुम गगन को
चन्द्रिके ! चूमो तरंगों के अधर,
उडुगणो ! गाओ, पवन-वीणा बजा !
पर, हृदय ! सब भाँति तू कङ्गाल है,
उठ, किसी निर्जन-विपिन में बैठ कर
अश्रुओं की बाढ़ में अपनी बिकी
भग्न-भावी को डुबा दे आंख-सी !

प्रेम-भावना

ग्रन्थि के प्रेम के मूल में यद्यपि नायिका की ओर से प्रारम्भ में थोड़े कर्म-सौंदर्य के आयोजन की कल्पना भी है—अपने प्राणों पर खेलकर ही उसने कवि के प्राण बचाये होंगे; पर अधिकतर यह भावना-मूलक है। मूर्छा से जगते ही कवि की दृष्टि नायिका के सौंदर्य पर पड़ती है और वह तुरन्त आकर्षित हो जाता है। इस प्रेम में अपने बचाने वाले के प्रति कृतज्ञता की भावना नायक के मन में है और बचपन से ही वह प्यार से वञ्चित रहा है; अतः हृदय ने अपने अभाव की पूर्ति यदि चाही हो तो वह आकांक्षा एकदम स्वाभाविक और

मनोवैज्ञानिक है; पर है यह ऐसे ही प्रेम का उदाहरण जो देखते ही उत्पन्न होता है। कवि ने दृष्टि मिलते ही नायिका के प्रणय का परिचय दिया है। उसे भी कवि ने प्रारम्भ से स्नेह-वंचिता रखा है। अतः एक-सी मानसिक स्थितियों के दो व्यक्तियों को स्थिति ने यदि टकरा दिया तो ठीक ही किया। यह दुःख की बात है कि इस टकराहट से दोनों हृदय आगे चलकर चकनाचूर हो गये।

प्रणय-भावना में पल्लवित होने वाले नायिका के हृदय की चर्चा कवि ने जिस प्रकार सखियों के प्रसंग में की है उसी प्रकार यौवन की छाया में प्रणय की ओर बढ़ने वाले अपने हृदय की भावनाओं के विकास का परिचय उसने अपनी दशा के वर्णन में दिया है। इन दोनों में अपनी दशा का वर्णन उसने स्पष्ट रूप से किया है; पर नायिका के हृदय की गति का विश्लेषण अधिक व्यंजनात्मक और काव्यमयी भाषा में। प्रणय की चर्चा के उद्दीपनकारी वातावरण में वहाँ प्रणय-भावना दृढ़ता पकड़ती चली जाती है।

ग्रन्थि-बंधन के उपरांत जो वर्णन है वह नियति को दोष और अपने क्षोभ का विवरण देने के लिए है। इसे आप विरह-वर्णन भी कह सकते हैं। इस वर्णन में कवि ने नियति, सृष्टि, दर्शन, ज्ञान, प्रेम, सौंदर्य, विरह, स्मृति, अश्रु, कल्पना, आशा, सुख आदि पर विचार किया है। परन्तु स्मरण रखना चाहिए कि यह दुःखी व्यक्ति का विचार है। इस संबंध में सबसे अधिक कहा है कवि ने वेदना पर। यह बात स्वीकार करते हुए भी कि पंत के विरह-वर्णन में कसक बराबर विद्यमान है, यह कहना पड़ता है कि विरह इनका भाव-प्रधान उतना नहीं है जितना विचार-प्रधान। दुःख में न डूब कर कवि बार-बार दुःख पर सोचने लगता है। अतः इस वेदना में वह मार्मिकता नहीं है जो पाठक को अभिभूत कर देती है, उसकी आँखों से आँसू खींच लाती है। कवि के साथ पाठक का हृदय जो नहीं बह पाता उसका दूसरा कारण भारी संस्कृत-गर्भित उसकी शैली और भाषा में अलंकरण की उसकी प्रवृत्ति है।

प्रेम के ऊपर पंत जी की कुछ मार्मिक उक्तियाँ देखिए—

यह अनोखी रीति है क्या प्रेम की
जो अपांगों से अधिक है देखता

Library Sri Pratap College.
Srinagar.

दूर होकर और बढ़ता है, तथा
वारि पीकर पूछता है घर सदा?

प्रेम ही का नाम जप जिसने नहीं
रात्रि के पल हों गिने, प्रति शब्द से
चौंक कर, उत्सुक नयन जिसने उधर
हो न देखा,—प्यार उसने क्या किया?

पर नहीं तुम चपल हो, अज्ञान हो,
हृदय है, मस्तिष्क रखते हो नहीं,
बस, बिना सोचे, हृदय को छीनकर,
सौंप देते हो अपरिचित-हाथ में!

कौन दोषी है? यही तो अन्याय है!
वह मधुप बिंध कर तड़पता है, उधर
दग्ध-चातक तरसता है,—विश्व का
नियम है यह; रो अभागे हृदय! रो!!

शून्य-जीवन के अकेले-पृष्ठ पर
विरह!—अहह, कराहते इस शब्द को
किस कुलिश की तीक्ष्ण, चुभती नोंक से
निठुर-विधि ने अश्रुओं से है लिखा!!

× × ×

'पल्लव' में प्रेम-संबंधी कई रचनाएँ हैं। उनमें 'उच्छ्वास, और 'आँसू' काफी लंबी है। 'उच्छ्वास' में पहाड़ी प्रदेश के प्राकृतिक सौंदर्य की पृष्ठभूमि में एक बालिका के साथ प्रेम-व्यापार के चलने की चर्चा पंत जी ने की है। बालिका सुन्दर थी, सरल थी। सुंदरता और भोलेपन का मिला-जुला वर्णन देखिए—

सरलपन ही था उसका मन
निरालापन था आभूषण

कान से मिले अजान नयन
सहज था सजा सजीला-तन
छपी-सी पी-सी मृदु मुसकान
छपी-सी, खिंची सखी-सी साथ,
उसी की उपमा-सी बन, मान
गिरा का धरती थी, धर हाथ।

उसके इन दोनों गुणों से कवि अत्यधिक प्रभावित हुआ। अपने मधुर गीतों से उसे प्रणय-पथ की ओर अग्रसर किया। कुछ दिन दोनों का साथ रहा; पर फिर किसी प्रकार दोनों के बीच संदेह खड़ा हो गया। परिणाम यह हुआ कि प्रेम-व्यापार रुक गया—

रोग का है उपचार
पाप का भी परिहार,
है अदेह संदेह, नहीं है इसका कुछ संस्कार!
यही तो काँटे-सा चुपचाप
उगा उस तरुवर में,—सुकुमार
सुमन वह था जिसमें अविकार-
बेध डाला मधुकर निरुपाय!!
अभी पल्लवित हुआ था स्नेह,
लाज का भी न गया था राग;
पड़ा पाला-सा हा! संदेह
कर दिया वह नव-राग विराग।
मिले थे दो मानस अज्ञात,
स्नेह शशि बिम्बित था भरपूर;
अनिल-सा कर अकरुण आघात
प्रेम-प्रतिमा कर दी वह चूर!!
बालकों का-सा मारा हाथ
कर दिए विकल हृदय के तार!

नहीं अब रुकती है झंकार,
यही था हा! क्या एक सितार?
हुई मरु की मरीचिका आज,
मुझे गंगा की पावन धार!

'उच्छ्वास, में प्रेम की असफलता की कहानी कह 'आँसू' में कवि उस पर रोने बैठा है। आरंभ में ही अपने गीत की कवि व्याख्या करता है—

आह, यह मेरा गीला गान!
वर्ण वर्ण है उर की कम्पन
शब्द शब्द है सुधि की दंशन
चरण चरण है आह,
कथा है कण कण करुण थाह।

यहाँ प्रकृति प्रणय-काल की अनेक कोमल स्मृतियों को उभारने वाली बनकर आयी है। वर्षा लगते ही पर्वत प्रदेश के वे सारे रम्य दृश्य, जब बादल उठकर आकाश को छा देते थे, चोटियों पर वायु वंशी के स्वर फूकती थी, इंद्रधनुष उगता था, विद्युत् चमकती थी; जब पपीहे पुकारते, झींगुर झनकारते और दादुर कर्कश रव करते थे; जब पर्वत पर हरियाली का दुकूल और झरनों का झलमल हार पड़ जाता, आँखों के सामने घूम जाते हैं। ऐसी रम्य भूमि में ऐसे ही रम्य दृश्यों के बीच तो उसका एक दिन बालिका से परिचय हुआ और वह परिचय आकर्षण में परिवर्तित हुआ। प्रकृति से अब उसे कभी-कभी ईर्ष्या होती है—उससे पीड़ा मिलती है;

देखता हूँ, जब उपवन
पियालों में फूलों के
प्रिये! भर भर अपना यौवन
पिलाता है मधुकर को;
नवोढ़ा-बाल-लहर
अचानक उपकूलों के
प्रसूनों के ढिंग रुक कर

सरकती है सत्वर;
सिहर उठता कृश-गात,
ठहर जाते हैं पग अज्ञात!

इस रचना में भी 'संशय' की बात कवि ने की है। प्रेम के जीवन में कुछ बातें करुण, कुछ करुणतर, कुछ करुणतम होती हैं। पर प्रेम में संदेह को वह 'अतिशय करुण' की संज्ञा देता है। देखिए—

करुण है हाय! प्रणय,
नहीं दुरता है जहाँ दुराव
करुणतर है वह भय
चाहता है जो सदा बचाव;
करुणतम भग्न - हृदय
नहीं भरता है जिसका घाव
करुण-अतिशय उनका संशय
छुड़ाते हैं जो जुड़े स्वभाव!!

यहाँ भी अपने स्वभाव के अनुसार कवि ने जो हुआ उसे दैव का दान मानकर स्वीकार कर लिया। संदेह किस बात का, इसे कवि ने स्पष्ट नहीं किया। वह किसी प्रकार का रहा हो, कम से कम उसे मिटाने का प्रयत्न करना चाहिए था। व्यक्तिगत निराशा को व्यापकता प्रदान करता हुआ वह अपनी दृष्टि इस बात पर अंत में स्थिर करता है कि सृष्टि में प्रेम की निराशा और जलन कहाँ नहीं है—आकाश, मेघ, चंद्र, पवन सभी की तो एक सी दशा है।—

गगन के भी उर में हैं घाव,
देखती ताराएँ भी राह;
बँधा विद्युत्-छवि में जलवाह
चंद्र की चितवन में भी चाह;
दिखाते जड़ भी तो अपनाव
अनिल भी भरती ठण्डी आह!

और इसके उपरांत भावना के राज्य में वह बहुत गहरे उतर गया है—

विधुर उर के मृदु भावों से
तुम्हारा कर नित नव शृंगार,
पूजता हूँ मैं तुम्हें कुमारि!
मूँद दुहरे दृग द्वार!

'पल्लव' में प्रेम संबंधी एक रचना और है—'स्मृति'। वह 'उच्छ्वास' और 'आँसू' से ही संबंधित है। इसे वह रचना ही स्पष्ट करती है। उसमें कोई विशेष बात नहीं है। देखिए—

आँख में 'आँसू' भर अनजान,
अधर पर धर उच्छ्वास',
समाती है जब उर में प्राण!
तुम्हारी 'सुधि' की सुरभित साँस;

डुबा देता है मुझे सदेह
सूर सागर वह स्नेह!

यहाँ एक प्रश्न स्वभावतः उठता है। क्या ग्रंथि की नायिका और उच्छ्वास की बालिका दोनों एक हैं? क्या ग्रंथि के कथानक और उच्छ्वास के कथानक में कोई संबंध है? मेरा उत्तर है: नहीं। 'ग्रंथि' की नायिका की प्रथम भेंट जल-मग्न कवि के प्राण बचाते समय सरोवर के किनारे होती है; उच्छ्वास की बालिका से प्रथम भेंट पहाड़ पर; ग्रंथि की नायिका जब मिली है तब वसंत है, उच्छ्वास की बालिका जब मिलती है तब वर्षा है; 'ग्रंथि' से पता चलता है कि नायिका से भेंट केवल एक बार हुई है, इसके उपरांत उसका विवाह हो जाता है; उच्छ्वास की बालिका प्रायः कवि के साथ घूमी है, उसके गान उसने सुने हैं; ग्रंथि की नायिका से विछोह इसलिये हुआ कि उसके अभिभावकों ने उसका विवाह कवि से न कर किसी अन्य व्यक्ति से कर दिया; पर उच्छ्वास की बालिका से संबंध-विच्छेद इसलिये हुआ कि बीच में संदेह आ गया। ग्रंथि १९२० में लिखी गई, उच्छ्वास और आँसू १९२१-२२ में। ग्रंथि की भूमिका में जो १९२९ में लिखी गई कवि ने लिखा है: 'ग्रंथि' मैंने सन् १९२० के जनवरी मास में लिखी थी। उच्छ्वास की तरह इसका कथा-भाग भी बहुत थोड़ा है, पर

शायद स्पष्ट उससे अधिक। इससे भी प्रतीत होता है कि ये दो कहानियाँ हैं। ग्रंथि की घटना से स्पष्ट है कि उसकी नायिका का विवाह १६२० में या उसके पूर्व ही हो चुका है। 'आँसू' की रचना इसके उपरांत १६२१ में हुई और उसमें कवि ने 'पूजता हूँ मैं तुम्हें कुमारि, मूँद दुहरे दृग-द्वार' में उसे कुमारी कहा है। इस दृष्टि से भी वे दोनों एक नहीं हो सकतीं।

परन्तु दोनों कहानियों में हृदय का हाहाकार एक-सा प्रतीत होता है। तब कवि का वास्तविक हृदय कहाँ है ? हमारा अनुमान है दूसरी घटना में। पहला आघात भी बड़ा तीव्र आघात था, पर वह एक आवेग मात्र था। उस पर क्षुब्ध होकर कवि रह गया। परन्तु दूसरी घटना में प्रेम संसर्ग से उत्पन्न हुआ और उसके पल्लवित होने को भी अधिक अवकाश मिला है। उसकी स्मृतियाँ भी अत्यंत मधुर हैं—कृतज्ञता से कहीं गहरी !

'गुञ्जन' में भावी पत्नी के प्रति रचना की गणना भी प्रेम की रचनाओं में होगी। पंत में प्रेम की भावना किसी निर्दिष्ट व्यक्ति के प्रति नहीं है। यह 'ग्रंथि' और 'पल्लव' की रचनाओं से देख चुके हैं। आगे चलकर और भी देखेंगे। 'भावी पत्नी के प्रति' रचना किसी व्यक्ति विशेष को लक्ष्य करके नहीं लिखी गई। वह एक ऐसी भावना है जो सभी अविवाहित युवकों को प्रिय लगती है। यह भावी पत्नी किसी भी कल्पनाशील भाव-प्रवण व्यक्ति की भावी पत्नी हो सकती है। उसके जन्म काल से लेकर उसके यौवनागम तक का वर्णन कवि ने किया है। सन् १६२७ में यह रचना लिखी गई अर्थात् जब कवि २७ वर्ष का है तब उसके जन्म की कल्पना कर रहा है। जिस समय प्रथम मिलन का समय आवेगा उस समय उसकी क्या अवस्था होगी यह भी सोचिये !

पर इस कविता में सौंदर्य-वर्णन के बहाने कवि ने इतनी रसमयी कल्पनाएँ की हैं कि वे पाठक के मन को काफ़ी गुदगुदाती है और उनसे वह आनंद प्राप्त करता है जो मानसिक उत्तेजना से प्राप्त होता है। शैशव में अंकुरित होने वाले यौवन की छाया में अधखिले अंगों पर कवि ने रुक-रुक कर दृष्टि डाली है !

आगे की रचनाओं में कवि अपनी प्रेमिका की मधुर मुसकान और सुंदर आँखों का स्मरण बड़े मनोयोग से करता है। समस्त सृष्टि में उस हास्य और

उस चितवन का प्रभाव वह देखता है। यहाँ तक कि मधुमास पर इसमें जो कविता है उसमें यह भावना ही प्रमुख रूप से झलक मार रही है कि वसंत का सारा वैभव उसकी प्रिया का प्रतिबिम्ब मात्र है।

इस संग्रह में प्रेम संबंधी दो रचनाएँ अत्यंत मार्मिक हैं। उनमें एक है संयोग-संबंधी और दूसरी है वियोग-संबंधी। दोनों एक ही काल की हैं। पहले वियोग की चर्चा करें। इस रचना को देखिये—

कब से विलोकती तुमको
ऊषा आ वातायन से ?
संध्या उदास फिर जाती
सूने गृह के आँगन से।
लहरें अधीर सरसी में
तुमको तकतीं उठ-उठ कर,
सौरभ समीर रह जाता
प्रेयसि ! ठण्ढी साँसें भर !
हैं मुकुल मुँदे डालों पर,
कोकिल नीरव मधुवन में;
कितने प्राणों के गाने
ठहरे हैं तुमको मन में ?
तुम आओगी आशा में
अपलक हैं निशि के उडुगण !
आओगी अभिलाषा से
चंचल, चिर नव, जीवन क्षण !

विरह की दीर्घता का परिचय कवि कैसे दे ? सिवाय इसके कि उषा नित्य ही उसके वातायन से झाँकने आती है कि उसके कक्ष में कोई अतिथि अभी आया कि नहीं, सिवाय इसके कि संध्या नित्य ही घर के आँगन को समानरूप से सूना देखती है और उदास लौट जाती है। उषा आती है नित्य झाँकने; अतः 'विलोकती' में कितनी उत्सुकता है। संध्या जाती है नित्य निराश होकर,

अतः 'उदास फिर जाती' में कितना अवसाद है! वियोगी के रात-दिन के जीवन का रात-दिन हिसाब रखने वाले प्रकृति के ये दो कैसे अचूक मूक सहचर हैं!

कभी किसी सरोवर की लहरों को तुमने अपनी गोद में भरा था। उसी सुखद स्मृति में सरसी में लहरें अत्यंत अधीरता से बार-बार उठकर तकती हैं कि क्यों कोई बहुत दिनों से उस ओर अब नहीं आता! तुम्हारे कच-जाल के समान ही सुरभित समीर अब तुम्हें न पाकर ठण्ढी साँसें भर कर रह जाता है!

कलियाँ खिलती नहीं। किसके लिए खिलें? कोकिल कूकती नहीं। किसके लिए कूके? प्राणों में से गान फूटते नहीं। किसे रिझाने को फूटें?

परन्तु उषा और संध्या, लहर और सौरभ, मुकुल और कोकिल, उडुगण और जीवन क्षणों ने आशा नहीं छोड़ी है। वे प्रतीक्षा-रत हैं। उन्हें विश्वास है एक दिन तुम आओगी, अवश्य आओगी। यह विलोकना, यह उदास फिर जाना, उठ-उठ कर तकना, ठण्ढी साँसें भर कर रह जाना, यह न खिलना, न कूदना, न गाना क्या व्यर्थ जायगा? नहीं। इतनी विराट् प्रतीक्षा व्यर्थ नहीं होगी।

वैसी ही संयोग-काल की उनकी एक रचना है। प्रारंभिक दो पंक्तियाँ हैं—

आज रहने दो यह गृह-काज
प्राण! रहने दो यह गृह-काज!

कवि ने आज अपनी प्रेमिका को एकांत में पाया है। अपने घर पर पाया है या प्रेमिका के घर पर यह नहीं कहा जा सकता। कवि का घर तो ऐसा रहा नहीं जहाँ नित्य कोई गृह-काज सँभालता। अतः ऐसा लगता है कि घर प्रेमिका का ही है। इसकी प्रथम पंक्ति ही ऐसी है जो इस बात का संदेह उठाती है कि नायिका स्वकीया है या परकीया? निश्चित रूप से यहाँ परकीया है। यदि स्वकीया होती तो भी बड़ी मधुरता रहती। विवाह के कुछ प्रारंभिक दिन ऐसे होते हैं जब पति के हृदय में बड़ी उत्सुकता रहती है, पत्नी के हृदय में लज्जा। पति काम पर चला जाता है। मन उसका वहाँ लगता नहीं, घर में ही पड़ा रहता है। पत्नी थोड़ा बहुत घर का काम करती है; पर मन

Library Sri Pratap College.
Srinagar.

उसका भी उड़-उड़ कर कहीं चला जाता है। दोनों ही चाहते हैं कि कैसे ही संध्या हो। पति के चरण लौटते समय जल्दी-जल्दी घर की ओर पड़ते हैं, पत्नी बार-बार खिड़की या द्वार से किसी बहाने झाँक आती है कि कोई आ तो नहीं रहा। तनिक सी कुत्ते, बिल्ली या हवा की आहट होने पर चौंक पड़ती है। आख़िर कोई किवाड़ खटखटाता है तो वह किवाड़ों की ओट में होकर किवाड़ें खोलती है और फिर किवाड़ों की ओट में हो जाती है। पति भीतर चला जाता है और वह व्यर्थ ही कुछ काम करने लगती है। पति चाहता है कुछ बातें हों। बातें तो पत्नी भी करना चाहती है। पर प्रारंभ कौन करे। ऐसी स्थिति में पुरुष को ही कोई उपाय खोजना पड़ता है। प्रकृति मौन ही रहती है। इसी में जीवन की, प्रेम की, गार्हस्थ्य सुख की मधुरता है।

गार्हस्थ्य जीवन के इस मधुर-पक्ष से हट कर हम प्रस्तुत प्रसंग पर आते हैं। कवि की प्रेयसी गृह-काज में व्यस्त है। पर कवि का मन आज उसे अपने बहुत निकट चाहता है। प्रेमिका को इस बात का कुछ आभास नहीं है। वह कुछ समझती भी नहीं। जिस गृह-काज को पकड़ा है उसी में व्यस्त है। अतः कवि को कहना पड़ता है—आज यह गृह-काज रहने दो। यह गृह-काज तो नित्य ही चलता है। आज इसे रोक दो। यह पल गृह-काज करने का नहीं है! वह कह तो गया; पर तुरंत सोचता है मैंने एकदम सीधे टोक दिया; और मेरी वाणी में संबोधन की मधुरता तक नहीं! इसी से आगे की पंक्ति में मधुरतम सम्बोधन के साथ वही बात कहता है—

प्राण! रहने दो यह गृह-काज।

बात के दुहराये जाने और इस सम्बोधन ने निश्चित रूप से प्रेमिका के हृदय पर अपना प्रभाव डाला होगा। हंसिनी सी ग्रीवा मोड़ते हुए अपनी रस-मयी बड़ी काली आँखों को उठाकर उसने मूक प्रश्न किया होगाः क्यों?

कवि ठहरता नहीं। वसंत की वायु तो बहुत दिनों से बह रही है; पर आज जो वह गंध लायी है उसका सम्बन्ध कुछ हम से भी है—मुझसे और तुम से—

आज जाने कैसी वातास
छोड़ती सौरभ-श्लथ उच्छ्वास,

प्रिये लालस—सालस वातास,
जगा रोश्रों में सौ श्रभिलाष।

'जाने कैसी' वातास श्राज बह रही है। सामान्य वातास तो नहीं है। इसने सारा शरीर रोमांचित कर दिया है। श्रौर दिन तो हृदय के ऊपरी स्तर को स्पर्श करती थी, पर श्राज हृदय के एक-एक स्तर को, गहरे से गहरे स्तर को इसने छुश्रा है। नहीं-नहीं मर्म में मस्ती भर दी है!

श्राज उर के स्तर-स्तर में, प्राण!
सजग सौ-सौ स्मृतियाँ सुकुमार,
दृगों में मधुर स्वप्न संसार
मर्म में मदिर—स्पृहा का भार!

नायिका कुछ न समझ कर कह सकती है: श्रच्छा, बह रही होगी वसंत की वायु, शिथिल होगी गंध भार से, जगाती होगी श्रापके रोश्रों में श्रभिलाष, विकसित हो रही होंगी श्रापके मन में सौ-सौ सुकुमार स्मृतियाँ, घूम रहा होगा नयनों में मधुर सपना, भर गई होगी मर्म में मस्ती; पर हम से मतलब?

कवि प्रकृति की क्रीड़ा का एक दृश्य दिखाता है। कहता है इन कलियों को देखो! श्राज इन्होंने श्रपने हृदय के द्वार खोल दिए हैं श्रौर देखो सुख से वाचाल इस भौंरे को! क्या तुम सचमुच कुछ नहीं समझतीं!

शिथिल स्वप्निल पंखड़ियाँ खोल
श्राज श्रपलक कलिकाएँ बाल,
गूँजता भूला भौंरा डोल
सुमुखि! उर के सुख से वाचाल!

पहले छन्द में कवि ने प्रकृति का उद्दीपनकारी वर्णन किया, दूसरे में उसका प्रभाव दिखाया, तीसरे में फिर वैसा ही वर्णन करते हुए एक प्रस्ताव फेंका श्रौर चौथे में फिर उस मादक दृश्य का श्रपने ऊपर प्रभाव प्रदर्शित किया—

श्राज चंचल-चंचल मन-प्राण,
श्राज रे शिथिल शिथिल तन भार;

यह बात देखने की है कि दूर से बहते बसंत-पवन और दूर पर मिलते भ्रमर-सुमन के साथ, पास में गृह-काज करती प्रेयसी के प्रभाव के, जिसने अब गृह-काज बन्द कर दिया है और बड़े ध्यान से उसकी बात सुन रही है और बहुत सम्भव है मन में भीतर चुपचाप स्वयं भी कुछ खिंची आ रही हो, सम्मिलित मधुर वातावरण में कवि धीरे-धीरे डूब रहा है। गूढ़-व्यंजना स्पष्ट से स्पष्टतर होती चली गई है; यद्यपि इस रचना में सारा सौंदर्य व्यंजना का ही है !

कवि कहता है—

आज दो प्राणों का दिनमान,
आज संसार नहीं संसार !

दिन आज उतना ही बड़ा होगा जितनी देर तक दो प्राण मिलें। दिन का मान आज घड़ी पलों से निर्धारित न होगा प्राणों के मिलन से होगा। समय का भान जो नष्ट हो जायगा ! प्राण में प्राण के डूबने पर क्या यह चेतना शेष रह जायगी कि इस समय क्या बजा होगा या कितना समय बीता है।

आज संसार नहीं संसार !···आज संसार मुझे भिन्न प्रकार दिखाई दे रहा है। नित्य का रूखा संसार नहीं प्रतीत होता। दूसरा तात्पर्य है आज संसार रहा ही नहीं। उसका भान ही मिट गया है। वह एक भावना मात्र रह गया है !

कवि फिर प्रश्न करता है—

आज क्या प्रिये, सुहाती लाज ?

स्वकीया की सम्भावना पर हमने प्रारंभ में ही आपत्ति की थी। उसका एक कारण जो काफ़ी मनोवैज्ञानिक है यह भी है कि जिस प्रेयसी से कवि बात कर रहा है उससे सम्बन्ध में प्रेमी-प्रेमिका की सी दूरी ही लक्षित होती है, पत्नी का एकाधिपत्य नहीं प्रतीत होता। अपनी बात को समझाने में जिस धैर्य का प्रदर्शन और वह भी सब कुछ दूसरे की इच्छा पर छोड़ते हुए किया है, उससे परकीया का चित्र ही सामने आता है। आज के युग में दूसरे पक्ष

को नायिका या परकीया के शब्दों से अभिहित करना ठीक नहीं। वे परकीया नहीं होतीं, स्वकीया भी नहीं होतीं। होती हैं केवल प्रेमिका! कुछ भी हो, संयोग काल में व्यंजना इस मार्मिकता और मधुरता से शायद ही कहीं अन्यत्र खिली हो!

इस प्रसंग में उर्दू से एक उदाहरण देने के लिए रसज्ञ पाठकों से मैं क्षमा चाहता हूँ। उसमें बात कुछ उधर से भी बढ़ गई है; पर कवि के प्रस्ताव पर उसकी प्रेमिका ने उसे तंग करने के लिये जो उत्तर दिया है उसका रस भी विलक्षण है।

उस परीज़ाद से जब मैंने कहा जानेजहाँ!
अब मुनासिब है कि तदवीर करो सोने की!

हँसके फ़रमाया कि घर आपका है सो रहिए,
पर जो तुम चाहते, वह बात नहीं होने की!

छोड़िए इस प्रसंग को। कुछ अधिक बह गये।

'युगांत' में प्रणय जीवन से सम्बन्धित केवल एक रचना है; परन्तु वह अकेली रचना ही अत्यन्त रसपूर्ण है। पंत का मर्यादित हृदय वहाँ कुछ अधिक कह गया है। अपनी रचनाओं में रस के केवल संकेत करके वह रह जाते हैं, बहुत आगे नहीं बढ़ते। इसमें आलिंगन चुम्बन और आत्म-समर्पण या एकाकार तक आ गए हैं। इस ढंग की कविता उनकी रचनाओं में यह अकेली है। उनके यौवन-काल का पूरा अल्हड़पन इसमें चित्रित है। नायिका मुग्धा है, कम अवस्था की। अभी उसके उरोज उकसे ही हैं—अँबियों से। मिलते भी दोनों हैं आम्रबन में। वहीं से कवि ने कैसी रम्य उपमा उठा ली है। वातावरण के साथ कवि और उस मुग्धा का वर्णन पहिले देखिए—

मञ्जरित आम्रवन छाया में
हम प्रिये मिले थे प्रथम बार,
ऊपर हरीतिमा-नभ गुञ्जित,
नीचे, चन्द्रातप छना स्फार!

तुम मुग्धा थी, अतिभाव प्रवण
उकसे थे अँवियों-से उरोज।
चंचल, प्रगल्भ, हँसमुख, उदार,
मैं सलज,—तुम्हें था रहा खोज!

चित्र जैसे एकदम आँखों के सामने खड़ा हो जाता है। आगे कवि प्रकृति का उद्दीपनकारी वर्णन करता है—चाँदनी छा रही है, कोकिल कूक उठी है, कलियों के खिलने से गंध फूट रही है अर्थात् नेत्र, कान और प्राण तीनों तृप्त हो रहे हैं। कवि ने प्राणों को मुग्ध बतला कर सब कुछ कह दिया है—

छनती थी ज्योत्स्ना शशिमुख पर,
मैं करता था मुखसुधा पान,—
कूकी थी कोकिल, हिले मुकुल,
भर गए गंध से मुग्ध प्राण!

यह बड़े सौभाग्य की बात है कि प्रेम के लिए पंत जी को कम अवस्था की मुग्धाएँ प्रायः मिल जाती हैं। वीणा, पल्लव और युगांत में हम यह देख ही रहे हैं। यह भी कह चुके हैं उनके प्रेम में अनन्यता नहीं। हम एक दूसरी बात को यहाँ फिर दुहराकर रस में बाधा नहीं डालना चाहते; पर उनका वह स्वभाव यहाँ भी बना हुआ है कि प्रेम की प्राप्ति के लिए प्रयत्न उनसे नहीं होता। यह उनका शील है या कोमलता है या क्या है हम कह नहीं सकते। यहाँ चाँदनी रात है, एकदम एकांत है, दोनों के हृदय उल्लसित हैं; पर यहाँ भी बढ़ती है पहिले नायिका ही, तब पंत जी भय रहित होकर प्रयत्नशील होते हैं। देखिए—

तुमने अधरों पर धरे अधर;
मैंने कोमल वपु भरा गोद,
था आत्मसमर्पण सरल मधुर,
मिल गए सहज मारुतामोद!

कुछ भी हो कविता बड़े स्वस्थ पल में लिखी गई है और उसमें रस का पूरा समुद्र लहरा रहा है।

'युगान्त' में प्रेम सम्बन्धी यह रचना अपवाद स्वरूप ही है। 'युगांत' से कवि की प्रवृत्ति ही बदल गई है। प्रेम और प्रकृति पर अब वह उतना नहीं सोचता जितना पहले सोचता था। उसके चिंतन का विषय अब समाज और लोक हो गया है। 'युगवाणी' में व्यक्तिगत प्रेम से सम्बन्ध रखने वाली कोई रचना नहीं है। हाँ, 'ग्राम्या' में 'याद' शीर्षक एक रचना है जो उल्लेखनीय है।

कवि जीवन की प्रौढ़ावस्था में है। उसका जीवन बदल गया, मन बदल गया, परिस्थिति बदल गई। मेघों से भरी आषाढ़ की सन्ध्या है! कवि रोग-शय्या पर एकाकी पड़ा है। चारों ओर विषाद का एक वातावरण छा गया है। ऐसे में विद्युत् सी किसी की उज्ज्वल स्मृति पल भर को चमक जाती है—

विदा हो गई साँझ विनत मुख पर झीना आँचल धर,
मेरे एकाकी आँगन में मौन मधुर स्मृतियाँ भर!
वह केसरी दुकूल अभी भी फहरा रहा क्षितिज पर,
नव असाढ़ के मेघों से घिर रहा बराबर अम्बर!
मैं बरामदे में लेटा, शय्या पर, पीड़ित अवयव,
मन का साथी बना बादलों का विषाद है नीरव!
सक्रिय यह सकरुण विषाद,—मेघों से उमड़ उमड़ कर
भावी के बहु स्वप्न, भाव बहु व्यथित कर रहे अन्तर!
मुखर विरह दादुर पुकारता उत्कंठित भेकी को,
बर्हभार से मोर लुभाता मेघ—मुग्ध केकी को;
आलोकित हो उठता सुख से मेघों का नभ चंचल,
अन्तरतम में एक मधुर स्मृति जग जग उठती प्रतिपल!
कम्पित करता वक्ष धरा का घन गभीर गर्जन स्वर,
भू पर ही आगया उतर शत धाराओं में अम्बर?
भीनी-भीनी भाप सहज ही साँसों में घुलमिल कर
एक और भी मधुर गंध से हृदय दे रहो है भर?
नव असाढ़ की संध्या में, मेघों के तम में कोमल,
पीड़ित एकाकी शय्या वर, शत भावों से विह्वल,

एक मधुरतम स्मृत पल भर विद्युत-सी जलकर उज्ज्वल
याद दिलाती मुझे हृदय में रहती जो तुम निश्चल ?

यह रचना पिछली रचनाओं से एकदम भिन्न प्रकार की है। यहाँ न मधुमास है, न झूमते मधुपदल, न खुलती कलिकायें, न खिलती चाँदनी, न जलाशय के दर्पण में मुख देखने वाला गिरिवर, न नसों को उत्तेजित करनेवाले निर्झर, न फूलों के प्यालों में रस पीने वाले मधुकर, न सौरभ-श्लथ वातास, न स्वर्णमय प्रभात ! आषाढ़ की अंधकारपूर्ण संध्या है, बादलों से विषाद बरस रहा है, गंभीर ध्वनि छाई हुई है, बिजली चमक उठती है। दादुर भेकों को पुकार रहा है और मोर केकी को लुभाने का प्रयत्न कर रहा है। इन दो आकर्षणों के दृश्यों से मन और भारी हो जाता है, उस समय जब इसी प्रकार के अपने असफल आकर्षणों का ध्यान आता है ! कवि रुग्ण है, उस पर एकाकी ! संध्या भी मुख पर झीना अंचल रखकर बिदा हो गई। कोई नहीं जो उसकी देखभाल करे। इधर यह व्यक्तिगत पीड़ा और उधर संसार के भविष्य को उज्ज्वल बनाने के उसके सारे सपने अधूरे पड़े हैं ! इससे उसकी आकुलता और भी दूनी हो रही है। इस प्रकार एक विलक्षण कसकभरी छटपटाहट इन पंक्तियों में बन्दी है।

ग्राम्या के उपरांत सात वर्ष तक पन्त जी का हम कोई काव्य प्रकाशन नहीं पाते। सन् १९४७ में उनकी स्वर्ण किरण और स्वर्ण धूलि प्रकाशित होती हैं।

'स्वर्ण किरण' में एक रचना है—अंगुठिता। यह एक समस्यामूलक रचना है। इस रचना के पीछे एक लघु-कथा है। पहिले उसे स्पष्ट करते हैं :

कवि कहता है : उसके सौंदर्य का वर्णन करना सहज नहीं। यौवन का तब उसके शरीर में उदय ही हुआ था। वह उस कली के समान थी जिसके भीतर मधुऋतु बंदी हो। हृदय में उसके स्वप्नों का सौंदर्य और कल्पना का माधुर्य लहरा रहा था। उससे भेंट प्रायः होती रहती। एक दिन उसने कहा : बता सकते हो प्रणय किसे कहते हैं और उसका निवास कहाँ है ? फिर स्वयं ही उत्तर दिया : प्रणय कहते हैं हृदय की मुक्ति को और उसकी परिधि शरीर तक ही सीमित नहीं, जैसा प्रायः समझा जाता है। परन्तु प्रेम को लेकर स्त्री-पुरुष में बड़ा भारी अन्तर है। नारी अपने मूल रूप में माँ है, वह गृह की

क्षेम को लेकर जीवित रहती है। पुरुष विलास-प्रिय है। अंततः बन्धन स्वीकार नहीं करता। अतः पुरुष के रूप में तुम्हें केवल प्रेम चाहिये, मुझे घर की क्षेम। ऐसी दशा में मैं जो कुछ कर सकती हूँ वह यह कि तुम्हें हृदय दूँगी, शरीर नहीं और जिससे विवाह करूँगी उसे शरीर दूँगी पर स्नेह नहीं। तुम संसार की बात सोचो, मैं घर की चिंता करूँगी। और अब मैं विदा चाहती हूँ। बहुत सम्भव है तुमसे कभी-कभी भेंट हो।

कवि ने कहा : मेरी शुभ कामनायें तुम्हारे साथ हैं। तुम प्रसन्न मन से जाओ।

और तब वह आँखों में आँसू और अधरों पर निश्छल हँसी के साथ विदा हो गई।

कवि मन में सोचता है : जाओ तुम। यदि मैं कभी सर्वहारा बन सका तो बहुत सम्भव है तुम फिर मेरे जीवन में लौट आओ।

इस काव्य-कहानी को गद्य की शुष्क भाषा में हमने दुहराया। अब कवि के शब्दों में ही देखिये—

'क्या है प्रणय ?' एक दिन बोली उसका वास कहाँ है ?
इस समाज में ? देह मोह का,
देह द्रोह का त्रास जहाँ है ?
'देह नहीं है परिधि प्रणय की,
प्रणय दिव्य है, मुक्ति हृदय की;
यह अनहोनी रीति,
देह वेदी हो प्राणों के परिणय की !
बँधकर हृदय मुक्त होते हैं,
बँधकर देह यातना सहती,
नारी के प्राणों में ममता
बहती रहती बहती रहती !
नारी का तन मा का तन है,
जाति वृद्धि के लिए विनिर्मित,

पुरुष प्रणय अधिकार प्रणय है,
सुख विलास के हित उत्कंठित !
तुम हो स्वप्न लोक के वासी,
तुमको केवल प्रेम चाहिये,
प्रेम तुम्हें देती मैं अबला,
मुझको घर की क्षेम चाहिए !
'हृदय तुम्हें देती हूँ प्रियतम,
देह नहीं दे सकती,
जिसे देह दूँगी अब निश्चित,
स्नेह नहीं दे सकती !'

हृदय की मुक्ति को प्रणय कहते हैं कवि की इस व्याख्या का कोई विरोध नहीं करेगा; परन्तु यह व्याख्या बड़ी अपूर्ण है। जैसा पहले कह चुके हैं नर-नारी के बीच शरीर, मन, बुद्धि और आत्मा के पूर्ण सामंजस्य को प्रेम कहते हैं। प्रणय की विशेषता बतलाई है : प्रणय दिव्य है। कवि का दिव्य शब्द से यह तात्पर्य प्रतीत होता है कि उसका शरीर या मिट्टी से कोई सम्बन्ध नहीं है जैसा उसने ऊपर कहा है—देह नहीं है परिधि प्रणय की। प्रेम के सम्बन्ध में दिव्य शब्द का प्रयोग इस अर्थ में तो ठीक है कि प्रेम से मनुष्य का मानसिक, बौद्धिक और आत्मिक विकास होता है। परन्तु शरीर का तिरस्कार यदि वांछित है तो उसका हम विरोध करना चाहते हैं। प्रेम में शरीर निश्चित रूप से आता है। आख़िर जिस 'जाति वृद्धि' की बात इसमें उठाई गई है वह बिना शरीर को बीच में लाए कैसे सम्भव है। हाँ, प्रेम केवल शरीर को लेकर ही नहीं चलता। शरीर उसकी सीमा नहीं है।

समाज और उसमें स्वीकृत विवाह-प्रथा पर जो कवि ने आक्षेप कराया है वह तो ठीक है। जहाँ विवाह, जो वास्तव में दो प्राणों का परिणय है, केवल शरीर सम्बन्ध ही समझा जाय और जहाँ मोह और द्रोह का साम्राज्य हो, वहाँ व्यक्ति का विकास नहीं हो सकता। परन्तु आगे चलकर जो यह कहा गया कि नारी का तन मा का तन है और उसका निर्माण जाति-वृद्धि के लिए हुआ है और पुरुष अधिकार-प्रिय विलास-प्रिय है; वहाँ हमारी

धारणा है कि ये दोनों निर्णय एकांगी हैं, अर्द्ध सत्य हैं। यह सत्य है कि प्रजा की वृद्धि के लिए नारी की आवश्यकता है, वही संतति को गर्भ में धारण करती है; परन्तु इस कर्म के लिए पुरुष की भी उतनी ही आवश्यकता पड़ती है। कुल-वृद्धि दोनों के संयोग से ही होती है। उत्पत्ति के लिए क्षेत्र और क्षेत्री दोनों की आवश्यकता है। संतति के लिए ललक स्त्री-पुरुष दोनों में समान रूप से होती है। अधिकार-भावना भी नारियों में पुरुषों से किसी प्रकार कम नहीं होती। वे भी दोनों के बीच किसी तीसरे का अधिकार सहन नहीं कर सकतीं। सुख विलास भी, चाहे उसका प्रयोग कवि ने किसी अर्थ में किया हो, दोनों समान रूप से चाहते हैं। इन पंक्तियों में जो कुछ कहा गया है वह आज के युग को देखते हुए सत्य प्रतीत नहीं होता। आधुनिक नारी न जाति-वृद्धि के लिए लालायित है और न सुख-विलास कम चाहती है और न अपने प्रणय अधिकार पर ही कोई आघात सहन करने को तैयार है। सामान्य सत्य यह नहीं है। पंत जी की अपनी धारणायें हैं जो उन्होंने उस नारी के मुख में रख दी हैं। आख़िर, वह स्त्री ही कवि को क्यों छोड़कर जा रही है? इसीलिए न कि वह जानती है कि यह व्यक्ति स्वप्नलोक का वासी है, यह बन्धन में नहीं पड़ सकता। क्या यह भावना प्रणय-अधिकार की भावना नहीं है?

कवि का कहना है जैसे दीपक से दीपक जलते हैं, उसी प्रकार नारी की देह से देह बनती है। बाह्य दृष्टि से यह सत्य है। नारी जननी भी है। वह सृष्टि को अपने शरीर में धारण करती है और उसे बाहर लाकर बड़ा करती है। परन्तु इस सृष्टि में पुरुष का भी समान योग है और वह अपने शरीर को किसी प्रकार नहीं बचा सकता। मन्त्र के फूँकने से तो कहीं काम चलता नहीं। परन्तु जननी का यह अर्थ नहीं है कि वह मात्र जननी है। देह से देह उत्पन्न करने की यन्त्र मात्र नहीं है वह। पुरुष से कल्पना और चिंतन के क्षेत्र में कहीं भी वह कम नहीं बैठती। समझ में नहीं आता कि ऐसे विकासशील व्यक्ति ने नारी को इतने संकीर्ण दृष्टिकोण से कैसे देखा है?

और प्रेम, ज्ञान तथा सत्य का प्रकाश यदि पुरुष कर सकता है तो क्या

नारी नहीं कर सकती ? वैदिक काल की मन्त्र द्रष्टा नारी-ऋषियों से लेकर सन्त-काल से अब तक की नारी कवियों ने क्या किया है ?

यह रचना जो इतनी असंगत लगती है उसके मुख्य कारण का निर्देश मैं पहले ही कर चुका हूँ कि पुरुष यहाँ असाधारण कल्पना-प्राण है और नारी साधारण से कुछ उठी हुई। अतः कवि ने पहले से ही पुरुष के पक्ष को दृढ़ कर दिया है और नारी के पक्ष को दुर्बल। ऐसी दशा में सामान्य सिद्धान्त का प्रतिपादन न्याय-संगत नहीं। यों बहुत से पुरुष ऐसे हैं जो मिट्टी के ढेले मात्र हैं। इसमें यदि वह रमणी यह कहती कि 'मैं तन हूँ' तब तो एक विशिष्ट स्थिति में आपत्ति की बात भी नहीं थी, परन्तु 'नारी तन है, तन है' कहना तो कवि का असंयत उच्छ्‌वास मात्र ही गिना जायगा।

इस रचना की अन्तिम पंक्तियों में विचारों को सन्तुलन देने का कुछ प्रयत्न किया गया है।

वह क्या समझ सकी थी, उस पर
क्यों रीझा था यह आत्मातुर
स्वप्न लोक का वासी
मैं मौन रहा
फिर स्वतः कहा,
'बहती जाओ, बहती जाओ,
बहती जीवन धारा में,
शायद कभी लौट आओ तुम,
प्राण, बन सका अगर सर्वहारा मैं ?'

सर्वहारा बनने पर क्या कल्पनाशीलता नष्ट हो जायगी ?

नर-नारी के इस विभेद-विवेचन के लिए पन्त जी ने समय ठीक नहीं चुना—सन् १९४७ का !

और जिस प्रकार के उसने तर्क दिये हैं, उससे भी वह साधारण नारी नहीं प्रतीत होती। हमें ऐसा लगता है कि अपनी धारणाओं की स्थापनाओं के लिए कवि ने उससे कुछ का कुछ कहलवाया है। अर्थात् वह कहलवाया

है जो वह चाहता है कि वह कहे। उसके व्यक्तित्व के विकास के लिए पूर्ण अवसर नहीं दिया। उसे कुंठित कर दिया है। कवि के लाख कहने पर भी हम यह मानने को बिल्कुल तैयार नहीं हैं कि वह नारी भी केवल तन थी। कवि की अनिच्छा से ही चाहे हो, पर उसके रूप वर्णन के साथ उसके कल्पनाशील स्वप्नप्रिय-हृदय का वर्णन भी हो ही गया है—

स्वप्नों का सौंदर्य, कल्पना का माधुर्य हृदय में भर, आई थी!

हम जानना चाहते हैं इस हृदय का विकास कवि ने कहाँ दिखाया है?

अब देह-नेह के विभाजन पर आइये। नारी कहती है जिसे नेह दूँगी उसे देह नहीं और जिसे देह दूँगी, उसे नेह नहीं। पहले तो हम यह नहीं समझते कि सूक्ष्म दृष्टि से इस प्रकार का कोई विभाजन संभव है। बहुत अच्छी तरह समझ रखना चाहिये कि मन में शरीर और शरीर में मन रहता है। जिस व्यक्ति को मन दिया जाता है उसके चिंतन में शरीर भी जाता है। चिंतन में ही सारा सुख मिल जाता है। मन से सब प्रकार के शारीरिक चिंतन स्त्री और पुरुष दोनों करते हैं। इसी प्रकार जिसे शरीर दिया जाता है उस शरीर के साथ भी निश्चित रूप से मन प्रभावित होता है। शरीर ही सब देते हैं, शव कोई नहीं देता। अनिच्छा से मिला हुआ सुख भी मन का ही सुख है। ऐसी स्थिति में होता यह है—और विशेष रूप से यहाँ जहाँ नारी विद्रोह नहीं कर रही, इच्छा से दूसरे व्यक्ति को वरण कर रही है—कि किसी व्यक्ति के साथ केवल कल्पना में लीन रहते-रहते वह कल्पना क्षीण पड़ने लगती है और उस कल्पना का होना न होना बराबर हो जाता है और इधर यदि व्यक्ति बुरा नहीं है—और हम क्यों कल्पना करें कि व्यक्ति बुरा है—तो वह मन ही मन समझौता कर लेती है। यहाँ एक झंझट और है और वह यह कि कवि ने असाधारण स्थिति खड़ी करके साधारण बात कही है अर्थात् पुरुष है कलाकार—असाधारण, और नारी है साधारण। ऐसी स्थिति में साधारण स्त्री-पुरुष पर लागू होने वाले नियम नहीं बनाए जा सकते। कवि बात को आगे बढ़ाता है—

'अतः विदा दो मन के साथी,
तुम नभ के, मैं भू की वासी,

नारी तन है, तन है, तन है,
हे मन प्राणों के अभिलाषी!
'नारी देह शिखा है जो।
नव देहों के नव दीप सँजोती,
जीवन कैसे देही होता
जो नारीमय देह न होती?
'तुम हो स्वप्नों के द्रष्टा, तुम
प्रेम, ज्ञान, औ सत्य प्रकाशी,
नारी है सौंदर्य, प्राण,
नारी है रूप सृजन की प्यासी!
'तुम जग की सोचो, मैं घर की,
तुम अपने प्रभु, मैं निज दासी।'

'नभ के वासी' और 'भू के वासी' में तो वही बात दुहराई गई है जो कवि ने अभी 'स्वप्न लोक के वासी' और 'घर की क्षेम' में उठायी थी। परन्तु इस प्रकार का वर्गीकरण भी कहाँ तक स्वाभाविक है? क्या कलाकारों का यही आदर्श है कि वे केवल आकाश के स्वप्न देखते रहें? क्या पृथ्वी के प्रति उनका कोई उत्तरदायित्व नहीं होता? पन्त जी की चिन्ता विशेषरूप से इस पृथ्वी को ही सुन्दर से सुन्दरतर बनाने की रही है। प्रकृति में भी क्या स्वयं आकाश पृथ्वी पर झुककर नहीं आ गया है?

आगे की पंक्ति में इस बात पर बड़ा बल दिया गया है कि नारी तन है, तन है। तब क्या उसके मन, बुद्धि, आत्मा नहीं होती? और दूसरी ओर कवि क्या अशरीरी है? ऊपर ही उस रमणी ने कहा है 'हृदय तुम्हें देती हूँ'। 'मन के साथी' में भी यही बात स्पष्ट है कि मन से मैं सदैव तुम्हारी ही कल्पना करूँगी। तब उसे केवल देह कहने का क्या तात्पर्य है? 'नारी तन है' यह कहना आज के प्रबुद्ध नारीत्व का अपमान करना है। कलाकारों की तो जाति ही अलग होती है। शरीर उनकी दृष्टि में न रहता हो, पर कलाकारों में स्त्री पुरुष दोनों ही होते रहे हैं। उदाहरण के लिए मीरा को लीजिये। क्या वे केवल 'तन' थीं?

'स्वर्ण धूलि' में प्रणय-जीवन से सम्बन्धित कुछ अत्यन्त कोमल भाव-गीत हैं। अवस्था और अनुभव के साथ मनुष्य गम्भीर होता चला जाता है। प्रणय की अभिव्यक्ति जब गम्भीर व्यक्तित्व द्वारा होती है तो वह और भी निखर उठती है। पंत जी की प्रेम सम्बन्धी रचनाओं से ही यह बात सिद्ध कर चुके हैं कि उनके जीवन में आकर्षण अनेक बार आये हैं। उनमें से स्थिर क्या रहा यह ठीक से नहीं कहा जा सकता। 'स्वर्ण धूलि' की रचनाएँ 'स्मृति' रूप में आई हैं; अतः निश्चित रूप से इनके पीछे कोई एक प्राणी है। हमारे जीवन में आकर्षण तो बार-बार आते हैं, पर जो आकर्षण स्थायी हो जाता है उसी को प्रेम कहते हैं। स्मृति एकदम तो किसी भी आकर्षण की नहीं मिटती, पर अन्य स्मृतियों और प्रेम की स्मृतियों में अन्तर यह है कि वे धीरे-धीरे क्षीण और धुँधली होती चली जाती हैं और ये धीरे-धीरे गहरी और उजली। जो स्मृति अन्त तक बनी रहे और सभी स्मृतियों को दबाकर समय-समय पर उमड़ती रहे वही स्मृति प्रेम की स्मृति है।

'ग्रंथि' और 'पल्लव' का उच्छ्‌वास इन रचनाओं में नहीं है। जो शेष रह गया है वह अत्यन्त संयम के साथ व्यक्त हुआ है। आवेश-काल में चिंतन का समय नहीं रहता। चिंतन आता है अवकाश में। परन्तु 'स्वर्ण-धूलि' के प्रणय-चिंतन में बड़ा रस है। कवि उन दिनों का स्मरण करता है जब कोई जीवन में आया था और हृदय की कली-कली खिल गई थी। वह सौंदर्य आज भी शत रूप धारण कर आँखों के आगे छा जाता है। वह रूप, वह माधुर्य, वह लाज आज भी विस्मृत नहीं हुई। कभी-कभी वह सोचता है उसके हृदय को उन्होंने क्यों बाँधा ! इसमें उनका क्या गूढ़ आशय निहित था ! होगा कुछ। पर उन्होंने पीड़ा बहुत दी। इतनी कि उसे सँभालना कभी-कभी कठिन पड़ जाता है। पर इस व्यथा का एक शुभ पक्ष भी है और वह यह कि हृदय में यह व्यथा ही है जो गीत बन कर फूट रही है। आज से बहुत पहिले—२५ वर्ष पूर्व—कवि ने सोचा था—आह से उपजता होगा गान ! उस सत्य का अनुभव उसने अपने छोटे से जीवन में ही कर लिया !

इस प्रकार की मार्मिक अनुभूतियों के कुछ उत्कृष्ट उदाहरण लीजिए—

(१)

बाँध दिये क्यों प्राण
प्राणों से !
तुमने चिर अनजान
प्राणों से !
गोपन रह न सकेगी
अब यह मर्म कथा,
प्राणों की न रुकेगी
बढ़ती विरह व्यथा,
विवश, फूटते गान,
प्राणों से !
बाँध दिए क्यों ..

(२)

बाँध लिया तुमने प्राणों को फूलों के बंधन में
एक मधुर जीवित आभा सी लिपट गई तुम मन में !
बाँध लिया तुमने मुझको स्वप्नों के आलिंगन में !
तन की सौ शोभाएँ सन्मुख चलती फिरती लगतीं,
सौ सौ रंगों में, भावों में तुम्हें कल्पना रँगती,
मानसि, तुम सौ बार एक ही क्षण में मन में जगती !
तुममें जो लावण्य मधुरिमा, जो असीम सम्मोहन,
तुम पर प्राण निछावर करने पागल हो उठता मन !
नहीं जानती क्या निज बल तुम, निज अपार आकर्षण ?
बाँध लिया तुमने प्राणों को प्रणय स्वप्न बंधन में,
तुम जानो, क्या तुमको भाया, मर्म छिपा क्या मन में ?

(३)

स्वप्न देही हो प्रिये तुम,
देह तनिमा अश्रु धोई !

रूप की लौ सी सुनहली
दीप में तन की सँजोई !

देह में मृदु देह सी
उर में मधुर उर सी समाकर,
लिपट प्राणों से गई तुम
चेतना सी निपट सुंदर !

लालसा तम से तुम्हारे
कुंतलों के जाल में भ्रम
क्यों न होता प्यार अंधा
छवि अपार निहार निरुपम !

(४)

तन का यौवन नहीं, हृदय का
यौवन रे यह आज उच्छ्वसित !

(५)

बज पायल छम
छम छम !
उद्वेलित हो जब अंतर
व्यथा लहरियों पर पग धर
जीवन की गतिलय से अक्रम
पद उन्मद, मत थम मत थम,
बज पायल छम
छम छम !

'उत्तरा' में मन की स्थिति और भी गम्भीरतर अतः कोमलतर हो गई है। 'वीणा' से लेकर अब तक अर्थात् पिछले तीस वर्षों में पन्त जी के मन की वासना छनते-छनते सूक्ष्म भावना बन गई है और यह भावना भी सूक्ष्म से सूक्ष्मतर होती जा रही है। मन की ऐसी स्थितियों को लक्षित कर यह कहने

Library Sri Pratap College.
Srinagar.

को मन चाहता है कि पन्त जी के जीवन में चाहे कितने ही आकर्षण आये हों, परन्तु अन्य प्रकार की अनुभूतियों में प्रेम की अनुभूति का विकास अत्यन्त स्वाभाविक रूप से उनके जीवन में हुआ है। प्रेम के प्रथम आघात से लेकर अब तक उन्होंने प्रेम की विविध स्थितियों में प्रवेश किया है और उन स्थितियों के अंकन बड़े सजीव हैं। प्रेम की सूक्ष्म से सूक्ष्म वृत्तियों का अनुभव, विश्लेषण और चित्रण पूरी कलात्मकता के साथ इस कवि के काव्य में पाय जाता है। 'उत्तरा' की 'स्मृति' शीर्षक रचना में कवि कहता है—

परित्यक्ता वैदेही सी
अब हृदय कामना उठी निखर
प्राणों की ममता, अश्रु स्नात,
कृश, शरद शुभ्र लगती सुन्दर !

सुख दुख की लपटों में लिपटी
भू के अंगारों पर पग धर,
वह बढ़ती स्वप्नों के पथ पर
शत अग्नि परीक्षाएँ दे कर !
अब प्रेमी मन वह नहीं रहा
ध्रुव प्रेम रह गया है केवल,
प्रेयसि स्मृति भी वह नहीं रही
भावना रह गई विरहोज्वल !

बाहर जो कुछ भी हो बदला
मन का पट बदल गया भीतर !

मानव

'पन्त' अध्यात्म से प्रकृति और प्रकृति से मानव तक आये हैं। प्रकृति का अनुकरण मनुष्य ने किया है, अभी तक ऐसी ही धारणा थी, परन्तु 'गुञ्जन' में पन्त जी इस धारणा को बदल कर कहना चाहते हैं कि यह प्रकृति है जिसने हँसना, रोना, मिलना, खोना मनुष्य से सीखा है—

तुम मेरे मन के मानव,
मेरे गानों के गाने;
मेरे मानस के स्पन्दन,
प्राणों के चिर पहचाने!
सीखा तुम से फूलों ने
मुख देख मंद मुसकाना,
तारों ने सजल नयन हो
करुणा किरणें बरसाना।
सीखा हँसमुख लहरों ने
आपस में मिल खो जाना,
अलि ने जीवन का मधु पी,
मृदु राग प्रणय के गाना!

ठीक स्थिति तो यही है कि मनुष्य ही प्रकृति से सीखता है। यदि इस दार्शनिक कल्पना को न मानें कि ईश्वर ने कल्पना की कि मैं एक से बहु हो जाऊँ तो निश्चित रूप से चन्द्र सूर्य नक्षत्र, बन पर्वत, तृण-पुष्प, पशु-पक्षी मनुष्य से पुराने हैं। आज भी प्रकृति की गोद में मनुष्य उत्पन्न होता है, मनुष्य की गोद में प्रकृति नहीं। परन्तु यह बात अस्वीकार नहीं की जा सकती कि मनुष्य के गौरव से ही सब वस्तुओं का गौरव अक्षुण्ण है, मनुष्य की सौंदर्य दृष्टि ही सब वस्तुओं में सौंदर्य को खोज करती है, मनुष्य की कला-वृत्ति ही

सब वस्तुओं को वाणी देती है। घुमा फिराकर मनुष्य ही समस्त जीवन, सब भावनाओं का केन्द्र है। फूल पहले भी खिलते होंगे, तारे पहले भी किरणें छोड़ते होंगे, लहरें पहले भी एक दूसरे से टकराती होंगी, भौंरे पहले भी मकरंद पीकर गुनगुनाते होंगे, पर उस खिलने में हँसी, उस सरस आलोक में सजलता, उस टकराहट में आलिंगन का आवेश और तन्मयता तथा उस गुनगुनाहट में प्रणय का स्पंदन देखना मानव का ही काम है। सम्भवतः अपनी प्रियतमा के मुख से मिलता-जुलता उसने कुछ पाया, सम्भवतः अपनी गीली पलकें उसने कहीं देखीं, सम्भवतः अपने एकान्त के आलिंगन की छाया उसे कहीं मिली, सम्भवतः अपने मिलन-गान की ध्वनि कहीं गूँजी। सम्भवतः!

'युगांत' में मनुष्य को सृष्टि की सुन्दरतम रचना बताते हुए कवि ने उसके बाह्य शरीर और आंतरिक सद्गुणों की प्रशंसा की है। उसके शरीर की शिराओं, उसमें बहने वाले मादक रक्त, पीन स्कन्ध, दृढ़ बाहु, स्फीत वक्ष, कर, पद, अंगुलि, नख आदि सभी के सौंदर्य को उसने सराहा है। इसके उपरान्त मानव हृदय की विभूतियों—सहृदयता, त्याग, विवेक, विश्वास आदि पर उसकी दृष्टि जाती है। मनुष्य का सबसे बड़ा गुण उसकी दृष्टि में है मानवता की भावना। 'मानव' शीर्षक इस रचना की सब से मौलिक विशेषता यह है कि इसमें स्वस्थ मांसल प्रेम का समर्थन कवि ने किया है। प्रेम को अब वह केवल कल्पना की वस्तु नहीं समझता—

सुन्दर हैं विहग, सुमन सुन्दर,
मानव! तुम सबसे सुन्दरतम,
निर्मित सबकी तिल सुषमा से
तुम निखिल सृष्टि में चिर निरुपम!

पृथु उर, उरोज, ज्यों सर, सरोज,
दृढ़ बाहु प्रलंब प्रेम बन्धन,
पीनोरु स्कन्ध जीवन तरु के
कर, पद, अंगुलि, नख शिख शोभन!

यौवन की मांसल स्वस्थ गन्ध,
नव युग्मों का जीवनोत्सर्ग !
आह्लाद अखिल, सौंदर्य अखिल,
औ' प्रथम प्रेम का मधुर स्वर्ग !

मानसी भूतियाँ ये अमन्द,
सहृदयता, त्याग, सहानुभूति,—
जो स्तम्भ सभ्यता के पार्थिव,
संस्कृति स्वर्गीय,—स्वभाव-पूति !

प्रभु का अनन्त वरदान तुम्हें !
उपभोग करो प्रतिक्षण नव-नव
क्या कमी तुम्हें है त्रिभुवन में
यदि बने रह सको तुम मानव !

मनुष्य की विशिष्टता मानवता निर्धारित करने के उपरान्त कवि मानव से प्रार्थना करता है कि वह नवीन मानवता का सृजन करे। जो असुन्दर और गर्हित है उसे सुन्दरता से ढक दे। जागरण का सन्देश दे वह। ऊपर ताकना छोड़े। वहाँ कुछ नहीं है। मनुष्यों को धारण करने वाली अपनी इस वसुंधरा को देखे—

देखो भू को !
जीव प्रसू को !
हरित भरित
पल्लवित मर्मरित
कूजित गुंजित
कुसुमित
भू को !
कोमल
चंचल
शाद्वल

अंचल,—
कल कल
छल छल
चल-जल-निर्मल—
कुसुम खचित
मारुत सुरभित
खग कुल कूजित
प्रिय पशु मुखरित—
जिस पर अंकित
सुर मुनि वंदित
मानव पद-तल !
देखो भू को,
स्वर्गिक भू को,
मानव पुण्य-प्रसू को !

सृष्टि में सबसे सुन्दर मनुष्य है। मनुष्य में सबसे सुन्दर मानवपन है। पर यह मानवपन है क्या ? दूसरी ओर मनुष्य मिट्टी का बना हुआ है। मिट्टी का पृथ्वी से सम्बन्ध है। तब पृथ्वी और मानवपन का कोई सम्बन्ध है क्या ? कवि कहता है कि पृथ्वी और मानवपन दोनों एक दूसरे से गुँथे हैं। पृथ्वी का प्रेम उसके हृदय में इतना विस्तार पा गया है कि आज से उसे सब कुछ सुन्दर लगता है—

इस धरती के रोम रोम में
भरी सहज सुन्दरता,
इसकी रज को छू प्रकाश
बन मधुर विनम्र निखरता !
पीले पत्ते, टूटी टहनी,
छिलके, कंकर, पत्थर,
कूड़ा करकट सब कुछ भू पर
लगता सार्थक सुन्दर !

मनुष्य और मनुष्यता के सम्बन्ध में उसका विचार है—

जीवों की यह धात्रीः इसकी
मिट्टी का उनका तन,
इस संस्कृत रज का ही प्रतिनिधि
हो सकता मानवपन !

एक युग था जब मनुष्य की व्याख्या करने में आध्यात्मिकता को प्रमुखता दी जाती थी और भौतिकता का तिरस्कार किया जाता था। कहा जाता था जीव अविनाशी ईश्वर का अंश है। वह सत् चिद् आनन्द स्वरूप है। आज उसकी व्याख्या में भौतिकता को प्रधानता दी जा रही है और आध्यात्मिकता को या तो स्वीकार नहीं किया जा रहा या वह तिरस्कृत है और यदि वह कहीं-कहीं मान्य भी है तो चेतना की भी भौतिकवादी व्याख्या कर दी जाती है। मनुष्य की व्याख्या में जिस अंश का प्राधान्य होगा, संस्कृति की व्याख्या में भी उसी अंश की प्रधानता रहेगी। यहाँ धरती को महत्ता प्रदान की गई और मिट्टी से तो मनुष्य का शरीर बना है; अतः अत्यन्त स्वाभाविक है कि संस्कृति के आधारभूत तत्वों को गिनाते समय सीधी-सीधी बातें कहीं जायँ, किसी प्रकार की अलौकिकता से उसे मंडित न किया जाय। पन्त जी की इन दो व्याख्याओं को देखिए जिनमें संस्कृति को प्राणियों की सहज-भावना और मानवता को जीवों के प्रति आत्मीयता माना गया है।

जीव जनित जो सहज भावना
संस्कृति उससे निर्मित,
चिर ममत्व को मधुर ज्योति—
जिससे मानव उर ज्योतित !
रीति नीति वाणी विचार
केवल हैं उसकी प्रतिकृति,
जीवों के प्रति आत्म-बोध ही
मनुष्यत्व की परिणति !

सीमाएं आदर्श सकल,
सीमा विहीन यह जीवन,
दोषों से ही दोष शुद्ध है
मिट्टी का मानवपन !

'मानवता' और 'संस्कृति' ये दो शब्द कवि के मस्तिष्क में चक्कर काटने लगते हैं। उद्बोधन में वह फिर कहता है—

इस कुरूप जगती में कुत्सित
अंतर-बाह्य-प्रकृति पर पा जय,
नव विज्ञान ज्ञान कर संचय;
मानव ! भावी मानव के हित
नव संस्कृति कर जाओ निर्मित।

काल के विराट पट को आँखों के सामने फैलाकर कवि विचार करता है कि न जाने कब से दार्शनिक, राजनीतिज्ञ, अर्थशास्त्री, संगीतज्ञ, चित्रकार और शिल्पकार सभी मानव की एक पूर्ण मूर्ति गढ़ने का प्रयत्न कर रहे हैं, परन्तु मूर्ति अभी तक अपूर्ण ही रही। अपने प्रयत्नों में इनको असफल होते देख पंत जी कवि के पास जाते हैं और उससे पूछते हैं कि क्या वह मानव की निर्दोष मूर्ति गढ़ सकेगा ?

हे राजनीतिविद्, अर्थविज्ञ !
रच शत शत वाद, विवाद, तंत्र
परतंत्र किया तुमने मानव,
तुम बना न सके उसे स्वतंत्र !
हे दर्शनज्ञ, शत तर्कों से,
सच्छास्त्रों से पा गहन ज्ञान,
तुम भी न दे सके मानव को
उसकी मानवता का प्रमाण !
हे चित्रकार, ले रंग तूलि,
भर रूप रेख, छायाभ अंग,

चित्रित न कर सके मानव में
तुम मानवता के रूप रंग !

गायक, पा कोमल, मधुर कंठ,
रच बाह्य ताल, आलाप, तान,
मानव उर तुम मानव उर में
लय कर न सके, गा मर्म गान !
हे शिल्पकार वर ! कठिन धातु,
जड़ प्रस्तर में भर अमर प्राण
दे सके नहीं मानव जग को
तुम मानवता का प्रकृत मान !
कवि, नव युग की चुन भाव राशि
नव छंद, आभरण, रस विधान,
तुम बन न सकोगे जन मन के
जाग्रत भावों के गीत यान ?

कवि की उत्कण्ठा और आकुलता ने कविता में प्राण डाल दिए हैं और उसे गहरी मार्मिकता प्रदान की है। परन्तु उसकी स्थापनाओं के सम्बन्ध में हम दो बातें करना चाहते हैं। पहली बात यह कि राजनीति, अर्थनीति, दर्शन और कला जीवन की किसी विशेष समस्या या उसके विशेष पक्ष के समाधान और अंकन के लिए हैं। जीवन की समग्रता को इनमें से कोई वस्तु नहीं समेट सकतीं। यही इनमें से प्रत्येक की सीमा है। अर्थशास्त्रियों, दार्शनिकों और कलाकारों ने जीवन को अधिक उज्ज्वल और अधिक सुन्दर बनाने का प्रयत्न किया है ! उदाहरण के लिए इस सम्बन्ध में मार्क्स, शंकराचार्य और तानसेन के नाम लिए जा सकते हैं। अतः जीवन को पूर्ण बनाने में इनका योग बराबर रहा है और बराबर रहेगा। कवि की भी वही स्थिति है। अन्य विचारकों और साधकों से जो उसे कुछ श्रेष्ठता प्रदान की जा सकती है वह केवल इस दृष्टि से कि उसका क्षेत्र इन सभी की अपेक्षा व्यापक है। वह चाहे तो राजनीति, अर्थनीति, दर्शन, संगीत, चित्र, शिल्प सभी को समेट सकता है और आवश्य-

कता पड़ने पर समेटता ही है। उदाहरण के लिए तुलसी का नाम लिया जा सकता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि जीवन को जितनी व्यापक दृष्टि और गति कवि दे सकता है उतना अन्य व्यक्ति नहीं। कारण यह है कि भावनाओं को आंदोलित करने का जो अमोघ अस्त्र उसके पास है वह अन्य किसी के पास नहीं। इतना होते हुए भी जीवन को अपनी जड़ें पुष्ट करने के लिए कवि के साथ राजनीतिज्ञों, अर्थशास्त्रियों, दार्शनिकों और अन्य कलाकारों की भी बराबर आवश्यकता पड़ेगी। सबके योगदान से ही जीवन अधिक पूर्ण बनेगा।

मनुष्य की पूर्णता के लिए बाहरी और भीतरी दोनों प्रकार के सुधारों की आवश्यकता है। बाहरी सुधार यह कि जाति भेद, वर्ण भेद, भाषा भेद, धनी निर्धन के भेद, शिक्षित अशिक्षित के भेद से परे जो मनुष्य है, मनुष्य उसे पहचानने और भीतरी सुधार यह कि मनुष्य द्वन्द्वों को स्वीकार करे और सब कुछ झेलता हुआ आगे बढ़े। 'युगवाणी' की दो रचनाएँ 'खोज' और 'द्वन्द्व' इस सम्बन्ध में देखने योग्य हैं—

(१)

आज मनुज को खोज निकालो!
जाति वर्ण संस्कृति समाज से
मूल व्यक्ति को फिर से चालो!
देश राष्ट्र के विविध भेद हर
धर्म नीतियों में समत्व भर,
रूढ़ि रीति गत विश्वासों की
अंध यवनिका आज उठालो!

(२)

शीत ताप
दिन रात
सुख दुख
ह्रास विकास

जीवन के ही अंश भाग !
इनके साथ बढ़ो मानव !
सहन करो चुपचाप
द्वन्द्वों के आघात
जीवन से होओ न विमुख।
बढ़ो वृक्ष-से अनायास !

स्त्री पुरुष के सम्बन्ध को लेकर ग्राम्या में एक बड़ी मनोरंजक रचना है—नाम है 'द्वंद्व प्रणय'। इसमें कवि ने कहा है कि मनुष्य का प्रणय समाज में गोपन रीति से, शंकित हृदय से चलता है। यह कायरों का ढंग है। नर-नारी के बीच चुम्बन-व्यापार वैसे ही खुल कर चलना चाहिये जैसे प्रकृति के जीवों में होता है। प्रेम की कला मनुष्य को पशु-पक्षी से फिर से सीखनी चाहिये। पाठकों और कवि के बीच मैं अधिक देर खड़ा होना नहीं चाहता। सुनिए तो पन्त जी क्या समझा रहे हैं—

धिक् रे मनुष्य, तुम स्वच्छ, स्वस्थ, निश्छल चुंबन
अंकित कर सकते नहीं प्रिया के अधरों पर ?
मन में लज्जित, जन से शंकित, चुपके गोपन
तुम प्रेम प्रकट करते हो नारी से, कायर !
क्या गुह्य क्षुद्र ही बना रहेगा, बुद्धिमान !
नर नारी का स्वाभाविक, स्वर्गिक आकर्षण ?
क्या मिल न सकेंगे प्राणों से प्रेमार्त प्राण
ज्यों मिलते सुरभि समीर, कुसुम अलि, लहर किरण ?
क्या क्षुधा तृषा औ' स्वप्न जागरण सा सुन्दर
है नहीं काम भी नैसर्गिक, जीवन द्योतक ?
पशु पक्षी से फिर सीखो प्रणय कला, मानव !
जो आदि जीव, जीवन संस्कारों से प्रेरित,
खग युग्म गीत गा करते मधुर प्रणय अनुभव,
मृग मिथुन शृंग से अंगों को कर मृदु मर्दित !

मत कहो मांस की दुर्बलता, हे जीव प्रवर!
है पुण्य तीर्थ नर नारी जन का हृदय मिलन।

सुनने में प्रिय लगने वाली सभी बातें यदि मनुष्य करने लगे तो जीवन की स्थिति बड़ी विघातक हो जाय। यह रचना हमें जो सन्तोष प्रदान करती है उसका कारण यह है कि यह हमारे चिर-संचित असंतोष को व्यक्त करती है और वह असन्तोष है यह कि हमारे प्राणों को खुल कर प्यार करने का अधिकार नहीं। एक नवयुवक और एक नवयुवती एक दूसरे को प्यार करने को बढ़ते हैं। बीच में आ जाते हैं समाज, धर्म, मा-बाप। इस प्रकार दो हृदय जीवन भर तड़पते रहते हैं। जिनका व्यक्तित्व दृढ़ होता है वे अपनी पीड़ा की अभिव्यक्ति लोक-सेवा, ईश्वर-चिन्तन या कला-साधना द्वारा कर लेते हैं, जो दुर्बल होते हैं वे आत्म-हत्या कर बैठते हैं या मदिरा-सेवी हो जाते हैं या वेश्यागामी। या फिर दोनों समाज से विद्रोह करें और साथ रहें, डरें और भाग जायँ, घुलें और रुग्ण रहें। इस प्रकार के व्यक्तियों के जीवन को देखकर आकांक्षा होती है कि जो दो व्यक्ति एक दूसरे को प्रेम करते हैं उन्हें यह स्वतन्त्रता होनी चाहिये कि वे एक दूसरे को अपने ढंग से मन भर कर प्यार कर सकें।

परन्तु यहाँ इस समस्या को न उठा कर प्रेम की क्रिया को बदलने की बात उठाई गई है। खुलकर प्यार करना और खुले में प्यार करना दो बातें हैं। पंत जी का कहना है कि चुम्बन, आलिंगन और मिथुन वैसे ही होना चाहिए जैसे पशु-पक्षियों में होता है अर्थात् खुल्लमखुल्ला। उदाहरण दिया है पहले लहर किरण, कुसुम अलि, सुरभि समीर का, फिर पक्षियों और मृगों का। किरण जैसे लहर चुम्बन करती है, अलि जैसे कुसुम का रस-पान करता है, सुरभि जैसे समीर में समा जाती है। यह नग्न प्रणय कितना सुन्दर लगता है! पक्षी जैसे मिलन से पूर्व गाते हैं, मृग-मृगी जैसे मिथुन के पूर्व सींगों से शरीर रगड़ते हैं। कितना आकर्षक है यह प्रणय! परन्तु मनुष्य के पास न तो लहर किरण, सुरभि समीर का शरीर है जो दिखाई न दे और न पशु-पक्षियों की सी अविकसित चेतना जिन्हें सामाजिक-बोध में कुछ लेना देना नहीं। मनुष्य सामाजिक प्राणी है। यदि वह मिलन से पहले सींग रगड़े या अन्य पशुओं की भाँति—नाम लेना

मैं नहीं चाहता—मिले तो हाट-बाट उत्सव घाट में फिर यहीं होता रहे। प्रेम का रस गोपन में ही है। यदि प्रकृति का ज्यों का त्यों अनुकरण मनुष्य करने लगे तो विश्रृङ्खलता तो उत्पन्न होगी ही, सौंदर्य की दृष्टि भी उसे अधिक संस्कृत न समझेगी। परन्तु मुझे विश्वास है कि पंत जी की इस बात को लोग गंभीरता से ग्रहण नहीं करते और न चोरी से चुम्बन करने वालो को कायर ही समझते हैं। चोरी के चुम्बन बहुत मीठे होते हैं।

मानवी

अनेक विषयों में से नारी भी पंत जी के चिंतन का विषय है। 'पल्लव' में एक रचना है। उसका शीर्षक है 'नारी रूप' कवि ने उसमें नारी को चार रूपों में देखा है—

(१) देवी

(२) मा

(३) सहचरी

(४) प्राण

जिस क्रम से उसने ये संबंध सजाये हैं वे अलौकिकता से लौकिकता की ओर, दूरी से निकटता की ओर, असमानता से समानता की ओर अग्रसर हुए हैं। किसी आध्यात्मिक शक्ति को नारी रूप में उपासना करने से उसे देवी का स्वरूप प्राप्त होता है जैसे सरस्वती, लक्ष्मी, दुर्गा आदि। परन्तु ये शक्तियाँ सामान्यरूप से भक्तों की उपासना का विषय हैं। विद्यापति, तुलसी, मैथिलीशरण गुप्त आदि ने अपनी रचनाओं में उनकी चर्चा और वंदना की है। रहस्यवादी या निर्गुण के उपासक उस ओर प्रायः ध्यान नहीं देते। पर निराला और पंत जी ने सरस्वती की वंदना की है। 'वीणा' का समर्पण-पत्र ही वीणा-वादिनि के नाम है। नारी को देवी रूप उस समय प्राप्त होता है जब हम उसके किन्हीं असाधारण गुणों के कारण उसके प्रति अपनी श्रद्धा-भावना प्रदर्शित करते हैं। पंत जी ने 'वीणा' में ब्रह्म की कल्पना मा रूप में की है; अतः देवी और मा यहाँ एक हो गई हैं, यह हम रहस्यवाद के प्रसंग में दिखा आये हैं। कवि ने 'ग्रंथि' में लिखा है कि उसके मातृ-अंचल की अभय छाया बाल्य-काल में ही लुप्त हो गई थी; अतः अपनी मा को संबोधन करने का अवसर कवि को बहुत कम मिला होगा। फिर भी 'वीणा' में कई ऐसी रचनाएँ हैं जिनमें मा बेटी के बीच संभाषण चलता है। निश्चित रूप से वे रहस्यवाद के अन्तर्गत नहीं आतीं। एक उदाहरण लीजिये—

"मा ! अल्मोड़े में आये थे
जब राजर्षि विवेकानंद;
तब मग में मखमल बिछवाया
दीपावलि की विपुल अमन्द;
बिना पाँवड़े पथ में क्या वे
जननि ! नहीं चल सकते हैं ?
दीपावलि क्यों की ? क्या वे मा !
मन्द-दृष्टि कुछ रखते हैं ?"

"कृष्णे ! स्वामी जी तो दुर्गम
मग में चलते हैं निर्भय,
दिव्य-दृष्टि हैं, कितने ही पथ
पार कर चुके कण्टकमय;
वह मखमल तो भक्ति-भाव थे
फैले जनता के मन के,
स्वामी जो तो प्रभावान हैं,
वे प्रदीप थे पूजन के !"

इसी प्रकार सहचरी और प्राण की चर्चा प्रेम-भावना में हो चुकी है। परंतु पंत जी ने नारी की स्थिति पर स्वतन्त्र रूप से भी विचार किया है और उसके सम्बन्ध में वे अपनी कुछ धारणाएँ रखते हैं। उसकी चर्चा हम आगे के पृष्ठों में करेंगे।

'पल्लव' के नारी रूप का प्रारम्भ उन्होंने निम्न पंक्तियों से किया है—

घने लहरे रेशम के बाल—
धरा है सिर में मैंने, देवि !
तुम्हारा यह स्वर्गिक-शृंगार,
स्वर्ण का सुरभित-भार !

'पंत' जी लम्बे बाल रखते हैं। इसी तथ्य की स्वीकृति इन पंक्तियों में है। ये पंक्तियाँ आत्म-कथात्मक अधिक हैं, कविता की वास्तविक आत्मा से इनका विशेष सम्बन्ध नहीं है।

Library Sri Pratap College.
Srinagar.

पर इस रचना में नारी की विशेषताओं का स्मरण करते हुए कवि उसके प्रति अपना कई प्रकार का मानसिक संबंध भी व्यक्त करता है—

स्नेहमयि ! सुन्दरतामयि !
तुम्हारे रोम रोम से, नारि !
मुझे है स्नेह-अपार;
तुम्हारा मृदु-उर ही, सुकुमारि !
मुझे है स्वर्गागार !
तुम्हारे गुण हैं मेरे गान,
मृदुल-दुर्बलता, ध्यान;
तुम्हारी पावनता, अभिमान,
शक्ति, पूजन-सम्मान;
अकेली सुन्दरता, कल्याणि !
सकल ऐश्वर्यों की सन्धान !
स्वप्नमयि ! हे मायामयि !
तुम्हीं हो स्पृहा, अश्रु औ' हास,
सृष्टि के उर की साँस;
तुम्हीं इच्छाओं की अवसान,
तुम्हीं स्वर्गिक-आभास,
तुम्हारी सेवा में अनजान
हृदय है मेरा अन्तर्धान,
देवि ! मा ! सहचरि ! प्राण !

यहाँ नारी के लिये देवी शब्द का प्रयोग एक स्थान पर हुआ है। केशों को 'स्वर्गिक शृंगार' मानकर कवि ने उन्हें धारण करने वाली को देवी कहा है। यह सत्य है कि नारी का आधे से अधिक सौंदर्य उसके केशों के कारण है। मुख की समस्त श्री उन्हीं की सुन्दरता पर निर्भर करती है। अतः सुन्दरता की अतिशयता का आधार होने के कारण यदि उनके सौंदर्य में स्वर्गीय झलक

देखी गई हो तो कुछ अनुचित नहीं प्रतीत होता। देवी शब्द कहीं-कहीं अत्य-धिक आदर-सूचक भी बन कर आता है, यद्यपि उस पक्ष पर दृष्टि न होते हुए भी वह अर्थ यहाँ तिरस्कृत नहीं है।

जिन भावनाओं की घोषणा कवि ने यहाँ की है, उनमें से अनेक को निभाया है। 'नारी का हृदय स्वर्गागार' है इस पर एक अत्यंत रम्य रचना पंत जी ने ग्राम्या में दी है। नारी के उन्होंने गीत गाए हैं, उसके रोम-रोम से अपना अपार स्नेह प्रदर्शित किया है, उसकी सुन्दरता उनका ऐश्वर्य रहा है, यह सच सत्य है। परन्तु उन्होंने जो उनकी मृदुल-दुर्बलता को अपना ध्यान बतलाया है, उसका निर्वाह वह नहीं कर सके। यदि मृदुल-दुर्बलता का आशय शारीरिक कोमलता का है तब तो दूसरी बात है, परन्तु यदि उसमें और भी बातें सम्मिलित हैं तो आधुनिका को आगे चल कर जहाँ उन्होंने मार्जारी तक कह दिया है वह बड़ा अशोभन लगता है। लगता है कवि अपने मानसिक संतुलन को वहाँ खो बैठा है।

'युग वाणी' में नर और नारी दोनों को उन्होंने संबोधित किया है—नारी को कम नर को अधिक। इसकी 'नारी' रचना सामान्य नारी की आज तक की दशा का वास्तविक चित्र है। एक प्रकार से नारी पर यह एक विचार-प्रधान निबंध है जिसे कवि ने पद्य-बद्ध किया है। जीवन के अन्य उपकरणों के समान नारी को भी पुरुष अपनी व्यक्तिगत पूँजी समझता है जिसका उपयोग जैसे चाहे वह कर सकता है। यह सत्य है कि उसने उसे सोने से लाद दिया है; परन्तु ये आभूषण ही उसके शरीर के बंधन बन गए हैं। उसको इस प्रकार तुष्ट कर उसने उसे अपनी इच्छा का खिलौना बनाया। उसके लिये जो नैतिक मान उसने घोषित कर दिये, उन्हें उसे स्वीकार करना पड़ा। इस प्रकार शरीर के साथ उसकी आत्मा पर भी उसका आधिपत्य हो गया। नारी का कोई स्वतंत्र अस्तित्व न रहा। यदि उसके मन में विद्रोह की कोई इच्छा जगी भी, तो वह वहीं कुचल दी गई। पुरुष के पास इस काम के लिये पशु-बल की कमी न थी। कवि पुरुषों से प्रार्थना करता है कि अब वे अपने अत्याचार को बंद करें और तन मन से नारी को स्वतंत्र करके उसे मानवी का उचित गौरव प्रदान करें जिससे नवीन युग का प्रभात शीघ्र फूटे—

मुक्त करो नारी को मानव !
चिर बंदिनि नारी को,
युग युग की बर्बर कारा से,
जननि, सखी, प्यारी को !
छिन्न करो सब स्वर्ण पाश
उसके कोमल तन मन के,
वे आभूषण नहीं, दाम
उसके बंदी जीवन के !

पुरुष वासना की सीमा से
पीड़ित नारी जीवन,
नर नारी का तुच्छ भेद है
केवल युग्म विभाजन !
योनि मात्र रह गई मानवी
निज आत्मा कर अर्पण,
पुरुष प्रकृति की पशुता का
पहने नैतिक आभूषण !

नष्ट हो गई उसकी आत्मा,
त्वचा रह गई पावन
युग युग से अवगुण्ठित गृहिणी
सहती पशु के बंधन !
खोलो हे मेखला युगों की
कटि प्रदेश से, तन से !
अमर प्रेम ही बंधन उसका,
वह पवित्र हो मन से !

क्षुधा कामवश गत युग ने
पशु बल से कर जन शासित

जीवन के उपकरण सदृश
नारी भी कर ली अधिकृत !
मुक्त करो जीवन संगिनि को,
जननि, देवि को आदृत,
जग जीवन में मानव के सँग
हो मानवी प्रतिष्ठित !

एक दूसरी रचना में कवि देखता है कि नारी 'नर की छाया' मात्र रह गई है। इससे उसे बड़ा आश्चर्य होता है, बड़ी पीड़ा !

पुरुषों की ही आँखों से
नित देख देख अपना तन,
पुरुषों ही के भावों से
अपने प्रति भर अपना मन,
लो, अपनी ही चितवन से
वह हो उठती है लज्जित,
अपने ही भीतर छिप छिप
जग से हो गई तिरोहित !

वह नर की छाया नारी !
चिर नमित नयन पद विजड़ित
वह चकित, भीत हिरनी सी
निज चरण चाप से शंकित !
मानव की चिर सहधर्मिणि,
युग युग से मुख अवगुंठित,
स्थापित घर के कोने में
वह दीपशिखा सी कंपित !

'ग्राम्या' में नारी पर कई रचनाएँ हैं जैसे स्त्री, आधुनिका, मज़दूरनी, नारी। 'नारी' रचना में 'युग वाणी' की 'नारी' रचना की बहुत सी बातों को दुहराया गया है। उस रचना में एक विशेष बात कवि ने यह कही थी कि लिंग के

आधार पर नर-नारी का भेद ठीक नहीं। वे दोनों समान हैं और एक ही रचना के दो रूप हैं। उन दोनों में से किसी को अधिकार नहीं है कि दूसरे के व्यक्तित्व को कुचले। 'नर की छाया' में उन्होंने नारी की अधोगति के मूल में इस बात का संकेत किया था कि उसने अपना मूल्य सदैव पुरुष की दृष्टि से आँका। इस रचना में ग्राम्या की दोनों रचनाओं की भावनाओं को समेटते हुये कवि ने तीन तथ्यों का निर्देश किया है (१) इस समय उसकी स्थिति क्या है (२) उसे क्या होना चाहिये जो वह नहीं है (३) नारी अपने वास्तविक स्वरूप को यदि प्राप्त करेगी तो क्या होगा।

सदाचार की सीमा उसके तन से है निर्धारित,
पूत योनि वह : मूल्य चर्म पर केवल उसका अंकित;
अङ्ग अङ्ग उसका नर के वासना चिह्न से मुद्रित,
वह नर की छाया, इंगित संचालित, चिर पद लुंठित!
वह समाज की नहीं इकाई,—शून्य समान अनिश्चित,
उसका जीवन-मान, मान पर नर के है अवलंबित।
मुक्त हृदय वह स्नेह प्रणय कर सकती नहीं प्रदर्शित,
दृष्टि, स्पर्श, संज्ञा से वह हो जाती सहज कलंकित!
योनि नहीं है रे नारी, वह भी मानवी प्रतिष्ठित,
उसे पूर्ण स्वाधीन करो, वह रहे न नर पर अवसित।
द्वन्द्व क्षुधित मानव समाज पशु जग से भी है गर्हित,
नर नारी के सहज स्नेह से सूक्ष्म वृत्ति हों विकसित।
आज मनुज जग से मिट जाये कुत्सित, लिंग विभाजित,
नारी नर की निखिल क्षुद्रता, आदिम मानों पर स्थित।
सामूहिक-जन-भाव स्वास्थ्य से जीवन हो मर्यादित,
नर नारी की हृदय मुक्ति से मानवता हो संस्कृत।

'स्त्री' शीर्षक रचना में कवि ने पहले तो नारी की अत्यधिक प्रशंसा की है—

यदि स्वर्ग कहीं है पृथ्वी पर तो वह नारी उर के भीतर,

दल पर दल खोल हृदय के स्तर
जब बिठलाती प्रसन्न होकर
वह अमर प्रणय के शतदल पर !

पर साथ ही दूसरी ओर भी वह उसी सीमा पर पहुँच गया है —

यदि कहीं नरक है इस भू पर तो वह भी नारी के अन्दर,
वासनावर्त में डाल प्रखर
वह अन्ध गर्त में चिर दुस्तर
नर को ढकेल सकती सत्वर !

यहाँ यह कहना है कि जहाँ तक वासना के जीवन का संबंध है, वहाँ केवल नारी को दोष देना अन्याय करना है। उसमें दोनों का हाथ रहता है—अपराध होता है अधिकतर पुरुष का। जानबूझ कर नारी उसे उस ओर ढकेलती हो, ऐसा नहीं होता।

पर बात यहीं समाप्त नहीं हो जाती। 'आधुनिका' में कवि ने नारी को और भी हल्के शब्दों से पुकारा है—

पशुओं से मृदु चर्म, पक्षियों से ले प्रिय रोमिल पर,
ऋतु कुसुमों से सुरँग सुरुचिमय चित्र वस्त्र ले सुन्दर,
सुभग रूज़, लिपस्टिक, ब्रोस्टिक, पोडर से कर मुख रंजित,
अंगराग, क्यूटेक्स, अलक्तक से बन नख शिख शोभित;
शिक्षित तुम संस्कृत, युग के सत्याभासों में पोषित,
समकक्षिणी नरों की तुम, निज द्वन्द्व मूल्य पर गर्वित।
प्रेम, दया, सहृदयता, शील, क्षमा, पर-दुख कातरता,
तुम में तप, संयम, सहिष्णुता नहीं त्याग, तत्परता।
लहरी सी तुम चपल लालसा श्वास वायु से नर्तित,
तितली सी तुम फूल फूल पर मँडराती मधुक्षण हित !
मार्जारी तुम, नहीं प्रेम को करती आत्म समर्पण,
तुम्हें सुहाता रंग प्रणय, धन पद मद, आत्म प्रदर्शन।

तुम सब कुछ हो, फूल, लहर, तितली, विहगी, मार्जारी,
आधुनिके, तुम नहीं अगर कुछ, नहीं सिर्फ तुम नारी !

इस रचना से पता चलता है कि जिन भारतीय नारियों ने पश्चिम की वेश-भूषा, शिक्षा-संस्कृति, स्वातंत्र्य-भावना आदि को अपनाया, उनके प्रति कवि के हृदय में कोई सम्मान-भावना नहीं है। आधुनिक नारी भी नारी है। वेश-भूषा की भी प्रत्येक प्राणी को चाहे वह स्त्री हो या पुरुष धारण करने की स्वतंत्रता है। भारतीय नारी ने पश्चिम की नारी का कुछ अंशों में अनुकरण किया है, परन्तु गाँवों के इस देश में उनकी संख्या अधिक नहीं है। उनका अपना एक सीमित समाज है और इस प्रकार विशाल भारतीय नारी-जीवन को वे प्रभावित नहीं करतीं। परन्तु इस रचना में दुर्गुणों के जितने गहरे रंग कवि ने दिये हैं वे असंयम की सीमा में आते हैं। हम नहीं समझते किसी भी व्यक्ति को इस प्रकार के अशुभ विशेषणों का प्रयोग नारी के लिये करना चाहिये। इस प्रकार की नारियाँ जिस वातावरण में पली और विकसित हुई हैं उसे दोषपूर्ण कहा जा सकता है; परन्तु नारी को लहरी, तितली, मार्जारी आदि कहना तो पन्त जैसे शिष्ट व्यक्ति की लेखनी से अच्छा नहीं लगता। हो सकता है इस रचना के कारण पन्त की गणना तुलसीदास के उपरांत नारी के निंदकों में कभी हो।

'ग्राम्या' में पन्त जी की एक अन्य आकर्षक रचना है 'मजदूरिनी के प्रति।' उसे हम नीचे उद्धृत करते हैं—

नारी की संज्ञा भुला, नरों के संग बैठ,
चिर जन्म सुहृद सी जन हृदयों में सहज पैठ
जो बँटा रही तुम जग जीवन का काम काज
तुम प्रिय हो मुझे : न छूती तुमको काम लाज
सर से आँचल खिसका है,—धूल भरा जूड़ा—
अधखुला वक्ष,—ढोती तुम सिर पर धर कूड़ा;
हँसती, बतलाती सहोदरा सी जन जन से,
यौवन का स्वास्थ्य झलकता आतप-सा तन से।

कुल बधू सुलभ संरक्षणता से हो वंचित,
निज बंधन खो, तुमने स्वतंत्रता की अर्जित,
स्त्री नहीं, आज मानवी बन गई तुम निश्चित,
जिसके प्रिय अगों को छू अनिलातप पुलकित!
निज द्वन्द्व प्रतिष्ठा भूल, जनों के बैठ साथ,
जो बँटा रही तुम काम काज में मधुर हाथ,
तुमने निज तन की तुच्छ कंचुकी को उतार,
जग के हित खोल दिये नारी के हृदय द्वार!

नारी के प्रति स्वस्थ दृष्टिकोण रखनेवाली यह एक अत्यन्त रम्य रचना है। नर के साथ साधारण से साधारण काम-काज में हाथ बटाने वाली स्वच्छंदता और निर्भीकता से बाहर विचरण करने वाली, शरीर और मन के स्वास्थ्य से युक्त युवती मज़दूरनी! कितना स्पृहणीय चित्र है। पंत जी जो दृश्य चुनते हैं और उसके संबन्ध में उसका जो शब्द विधान होता है वे दोनों ही प्रतिभा और कला के परिचायक होते हैं; पर उस संबंध में उनके आशय या परिणाम से सभी कहीं सहमत होना कठिन है।

यह ठीक है कि मज़दूरनी जग-जीवन के काम-काज में हाथ बटाती है। यह भी ठीक है कि उसे कुल बधू के संरक्षण की आवश्यकता नहीं। ठीक यह भी है कि वह खुली प्रकृति में स्वतंत्र पक्षी-सी विचरण करती है। उसका शरीर यदि अधखुला है तो उस ओर किसी की कामुक दृष्टि का उसे भय नहीं और मन में उसके कुछ रहता नहीं, केवल अपना काम रहता है। और यह भी ठीक है कि वह अपनी बहुत-सी बहिनों की अपेक्षा बहुत स्वतंत्र है। खुली प्रकृति के समान उसका खुला जीवन है।

परन्तु इस सब पर पंत जी का यह निर्णय कि तुम स्त्री से मानवी हो गई हो काव्य या कवि का मात्र उच्छ्वास है, अर्द्ध सत्य मात्र, सत्याभास मात्र।

इच्छा होती है कि यह चित्र उस समाज से उठाया गया होता, जहाँ का प्राण श्रमिक होता और जहाँ मज़दूरी करना गौरव का लक्षण गिना जाता। परन्तु हम जानते हैं कि वैसा नहीं है। इस पूँजीवादी युग में शायद ही कोई मज़दूरनी

Library Sri Pratap College,
Srinagar.

अपने काम पर गर्व का अनुभव करती हो और शायद ही यह सोचती हो कि उसने स्वतंत्रता का अर्जन किया है। शायद ही उसे इस बात पर प्रसन्नता होती हो कि वह पुरुषों के साथ जग-जीवन के काम काज में हाथ बटा रही है। उसके हाथ बटाने का मुख्य कारण यह है कि यदि श्रमिक घरों के स्त्री पुरुष दोनों काम न करें तो वे भूखों मर जायँ। उसके सर से खिसके अंचल और अधखुले वक्ष आदि में जो काम-लाज की कमी कवि ने देखी है, उसका कारण यह है कि उसका काम ऐसा है—जैसे यहाँ कूड़ा ढोना—कि अधिक लाज करने से पेट नहीं भर सकता। काम हो ही नहीं सकता। उसके पास उस ओर देखने का अवकाश ही नहीं है। लज्जा आदि के उसके कोमलतम तंतु उसके कर्म की कठोरता में पनप ही नहीं पाते। लू भी जो उसे छूकर पुलकित होती है उसका कारण भी यही है कि उसे सहन करते-करते वह अभ्यस्त और कठोर हो गई है। यों कुल बंधुओं के और उसके अंगों में जन्म के समय कोई अंतर नहीं था। शरीर ढका कहाँ से जाय, उसे ढकने को कपड़ा ही नहीं मिलता। अभी तो भारतीय श्रमिक की यही दशा है। कुल-बधू से वह चाहे जितनी अधिक स्वतंत्र हो, परन्तु वह जानती है कि जहाँ कुल-बधू खड़ी है, वहाँ वह खड़ी नहीं हो सकती। एक स्वामिनी है, दूसरी सेविका। यदि इस मज़दूरनी को अच्छे वस्त्र, अच्छा खाना और अच्छी शिक्षा मिले तो क्या इस विज्ञान के विकसित युग में वह सिर पर कूड़ा रखकर धूल भरे जूड़े के साथ श्रम करना पसंद करेगी? श्रम करना बुरा नहीं है, पर इस श्रम के मूल में कितने श्रम-बिंदु, कितने अश्रु-बिंदु और कितने रक्त-बिंदु हैं—यह क्या किसी से छिपा है! यह है चित्र का दूसरा पक्ष, संभवतः वास्तविक पक्ष जिसकी ओर या तो कवि की दृष्टि नहीं गई, या उसने दृष्टि फेर ली है। सभी स्थानों पर सुन्दरता के दर्शन करना उसका स्वभाव सा हो गया है। इसी से मैंने कहा था कि रचना बड़ी रम्य है, पर है काव्यात्मक उच्छ्वास मात्र! कवि-दृष्टि ने श्रम की ऊपरी सुन्दरता ही देखी, उसकी आंतरिक पीड़ा नहीं पहचानी। पहचानता तो रचना और भी अधिक मार्मिक होती और उसकी बात अधिक बलवती, प्रभावशालिनी एवं क्रान्ति उत्पन्न करने वाली।

'स्वर्ण किरण' में नारी को लेकर 'नारी पथ' नामक एक रचना है। इसमें नारी की सुन्दरता का वर्णन करते हुए सृष्टि में उसकी स्थिति और महत्ता का

निर्देश किया गया है। कवि का कहना है एक नारी के कारण ही यह प्राणी-जगत सुन्दर लगता है—

कितनी वेणियाँ लोल
लोटतीं पीठों पर
खुली, बँधी, फूल गुथीं
सुरभित तम निर्झर!
नवल मुकुल सृष्टि अंग,
चकित मृग ग्रीवा भंग,
पुष्प शिखर से उरोज,
चारु हंस, छवि सरोज,
रूप की प्ररोह बाँह
प्राण कामना प्रवाह,...

सचमुच—

एक अंगना से सुभग
लगता अङ्गों का जग।

'स्वर्ण धूलि' में 'मातृ शक्ति' और 'मातृ चेतना' नाम की दो रचनाएँ हैं। वे दोनों अलौकिक मा से संबंध रखती हैं। नर नारी को लेकर उसने 'मानसी' नाम से एक लंबे रूपक की रचना की है। उसकी चर्चा अभी हम करेंगे। 'मनुष्यत्व' शीर्षक रचना में जहाँ उसने वर्ग-भेद और वर्ण-भेद आदि से उत्पन्न भयंकर हानियाँ दिखाई हैं, वहाँ नारी के प्रति नर की दृष्टि में दोष भी ढूँढ़ा है और उसके प्रति हमारी कैसी दृष्टि होनी चाहिए इस बात का उल्लेख भी किया है। देखिये—

छोड़ नहीं सकते हैं यदि जन
नारी मोह पुरुष की दासी उसे बनाना,
देह द्वेष औ' काम क्लेश के दृश्य दिखाना—
तो अच्छा हो छोड़ दें अगर
हम समाज में द्वंद्व स्त्री पुरुष में बँट जाना!

स्नेह मुक्त सब रहें परस्पर,
नारी हो स्वतन्त्र जैसे नर,
देव द्वार हो मातृ कलेवर

अनादि काल से नर के साथ नारी के भाव-संबंध रहे हैं। प्रायः ऐसा हुआ है कि वह एक भाव लेकर नर के पास आई, पर उसका भाव अन्य भाव में अनायास परिवर्तित हो गया। नारी उसे श्रद्धा-भक्ति का पात्र समझती रही। उसके व्यक्तित्व के संबंध में कौतूहल की दृष्टि रही; वह उसके विश्वास की भिखारिनी बनी। उसके पूजन-आराधन की सामग्री उसने सँजोई; परन्तु पुरुष ने उसे हृदय के सिंहासन पर स्थान दिया और भक्ति को प्रीति, पूजन को प्रणय-गान, जिज्ञासा को तन्मयता आदि में परिवर्तित कर दिया—

मैं चिर श्रद्धा लेकर आई
वह साध बनी प्रिय-परिचय में,
मैं भक्ति हृदय में भर लाई
वह प्रीति बनी उर परिणय में!

जिज्ञासा से था आकुल मन
वह मिटी, हुई कब तन्मय मैं,
विश्वास माँगती थी प्रतिक्षण
आधार पागई निश्चय मैं!

लज्जा जाने कब बनी मान
अधिकार मिला कब अनुनय में,
पूजन आराधन बने गान
कैसे, कब? करती विस्मय मैं!

उर करुणा के हित था कातर
सम्मान पागई अक्षय मैं,
पापों अभिशापों की थी घर
वरदान बनी मंगलमय मैं!

बाधा विरोध अनुकूल बने
अन्तर्चेतन अरुणोदय में,
पथ शूल विहँस मृदु फूल बने
मैं विजयी प्रिय, तेरी जय में !

इस रचना की मूल प्रवृत्ति के पीछे जो दुर्बलता है वह यह कि कवि पहले से ही इस बात को सोच कर चलता है कि पुरुष महान् है, नारी तुच्छ; पुरुष दानी है, नारी दान ग्रहण करने वाली, पुरुष उपास्य है, नारी उपासिका। कहने की आवश्यकता नहीं कि यह दृष्टिकोण एकदम परम्परा-भुक्त है। कल्पना ऐसा कहती है कि सृष्टि के आदि में नर नारी पक्षियों जैसे स्वच्छंद रहे होंगे और दोनों ही समान होंगे। परन्तु अपने पशु बल से मनुष्य ने जैसे जैसे अन्य वस्तुओं की भाँति नारी को भी सम्पत्ति का अंग समझा, वैसे ही वैसे नारी की दशा गिरती गई और उसके लिये इसके अतिरिक्त दूसरा मार्ग न रहा कि पुरुष की करुणा को अपना सौभाग्य समझे। मुझे बुर्जुआ और सर्वहारा शब्दों में बोलने का अभ्यास नहीं है, परन्तु विवश होकर कहना पड़ता है कि है यह पूँजीवादी संस्कारों में पले मन की भावना। हम नहीं समझते कि कोई भी नारी इस ढंग से सोचती है। और यदि वह सोचती भी है तो यह उसका स्वतंत्र चिंतन नहीं है। उसमें एक अस्वस्थ प्रथा में पले उसकी मा और उसकी मातामही आदि के संस्कार सम्मिलित हैं। जैसे नाटक के किसी पात्र को नाटककार वाणी दे देता है, वैसे ही यहाँ नारी नहीं बोल रही, पंत जी जैसा चाहते हैं वैसे नारी उनके शब्द रट कर बोल रही है। यह जानकर बड़ी पीड़ा होती है कि आदि नारी को पन्त ने स्वतंत्र भाव से बोलने का अवसर नहीं दिया। मैं यह तो नहीं कहता कि जब कवि काव्य-सृजन में लीन होता है तो सदैव तार्किक या आलोचक के समान सोचता है; परन्तु यह रचना भावपूर्ण होने पर भी है एक विचार धारा का प्रतीक। आज के विकास-युग में और विशेष रूप से जब पन्त जी की ख्याति विकासवादी कवि के रूप में है तब उन्हें कोई स्वस्थ दृष्टिकोण ही उपस्थित करना था। प्राचीन संत कवियों ने नारी को जो अनेक निंद्य विशेषणों से पुकारा उसमें और पन्त जी की निम्न पंक्ति में क्या मौलिक भेद है, यह वे बता सकेंगे ?

पापों अभिशापों की थी घर !

मानसी

मानसी एक रूपक है जिसके द्वारा कवि ने यह विचार स्थिर करने का प्रयत्न किया है कि नर-नारी के बीच प्रेम का कैसा संबन्ध रहना चाहिये। यह सात दृश्यों का एक पद्य-बद्ध एकांकी नाट्य रूपक है। इसके पात्र हैं नव युवक और नव युवतियाँ। नव युवतियों में गोपियाँ, भिक्षुणियाँ और आधुनिकायें भी हैं। इनके अतिरिक्त पिक और चातक का भी मिलन-भोग और विरह-त्याग के प्रतीक के रूप में समावेश कराया गया है।

प्रथम दृश्य में एक नवयुवक कोकिल (नवयुवती) से नव प्रणय गान गाने की याचना करता है। इस पर वह कोकिल यौवन अमराई की कोमलता का वर्णन करती हुई बतलाती है कि प्रेम शाप से ग्रस्त एक शब्द है। नारी कोमलता का प्रतीक है, पर प्रणय से विरह लिपटा है, व्यथा लिपटी है। इस पर युवक कहता है तो तुम ताप शाप से सुरक्षित रहो और अपने प्रिय का मोह भुलाकर जीवन के जिस पथ से तुम्हें जाना हो जाओ; पर तुम किसी प्रकार दुखी न हो। नवयुवती कहती है यह ता तुमने अच्छी बात कही; परन्तु प्रणय के आवेग को कोई रोक पावे तब न। वह तो मन का स्वभाव है। उसे दबाना कठिन काम है। अतः प्रणय के लिए ना तो मैं नहीं करती। उसके कष्ट भी सहन कर लूँगी। पर मैं तुमसे इतना चाहती हूँ कि मुझे ठीक रास्ते पर डाल दो। युवक नारी की कोमलता का ध्यान कर उसे फिर एक बार सोचने का अवसर देता है। कहता है : तुम्हारे चरण हैं फूलों के और हमारा पथ है काँटों भरा। प्रेम करने को किसका मन नहीं लुभाता, पर सोच लो इसमें ताप ही ताप है; अतः तुम अपना सुख विसर्जन करने को क्यों कटिबद्ध हो गई हो। मैं अब भी समझाता हूँ कि इस पथ पर न चलो। पीछे लौट जाओ।

पहला दृश्य यहीं समाप्त हो जाता है।

दूसरे दृश्य के प्रारम्भ में पपीहा पुकारता है; पी कहाँ, पी कहाँ ! प्रेम की महत्ता का प्रतिपादन करता हुआ वह गाता है कि प्रेम के बिना जीवन अधूरा है, क्षुद्र है, सूना है, नीरस है। प्रेमामृत का पान कर मर्त्य अमर हो जाते हैं। यह गायन उद्बोधन का काम करता है और युवक को इस बात पर विवश करता है कि वह नारी से लौट आने की प्रार्थना करे। पुरुष की पुकार पर नारी आती है और अपने स्वरूप और शक्ति का वर्णन करती हुई कहती है कि इस बार मैं नवीन शक्ति के साथ आऊँगी।

तीसरे दृश्य में नारी को कई वर्गों में विभाजित किया गया है। एक प्रकार की नारियाँ वे हैं जो घर की चहार-दीवारी में बन्द रहती हैं। गृह दासियों से अधिक उनकी स्थिति नहीं। घूँघट खींचे रहती हैं। घर से बाहर निकलते ही छुई मुई-सी कुम्हलाने लगती हैं। अशिक्षा कलह और अज्ञान का घर हैं। नारियों का दूसरा रूप है ब्रज की गोपियाँ। उन्होंने मुरली की पुकार पर घर-द्वार, काम-काज, पुरुजन-परिजन, लज्जा-भय, धर्म-मर्यादा सब का परित्याग कर अपने तन मन प्राण मधुर भाव की उपासना के लिये न्योछावर कर दिये थे। नारी का तीसरा रूप है भिक्षुणियाँ। इन्होंने इच्छा को दुःख का कारण मान उसे कुचल दिया और रोग शोक और मृत्यु के मायात्मक जगत से विरक्त हो सेवा और त्याग को बुद्ध धर्म और संघ की शरण में जाकर अपनाया।

चौथे दृश्य के प्रारम्भ होते ही नेपथ्य से एक गीत सुनाई देता है जिसमें यह कहा गया है कि आसक्ति और विरक्ति दोनों में कोई अकेली सत्य नहीं है। न केवल आसक्ति से काम चल सकता है और न विरक्ति से। रति और विरति दो कूल हैं जिनमें होकर जीवन की धारा बहती है। निश्चित रूप से कवि यह कहना चाहता है कि एक ओर गोपियों का जीवन यदि घोर आसक्ति का जीवन था तो दूसरी ओर भिक्षुणियों का चरम विरक्ति का। ये दोनों ही जीवन के दो छोर थे और अपने में अपूर्ण थे।

इसके उपरांत कवि एक बार फिर आधुनिका की ओर मुड़ता है और जैसा उसका स्वभाव रहा है अनेक दोष दिखलाते हुये उसकी निंदा करता है।

उसका विश्वास है कि उसमें केवल शरीर की सुन्दरता है, हृदय की गरिमा नहीं।

पाँचवें दृश्य में केवल दो नेपथ्य गीत हैं। पहले गीत में शारदा से प्रार्थना की गई है कि वह जगत में नव नारी को अवतार दे। दूसरे गीत में उसने वह प्रार्थना स्वीकार कर ली है और आश्वासन दिया है कि प्राणियों के हृदयों में प्रवेश कर वह उन्हें परिवर्तित कर रही है। अतः आशा करनी चाहिये कि आगे के दृश्यों में हम नव नारी और नव पुरुष के दर्शन कर सकेंगे।

छठे दृश्य में नवीन नारी के अवतरण के साथ साथ कवि की कल्पना के अनुसार प्रकृति के कण कण में मधुरिमा छा जाती हैं और पृथ्वी पर स्वर्ग उतर आता है। पंत जी का कहना है कि नारी शरीर नहीं है, केवल हृदय है।

सातवें दृश्य में जीवन का आदर्श बतलाया गया है 'श्रम'। वहाँ समझाया गया है कि नरनारी के प्रणय की सार्थकता इस बात में है कि वे स्वर्ग की चिंता छोड़, धरती से अनुराग करना सीखें और श्रमिक बनकर पृथ्वी की युग युग की अस्वच्छता को दूर करें। अन्त में मंगल-कामना में इस गीति-नाट्य का अन्त होता है।

मानसी के कुछ विशिष्ट प्रभावशाली अंशों को हम नीचे उद्धृत करते हैं :

(१)

निखिल नायिका ललाम
हम ब्रज की रहीं वाम,
प्रीति रीति में प्रकाम,
बिकीं बँधी बिना दाम

मधुर भाव में अकाम,
राधे श्याम, राधे श्याम ?

कौन आज यह कुमार
करता फिर से प्रचार,
किसलिए कुलीन नार
करे फिर धराभिसार ?

ऐसा वह कौन काम
राधे श्याम, राधे श्याम !

(२)

बुद्ध की शरण
धर्म की शरण,
संघ की शरण !

इच्छा मानव दुख का कारण,
इच्छा का यदि करें निवारण,
तो जग जीवन हो फिर पावन
चिर निर्वाण मिले भव तारण !
सेवा ही हो जीवन का व्रत,
जीवन ही में हो जीवन रत
सेवा हित जो हो मस्तक नत
बोधिसत्व के मिलें शुचि चरण
बुद्ध की शरण,...

(३)

आसक्ति विरक्ति अकेले ही घूंघट पट नहीं उठायेंगी,
जो निरत हुए पछताओगे, जो विरत हुए क्या पाओगे ?
रति और विरति के पुलिनों से बहती जीवन रस की धारा
रति से रस लोगे और विरति से रस का मूल्य लगाओगे

(४)

प्रिय मैं उतर धरा पर आई ?

(५)

पुष्पों की श्री का तन शोभन
बना प्रीति का पुण्य निकेतन,

Library Sri Pratap College Srinagar

आज शांत उसका आकर्षण
आलोकित उसका उद्दीपन ?
नारी अब न देह अवगुंठन
केवल हृदय, हृदय वह मोहन,
अब वसुधा पर होगा स्वर्गिक
भावों के पुष्पों का वर्षन !

(६)

धिक्, हम कैसे प्रेम पथिक !
प्रीति सूत्र में बँध कर जो हम
बन सकते भू के न श्रमिक !
आओ, भू को आज बुहारें
युग युग का अघ कर्दम झारें,
जीवन का गृह प्रथम सँवारें
जन श्रम से शोभित हों दिक् !
पिया नहीं जो जीवन मधु दुख,
मिला न जो भू रचना में सुख,
तो क्यों नर नारी हों उन्मुख,
युग्म प्रीति के रिक्त रसिक !

(७)

प्रतीत प्रीति प्राण में,
चरण धरो, चरण धरो,
लिए हो हाथ हाथ में,
न तुम डरो, न तुम डरो !
न रक्त पात युद्ध हो,
न ऊर्ध्व शक्ति रुद्ध हो,
मनुष्य शुद्ध बुद्ध हो,

विदेह मन न क्रुद्ध हो,
अभय अमर हो मृत्यु
आज साथ-साथ जो मरो ?

क्षुधार्त रे असंख्य प्राण,
नग्न देह, बुद्धि म्लान,
रोग व्याधि से न त्राण, निश्चय लो आज जान,
तुम प्रथम मनुष्य हो, न युग्म मात्र स्त्री नरो।

विनम्र शिष्ट निरभिमान
पुरुष नारि हों समान
प्रीति प्राण, मुक्त ज्ञान, युक्त कला नृत्य गान,
स्वर्ग तुल्य हो धरा, जघन्य रूढ़ियो झरो !

मानसी को पढ़कर हमें पंत जी के एक और बड़े रूपक—ज्योत्स्ना—की याद आती है। ज्योत्स्ना पाँच पूर्ण अंकों का रूपक है; अतः उसका पट मानसी की अपेक्षा बहुत विस्तीर्ण है। मानसी में केवल एक समस्या है—प्रेम की ; परन्तु ज्योत्स्ना में कवि ने जीवन के आर्थिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक और भावात्मक अनेक पक्षों पर अत्यंत गंभीरतापूर्वक विचार किया है। सन् १९३४ से ही जब ज्योत्स्ना का प्रकाशन हुआ कवि जगत और जीवन की समस्याओं पर विचार कर रहा है। विचार के लिए कविता से नाटक का माध्यम ही अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है। विचारों की अभिव्यक्ति गद्य में जिस शक्ति, स्पष्टता और विस्तार के साथ हो सकती है, पद्य में नहीं। पश्चिम में इब्सन और बर्नार्ड शा ने यह काम किया है और वे अपने क्षेत्रों में सफल हुए हैं। गद्य को जब नाटकीय तत्त्व प्राप्त हो जाते हैं तो उससे अधिक प्रभविष्णुता और प्रेषणीयता की आशा की जा सकती है। यद्यपि हम यह कहने को बाध्य हैं कि ज्योत्स्ना का गद्य नाटक का गद्य नहीं है। वह एक ऐसे व्यक्ति के हाथ से लिखा गया है जो पहिले कवि है, बाद में गद्य-लेखक। उसमें काव्य गुणों और कल्पना का गहरा पुट है। नाटक का वह स्वाभाविक

गद्य नहीं। फिर भी कवि की सद्भावना में अविश्वास नहीं किया जा सकता। वह नव-युग को पृथ्वी पर उतार लाने के लिए आकुल है।

ज्योत्स्ना और मानसी में कई बातों की आंशिक समता है। ज्योत्स्ना में जैसे कवि संसार की वर्तमान स्थिति से असंतुष्ट है, मानसी में वैसे ही स्त्री पुरुष के बीच प्रेम व्यापार का जो ढंग है वह उसे अपूर्ण प्रतीत होता है। शैलीगत समानता यह है कि जैसे स्वप्न और कल्पना सुप्त मानव के मनोजगत में प्रवेश कर उनके हृदय को ही बदल देते हैं और पहला प्रभात फिर नव युग का प्रभात होता है; इसी प्रकार मानसी में शारदा मानव के उर में प्रवेश कर नवीन जीवन लाती है। साथ ही ज्योत्स्ना का अंत जैसे नृत्य गीत आनन्द में होता है उसी प्रकार मानसी का अंत भी हर्षोल्लास पूर्ण है।

मानसी में चार प्रकार की नारियों पर कवि की दृष्टि पड़ी है (१) रूढ़ि-वादिनी (२) गोपी (३) भिक्षुणी (४) आधुनिका। गोपी और भिक्षुणी को जीवन की दो सीमाओं का नाम दिया है। इन दोनों—भोग और त्याग—के बीच ही जीवन को ठहराना होगा। वैसे कवि का काम इन्हीं दो से चल सकता था। यों भारतीय नारियाँ केवल इन्हीं वर्गीकरणों के अंतर्गत नहीं समा सकतीं। उदाहरण के लिए सीता, सावित्री, भारती, राज्यश्री, पद्मावती, दुर्गावती, लक्ष्मीबाई आदि इन कोटियों में से किसी में नहीं आतीं। इनमें से कुछ का नाम स्वयं कवि ने एक स्थान पर लिया है। रूढ़िवादिनी तो निश्चित रूप से जीवन का आदर्श नहीं हो सकती। परन्तु ऐसा लगता है कि आधु-निका पर कवि ने फिर अकारण आक्रमण किया है। उस प्रसंग को रूपक से निकाल दें तब भी भाव-विकास में कोई अंतर नहीं आता। कवि ने आधुनिका को संभवतः इस दृष्टि से लिया है कि लाओ इसे परख कर देखें, यह जीवन का आदर्श हो सकती है या नहीं। पर कवि ने जो उसका चित्र अंकित किया है वह सत्य से दूर है। बतलाइए आपने ऐसी स्त्रियाँ कितनी देखी हैं?

धर हाथ पकड़ लेतीं हम मन
मिलती सबसे खुल के गोपन...

आधुनिक नारी शायद ही इतनी संयमहीन और निर्लज्ज हो। हमारा तो

यही विश्वास है कि हाथ पकड़ने वाली नारी भी सबका हाथ नहीं पकड़ती, शिक्षित नारी की तो दूसरी बात है।

मानसी के अंत में जो स्त्री पुरुषों को श्रमिक बना दिया गया है उससे यह भ्रम न होना चाहिए कि वे किसी समाजवादी देश के बलिष्ठ श्रमिक हैं। नारी के शरीर के लिए वहाँ पन्त जी ने लिखा है 'पुष्पों की श्री का तन शोभन।' ऐसे कोमल प्राणियों से श्रम की आशा करना व्यर्थ ही होगा। कवि ने जो नवीन सृष्टि की है वहाँ सब कुछ सुन्दर, सब कुछ कोमल, सब कुछ ऊर्ध्वगामी है। कल्पना को निस्संदेह बड़ी रम्य है!

———

व्यक्तिगत

पंत जी की रचनाओं से उनके जीवन की बहुत-सी बातों का पता चलत है। प्राचीन काल के कवियों में भी कबीर, जायसी, सूर तुलसी, केशव बिहारी आदि ने अपना थोड़ा-बहुत परिचय दिया है। साधारण रूप से कोई व्यक्ति मुक्तक या प्रबंध की रचना केवल अपने जीवन पर प्रकाश डालने के लिए नहीं करता; अतः कविता लिखना जीवनी लिखना नहीं है। फिर भी आज के युग में जब कि व्यक्ति-परक रचनाओं की भरमार हो रही है, यह असंभव-सा ही है कि कवि अपने संबंध में चुप रहे।

पंत जी अपनी आत्म-कथा संभवतः स्वयं लिख रहे हैं और वही उनकी सब से प्रामाणिक जीवनी होगी। फिर भी उनके काव्य-ग्रंथों से उनके संबंध में थोड़े से तथ्यों का चयन किया जा सकता है।

पुस्तकों का समर्पण डा० अमरनाथ झा, डा० नीलाम्बर जोशी, महारानी कालाकाँकर, श्री देवीदत्त पन्त, सुश्री सोमा, निराला जी, दिनकर नरेन्द्र शर्मा और बच्चन आदि को किया गया है। इससे उनके कुछ हितैषियों, संबंधियों और मित्रों का पता चलता है। उन्होंने कुछ महान् व्यक्तियों पर कविताएँ भी लिखी हैं। इनमें मार्क्स, महात्मा गांधी और श्री अरविंद आदि सम्मिलित हैं। इनके उदात्त विचारों से पन्त जी का काव्य अनुप्राणित और प्रभावित रहा है। इसके अतिरिक्त उन्होंने कुछ विशिष्ट व्यक्तियों के प्रति अपनी श्रद्धांजलि अर्पित की है जैसे जवाहरलाल नेहरू, सरदार पटेल, रवीन्द्रनाथ टाकुर, महावीरप्रसाद द्विवेदी, मैथिलीशरण गुप्त आदि। ये सब इस युग की विशेष राजनीतिक एवं साहित्यिक विभूतियाँ हैं। मेरी समझ में सब कुछ आया है; पर उन्होंने एक प्रेस के जनरल मैनेजर की मृत्यु पर जो कविता लिखी है, वह मेरी समझ में नहीं आई।

यों कविता किसी भी विषय और व्यक्ति पर लिखी जा सकती है। उसके

लिए कोई रोक नहीं है। और यदि हमारे व्यक्तिगत संबंध अच्छे रहे हैं, तो किसी प्रकाशन-संस्था का जनरल-मैनेजर ही इसका अपवाद क्यों हो; फिर भी इस संबंध में सीमारेखा कहीं खींचनी होगी, ऐसा मुझे लगता है। पन्त जी अपने कोमल और स्नेहशील स्वभाव के कारण सब के लिए एक-से विशेषणों का प्रयोग करते हैं; अतः कुछ पंक्तियाँ यदि निकाल दी जायँ तो एक रचना और दूसरी रचना में बहुत अंतर नहीं प्रतीत होता। जैसा उन्होंने इस रचना में लिखा है, संभव है उनका हृदय इस मृत्यु से व्यथा-निमज्जित हुआ हो; पर न जाने क्यों पाठक पर वैसा प्रभाव नहीं पड़ता। हो सकता है कि यह व्यक्तित्व एक सीमित और निजी क्षेत्र में प्रेरणा का विषय रहा हो; पर जनसाधारण से उसका कोई संबंध नहीं है। मैं समझता हूँ यह रचना कुछ लोगों के विशेष आग्रह पर ही विशेषांक की शोभा के लिए लिखी गई है। ऐसे आग्रह के और भी अवसर पन्त जी के जीवन में आ सकते हैं। हम आशा करते हैं कि अपनी प्रतिभा का उपयोग इस प्रकार के विरुद-गान के लिए वे नहीं करेंगे।

इसके विपरीत 'अतिमा' में एक अत्यंत मधुर रचना पन्त जी के अपने जन्म-दिवस पर है। इसे अपने पचपनवें वर्ष के प्रारंभ में उन्होंने लिखा है। आशा ऐसी की जाती थी कि इसमें वे पिछले चौवन वर्ष के अपने सुख-दुख के अनुभवों की चर्चा करेंगे; संभवतः देश की अर्द्ध शताब्दी के राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक और सांस्कृतिक विकास पर अपनी मानसिक प्रतिक्रिया का परिचय देंगे; हो सका तो इस प्रौढ़ावस्था में जीवनानुभूति से मथे कुछ ऐसे प्रौढ़ और मौलिक विचार पाठकों के सामने रखेंगे जिनमें लोक-कल्याण की भावना भरी होगी। पर इस रचना में पन्त जी ने ऐसा कुछ नहीं किया। यहाँ तो उन्होंने अपने जन्म-काल की परिस्थितियों तक ही अपने को सीमित रखा है। इस रचना में उन्होंने दो शताब्दियों की संधि, मा के बिछोह और प्रकृति की विराट उदार छाया में जाने, घर की सम्पन्न स्थिति, जन्म-स्थान के प्राकृतिक सौंदर्य एवं पहाड़ी-प्रांत के मुक्त रोमांस का सफल वर्णन किया है। पन्त जी के गाँव का छैला 'हरी तलैटी' में घास छीलती हुई एक परकीया से क्या कह सकता है, वह सुनिए—

बिजली बसती घन में,
आग लगा दी खिल बुरूस ने वन में, तूने तन में!
महँदी पिसती सिल में,
तू न देख पाए, तेरी ही रंगत टूटे दिल में!
मन उड़ता पाँखों में
सुवा घूमता वन-वन, तू घूमा करती आँखों में!
साँझ हुई आँगन में,
तुझे देख कैसे बतलाऊँ क्या हो जाता मन में!
बदली छाई दिन में,
नई उमर की बाढ़ नवेली उतर जायगी छिन में!

कुछ दिनों से पन्त जी के संबंध में उनके पाठकों और समीक्षकों दोनों की यह सामान्य धारणा बनता जा रही है कि उनका इधर का वह काव्य जिस पर अरविंदवाद का प्रभाव है उनकी शक्ति के ह्रास का परिचायक है, साथ ही वह बहुत स्पष्ट भी नहीं है। अच्छा हो कि पन्त जी अपनी दिशा अब बदल दें। ऐसा लोग 'स्वर्ण-किरण' के प्रकाशन के प्रारंभ से ही अनुभव करने लगे हैं। दूसरी ओर पंत जी अरविंद-दर्शन से इतने अधिक प्रभावित हैं कि स्वर्ण किरण, स्वर्ण धूलि, उत्तरा, रजत शिखर और शिल्पी को पार करता हुआ वह प्रभाव अतिमा में भी व्याप्त है और पता नहीं इसका अंत कब होगा! स्थिति यह है कि जैसे-जैसे आलोचक उनके काव्य में शक्ति की क्षीणता की ओर इंगित करते हैं, वैसे ही वैसे वे और अधिक आग्रह के साथ इस वाद की महत्ता की घोषणा करने चले जाते हैं। अरविंदवाद से प्रभावित काव्य की विस्तृत चर्चा अन्यत्र होगी; पर समीक्षकों की धारणाओं की प्रतिक्रिया-स्वरूप जहाँ उन्होंने कुछ व्यक्तिगत ढंग की रचनाएँ लिखी हैं; उनमें तीन विशेषताएँ स्पष्ट रूप से उभर कर आई हैं—

(१) पंत जी संघर्ष-प्रिय कभी नहीं थे; अब और अंतर्मुखी होते चले जा रहे हैं।

(२) वर्तमान से अधिक उन्हें भविष्य की चिंता अब सताने लगी है। वे अब भविष्यवादी बन गए हैं।

(३) जीवन की मर्म-छवियों से हृदयों को आंदोलित न कर अब वे उपदेश देने लगे हैं और अपने सिद्धान्तों के प्रति पाठकों से श्रद्धा की माँग करते हैं।

ये तथ्य 'अतिमा' में प्रकाशित 'नव अरुणोदय,' 'गीतों का दर्पण,' 'आत्म निवेदन' आदि रचनाओं से स्पष्ट होते हैं। कुछ पंक्तियाँ देखिए—

(१) मेरा पंथ नहीं मैं कातर
ज्योति क्षितिज निज खोजूं बाहर
रहा देखता भीतर, अब क्या
तथ्यों का कटु तम लिपटाऊँ!

—नव अरुणोदय

(२) यदि मरणोन्मुख वर्तमान से
ऊब गया हो कटु मन,
उठते हों न निराश लौह पग
रुद्ध श्वास हो जीवन!
तो मेरे गीतों में देखो
नव भविष्य की झाँकी,
निःस्वर शिखरों पर उड़ता
गाता सोने का पाँखी!

—गीतों का दर्पण

(३) मैं तर्कों वादों में विरमा,
बौद्धिक सोपानों पर बिलमा
भटका कभी न रिक्त शून्य में
जन धरणी पर करता विचरण!

—आत्म निवेदन

हमारी दृष्टि से व्यक्ति विशेष के लिए ही शायद यह संभव हो जैसा पन्त जी के लिए रहा है कि वह 'तथ्यों के कटु तम' से बच जाय; लेकिन इससे 'तथ्यों का कटु तम' नष्ट नहीं हो जाता। संसार के लिए तो वह बना ही हुआ है। दूसरे उद्धरण में वर्तमान से कतराकर भविष्य के स्वप्नों में व्यक्ति को उलझाते वे पाये जाते हैं। तीसरे पद्यखंड में जो उन्होंने यह कहा है कि मैं जन-धरणी पर विचरण करता रहा हूँ और कभी रिक्त-शून्य में नहीं भटका, इस पर शायद ही कोई विश्वास कर सके। कल्पनाशील और स्वप्नशील होने के कारण 'जन' और 'धरणी' दोनों से उनका बहुत कम संबंध रहा है—नाम मात्र का। और जब से अरविंदवाद के प्रभाव में आकर वे अंतर्मुखी कलाकार बन गए हैं, तब से तो न जाने कहाँ भटक रहे हैं!

———

महापुरुषों के प्रति

पन्त जी ने अपनी रचनाओं में कई क्षेत्रों के व्यक्तियों के प्रति अपनी भावनाओं का अर्घ्य चढ़ाया है।

(१) पौराणिक महापुरुष—भगवान राम, लक्ष्मण

(२) राजनीतिज्ञ—महात्मा गांधी, जवाहरलाल नेहरू

(३) दार्शनिक—कार्ल मार्क्स, अरविंद घोष

(४) कलाकार—अवनीन्द्रनाथ ठाकुर

(५) कवि—रवीन्द्रनाथ ठाकुर, मैथिलीशरण गुप्त, सूर्यकांत त्रिपाठी निराला, महादेवी

(६) साहित्य-सुधारक—महावीरप्रसाद द्विवेदी।

सभी व्यक्तियों में वाह्य दृष्टि से चाहे कुछ बातों में समानता हो, परन्तु अंतर को लेकर एक व्यक्ति और दूसरे व्यक्ति में बहुत अंतर होता है। हाथ पैर आँख की समानता की ओर इंगित कर देना जितना सहज है, मन बुद्धि आत्मा के विकास की समानता की ओर नहीं। व्यक्ति का अंग ससीम है और अंतःकरण असीम। अतः अंतःकरण के गुण अवगुणों के भेद पर ही अच्छे बुरे, तुच्छ महान् का अंतर प्रारंभ हुआ। अपने से बड़े के प्रति श्रद्धा हिंदुओं का जातीय गुण है। श्रद्धा का निवास शुद्ध, निर्मल और अहंकार-हीन हृदयों में ही संभव है। जो अपने अहं में इतना लीन रहता है कि अपने से बड़ा किसी को समझता ही नहीं या जिसकी दृष्टि में सब छोटे ही बन कर आते हैं, वह बड़ा असामाजिक प्राणी है। समाज में रहने योग्य वह नहीं।

श्रद्धा से कुछ निचले स्तर पर और उससे कुछ कम गहरा प्रशंसा का मनोभाव होता है। यह मनोभाव अपने बराबर वाले के प्रति भी या अपने से छोटे ऐसे व्यक्ति के प्रति भी हो सकता है जिसने कोई विशेष काम किया हो।

श्रद्धास्पद या प्रशंसनीय दोनों प्रकार के व्यक्तियों में एक बात समान रूप

से पाई जाती है और वह यह कि जीवन में उनके कर्म ऐसे होते हैं जिनसे समाज का किसी न किसी रूप में हित होता है। अपने कर्म के मंगलमय पक्ष के कारण ही वे वंदनीय या स्मरणीय होते हैं।

भगवान राम

'मर्यादा पुरुषोत्तम राम' शीर्षक रचना में राम के कर्मों की व्याख्या पन्त जी ने अपने ढंग से की है। इसमें रावण, समुद्र, राक्षस, वानर और ऋक्ष आदि की व्याख्या दूसरे ही प्रकार से हुई है। इस व्याख्या को रूपक-व्याख्या या दार्शनिक व्याख्या कह सकते हैं।

पन्त जी के अनुसार राम के आविर्भाव से पूर्व प्राणियों का जीवन बहिर्मुखी था। दशों दिशाओं में अंधकार छाया था। ये रावण के दश सिर समझिए। जीवन का अंतर इस तम से आच्छादित था। आहार, मैथुन, निद्रा को ही लेकर प्राणी रह रहे थे। वे जंतु मात्र थे, मनोजीवी नहीं थे। यह राक्षस, वानर और रीछों अर्थात् बनजीवी पशुजीवी मनुज की व्याख्या है। मनुष्य अभी मनोजीवी नहीं बना था।

सदाचार की दिव्य शुभ्र आभा से मंडित रजत-पुरुष राम के अवतीर्ण होते ही जीवन का तम स्वभावतः मिट गया। प्राणों के असंयमी सागर पर मर्यादा का चिरंतन सेतु बाँधा गया। चेतना के तीर से बहिर्मुखी जीवन के दश शीशों को धराशायी कर, पृथ्वी के तम को चीर वैदेही सी मनश्चेतना को मुक्त किया गया। इस प्रकार प्रथम बार जीवन का नवीन मान अर्थात् वासना को संयमित करने का पाठ संसार ने पढ़ा!

परन्तु त्रेता में राम का काम अपूर्ण ही रह गया। उसकी पूर्ति हुई द्वापर में। तब मर्यादा के पुलिनों में जीवन का ज्वार उठा और प्राणी सौंदर्य, प्रेम और रस से परिचित हुए।

कवि देखता है आज जीवन श्रीहीन, सौंदर्यहीन एवं चेतनाहीन हो रहा है, अतः भगवान से प्रार्थना करता है कि आज वे मनुष्य के मन के और गहरे पटलों अर्थात् उपचेतन और अवचेतन को प्रस्फुटित करें जिससे वह अधिक व्यापक और ऊर्ध्वगामी बने।

भगवान राम को लेकर 'आवाहन' नाम की एक और रचना है जिसमें अहल्या, स्वयंवर के चाप, कैकेयी, पंचवटी, कंचन मृग, लक्ष्मण की रेखा, रावण, जटायु, बाली, समुद्र, सेतु, लक्ष्मण, मेघनाद, हनुमान, कुंभकर्ण, रावण, वैदेही, राज्यारोहण आदि के और ही अर्थ लिए गए है। पता नहीं हिंदी में यह अध्यात्मरामायण लिखने का नीरस और श्रमसाध्य भार इस सरस कवि ने क्यों स्वीकार किया है ?

लक्ष्मण

सभी कवियों के सामने सामग्री एक ही है—यह जगत् और उसमें खेलता जीवन। परन्तु प्रत्येक कवि अपनी-अपनी भावना के अनुसार वर्ण्य-विषय की व्याख्या करता है। मनुष्य की चेतना का विकास हो, जबसे यह धारणा पंत जी के हृदय में घर कर गई है, तब से अपने लक्ष्य की सिद्धि के लिए वे बहुत सी बातों को अपने मन के अनुकूल मोड़ लेते हैं। एक तुलसी के लक्ष्मण हैं, दूसरे मैथिलीशरण के और तीसरे पंत जी के और बहुत संभव है आगे चलकर लक्ष्मण की कोई प्रगतिवादी व्याख्या भी हो!

पंत जी का कहना है कि राम तो ईश्वर हैं, उन्हें तो प्रणाम करते ही बनता है; परन्तु लक्ष्मण हैं मानव और उनकी मानवता ऐसी है जिस पर ईश्वरत्व न्यौछावर किया जा सकता है। लक्ष्मण के गुण कवि ने बतलाए हैं : वे आत्म-निर्भर थे, वीर थे। धनुर्धारी का अर्थ उसने यह लिया है कि 'अहं' के धनु को झुका सेवा के 'शर' को उस पर उन्होंने रखा था अर्थात् मानव का अर्थ अहंकारहीन सेवापरायण व्यक्ति हुआ। इसी से उर्मिला के लिये कवि ने सेवा-भावना कहा है जो उसकी (मानव की) प्रिया है।

लक्ष्मण को माना मानव का प्रतीक। मानव का अर्थ किया वह प्राणी जिसका जीवन लोक-सेवा के लिये हो। इस लोक-सेवा से लोक-मंगल होता है। सेवा शब्द की व्याख्या करते हुये कवि ने एक बहुत ही सुन्दर बात कही है और वह यह कि 'सेवा' को मनुष्य 'कर्तव्य' का भी नाम न दे। कर्तव्य कहने से एक आरोप या बोझ का भान होता है। अतः उसे एक स्वाभाविक भावना के रूप में ग्रहण करना चाहिये। देखिये :—

Library Sri Pratap Co
Srinagar.

वह सेवा कर्तव्य नहीं है,
वह भीतर से स्वतः बही है,
हार्दिकता की सरित वही है,
जिससे निश्चित हरित मही है !
—स्वर्ण धूलि

महात्मा गांधी

महापुरुषों में अभी तक सुमित्रानंदन पंत ने महात्मा गांधी पर सबसे अधिक लिखा है। 'युगांत', 'युगवाणी', 'ग्राम्या'', 'स्वर्ण किरण' और सबसे अधिक 'युगांतर' में उन्होंने गांधी जी को अपनी भावना का आधार बनाया। गांधी जी को कहीं उन्होंने महात्मा जी के नाम से पुकारा है, कहीं बापू कहकर संबोधन किया है। बापू वाली रचनाओं में निश्चित रूप से अधिक आत्मीयता और गहरी भावना की झलक है। इन रचनाओं में महात्मा गांधी को कई दृष्टियों से देखा गया है।

(१) विलक्षण व्यक्ति के रूप में।
(२) लोक हितकारक के रूप में।
(३) नवीन संस्कृति के संस्थापक के रूप में।

महात्मा गांधी से जिस समय कवि आकर्षित हुआ, उस समय उनकी वृद्धावस्था थी। अतः उन्हें 'अस्थिशेष' कहना उचित ही हुआ है। ऐसी अवस्था में काम कहाँ रहता है ! गांधी जी तो यौवनकाल से ही 'भस्मकाम' थे। वे बहुत कम कपड़े पहनते थे, अतः 'नग्न' बतलाना अनुचित नहीं। चौथे उन्हें 'निरस्त्र' कहा है। एक स्थान पर उनके चर्खा कातने की बात उठाई है। यह उनका बाह्य वर्णन हुआ।

इसके उपरांत उनके कर्मों की चर्चा है। संसार में प्रत्येक मनुष्य सुख भोगने के लिये आता है, परन्तु महात्मा गांधी सत्य की खोज करने के लिये आए। शताब्दियों के दैन्य और अज्ञान की कपास को धुन कर हृदय के चरखे में प्रकाश के सूत को कात सत्य और अहिंसा के ताने-बाने से मानवता की चादर उन्होंने बुनी और स्वयं चाहे अधिक न पहना; पर मनुष्य की नग्न पशुता

को उन्होंने ढक दिया। हिंसा को अहिंसा और जड़ता को चेतना में उन्होंने परिवर्तित किया। निरस्त्रों के हाथ में 'सत्याग्रह' का उन्होंने अमोघ अस्त्र दिया। खद्दर का प्रचार कर उन्होंने देश के धन को देश में रोका, दरिद्र श्रमिकों की रोटी लौटाई और यंत्र-कौशल को बहुत बड़ी सीमा तक विफल किया। हिंसा-भावना से अंधी बन जिस समय एक जाति ने दूसरी जाति पर अमानुषिक अत्याचार किये उस समय वे उस आग में शांति के चरण रखते हुये नोआखाली गए। और अंत में साम्राज्यवाद के बंधन से देश को मुक्त किया। वे व्यक्ति होकर भी शुद्ध आत्मामात्र, नग्न होकर भी सच की नग्नता को ढकने वाले, अनासक्त रहकर भी विश्व के प्रति अनुरक्त रहने वाले, अलौकिक होकर भी लौकिकता को जीवित रखने वाले थे! महात्मा गांधी सत्य, स्नेह और उदारता के प्रतीक थे। मानवता की विराट मूर्ति थे वे।

पिछली पंक्तियों में उनके व्यक्तित्व के विश्लेषण के साथ उनके लोकहितकारक का कुछ रूप भी आ ही गया है। पन्त जी के कहने का तात्पर्य यह है कि महात्मा गांधी ने लोकहित की दृष्टि से सबसे उल्लेखनीय काम यह किया कि उन्होंने अत्याचार का सामना करने के लिये लोक को एक नवीन अस्त्र दिया और वह अस्त्र था उनमें आत्म-बल विकसित करना। संघर्ष का रूप ही उन्होंने बदल दिया। घृणा का सामना उन्होंने घृणा से करने को नहीं कहा, प्रेम से करने को कहा। घृणा को प्रेम में बदलने के लिये कहा। परिणाम यह हुआ कि साम्राज्यवाद के विरोध में जनता की जय हुई। 'युगांत' में कवि कहता है—

साम्राज्यवाद था कंस, बंदिनी
मानवता पशुबलाक्रांत,
श्रृंखला दासता, प्रहरी बहु
निर्मम शासन-पद शक्ति-भ्रांत,
कारागृह में दे दिव्य जन्म
मानव आत्मा को मुक्त, कान्त,

जन-शोषण की बढ़ती यमुना
तुमने की नत, पद-प्रणत, शांत !

महात्मा गांधी के व्यक्तित्व का विश्लेषण करते हुए कवि की दृष्टि बहुत गहरी गई है। वह इस बात को स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं कि महात्मा गांधी केवल एक राजनीतिक व्यक्ति थे। महात्मा गांधी का सबके महत्त्वपूर्ण कार्य हुआ सांस्कृतिक क्षेत्र में। कवि ने उन्हें आत्मा का सन्देश-वाहक, मानवता का प्रचारक और भावी संस्कृति का संस्थापक कहा है। महात्मा जी ने सभी प्रकार की संकीर्णताओं से ऊपर उठकर समस्त मानव-जाति को एकता की ओर अग्रसर होने के लिए कहा। देखिए—

(१) जड़ता, हिंसा, स्पर्धा में भर
चेतना, अहिंसा नम्र ओज,
पशुता का पंकज बना दिया
तुमने मानवता का सरोज !

(२) बहु भेद विग्रहों में खोई
ली जीर्ण जाति क्षय से उबार
तुमने प्रकाश को कह प्रकाश
औ' अन्धकार को अन्धकार !

(३) कारा थी संस्कृति विगत, भित्ति
बहु धर्म-जाति-गत रूप-नाम,
बन्दी जग-जीवन, भू विभक्त
विज्ञानमूढ़ जन प्रकृति-काम;

आए तुम मुक्त पुरुष, कहने—
मिथ्या जड़बन्धन, सत्य राम,
नानृतं जयति सत्यं, मा भैः,
जय ज्ञान ज्योति, तुमको प्रणाम !

—बापू के प्रति

'बापू के प्रति' कविता युगांत के अंत में १९३६ में लिखी गई और उस समय से अब तक किसी न किसी रूप में कवि उनके व्यक्तित्व से प्रभावित रहा है। युगांत के उपरांत 'युगवाणी' में पहली रचना ही बापू पर है। युगवाणी के उपरांत प्रकाशित हुई 'ग्राम्या।' उसमें भी 'महात्मा जी के प्रति' और 'बापू' उनकी दो रचनाएँ हैं। 'ग्राम्या' के बाद कवि सात वर्ष के उपरांत अपना मौन 'स्वर्ण-किरण' में भंग करता है। उसमें भी 'नौआखाली के महात्मा के प्रति' एक रचना है। 'युगांतर' में तो बापू के निधन के बाद श्रद्धा के ११ फूल कवि ने उनकी पुण्य स्मृति में चढ़ाए। इस प्रकार अन्य व्यक्तियों से प्रभावित होकर जहाँ कवि ने एकाध रचना लिखी, वहाँ यदि महात्मा जी के प्रति लिखी गई उसकी सब रचनाएँ एकत्र कर दी जायँ तो छोटी-मोटी एक पृथक पुस्तक ही हो जाय।

'युगवाणी' के प्रारंभ में हम कवि को महात्मा जी के प्रति अत्यंत उत्साह-भावना से युक्त पाते हैं। यह वह समय था जब द्वितीय विश्व-युद्ध (१९३९) प्रारंभ हुआ। उस भयंकर संघर्ष में महात्मा जी की शांति की शीतल वाणी के महत्त्व को कवि समझता है और यह बड़ी स्थिर बुद्धि की बात है कि उस घोर निराशा के काल में भी कवि न अपनी आस्था खोता है और न अपनी आशा—

किन तत्वों से गढ़ जाओगे तुम भावी मानव को ?
किस प्रकाश से भर जाओगे इस समरोन्मुख भव को ?
बापू ! तुमसे सुन आत्मा का तेजराशि आह्वान
हँस उठते हैं रोम हर्ष से, पुलकित होते प्राण !
नहीं जानता युग विवर्त में होगा कितना जन क्षय,
पर मनुष्य को सत्य अहिंसा इष्ट रहेंगे निश्चय !
भूतवाद उस स्वर्ग के लिए है केवल सोपान,
जहाँ आत्म दर्शन अनादि से समासीन अम्लान !
नव संस्कृति के दूत ! देवताओं का करने कार्य !
आत्मा के उद्धार के लिए आए तुम अनिवार्य !

—युगवाणी

'ग्राम्या' की दो रचनाओं में से पहली रचना तो अधिकतर प्रशंसात्मक है। अंत में यहाँ तक कह दिया है 'धन्य तुम्हारे श्री चरणों से धरा आज चिर पावन।' परन्तु दूसरी रचना में जो अपेक्षाकृत बहुत छोटी है कवि ने यह प्रश्न उठाया है कि सब प्रकार के साधनों के उपलब्ध होते हुए भी क्या कारण है कि संसार में अशांति है ? उसका उत्तर पंत जी ने बहुत सुन्दर दिया है—

चरमोन्नत जग में जब कि आज विज्ञान ज्ञान,
बहु भौतिक साधन, यंत्र यान, वैभव महान,
सेवक हैं विद्युत वाष्प शक्ति : धन बल नितांत,
फिर क्यों जग में उत्पीड़न ? जीवन यों अशांत ?
मानव ने पाई देश काल पर जय निश्चय,
मानव के पास नहीं मानव का आज हृदय !
चर्वित उसका विज्ञान ज्ञान : वह नहीं पचित :
भौतिक मद से मानव आत्मा हो गई विजित !
है श्लाघ्य मनुज का भौतिक संचय का प्रयास,
मानवी भावना का क्या पर उसमें विकास ?
चाहिए विश्व को आज भाव का नवोन्मेष,
मानव उर में फिर मानवता का हो प्रवेश !

पर क्या कोई ऐसा व्यक्ति है जो भौतिकता और अध्यात्मवाद का पाणि-ग्रहण करा सके ? कवि कहता है—

बापू ! तुम पर हैं आज लगे जग के लोचन,
तुम खोल नहीं जाओगे मानव के बन्धन ?

—ग्राम्या

३० जनवरी १९४८ को देहली के बिड़ला-भवन से प्रार्थना-सभा में जाते हुए नाथूराम गोडसे द्वारा महात्मा गांधी की हत्या मानवता के उज्ज्वलतम प्रतीक की हत्या थी। इस हत्या ने सारे संसार को कुछ देर के लिये शोक-सागर में निमग्न कर दिया। विद्युत्गति से जिस समय यह समाचार फैला,

लोग स्तंभित रह गए और कुछ पलों के लिये लगा जैसे समय की गति ही रुक गई हो।

महात्मा गांधी का निधन-संवाद प्रलय के वज्र सा धरती के हृदय पर गिरकर उसके टुकड़े-टुकड़े कर गया। मनुष्य की स्मृति में शायद ही किसी की मृत्यु पर इतना भारी, इतना मर्म-भेदी और इतना व्यापक शोक मनाया गया हो। जिन मनुष्यों ने अपने पिता की मृत्यु पर भी आँसू न बहाये होंगे, उनके आंसू इस हृदय-विदारक संवाद को सुनकर न रुक सके। गांधी जी के चित्र को देखकर, पत्र-पत्रिकाओं में उनके प्रति संसार भर की श्रद्धाञ्जलियों को पढ़कर, उनके संबंध में अपनी स्मृतियों को दुहरा कर आँसू जैसे थमना ही नहीं जानते थे। सब के मन का सोता ऐसा फूटा कि बाँध स्वीकार ही नहीं करता था। गांधी जी के लिये हमारे हृदय में कितना प्रेम था, यह हमने उन्हें खोकर जाना। उस दिन रुक-रुक कर थोड़ी बूँदा-बाँदी भी हुई। ऐसे महापुरुष की मृत्यु पर प्रकृति आँसू न बहाती, यह कैसे संभव था। लगता है जैसे उस विराट् व्यक्तित्व की आँख मुद जाने पर पृथ्वी के साथ आकाश का भी हृदय फट गया। गांधी जी के प्रेम और अहिंसा के सिद्धान्तों के कारण उनकी तुलना लोग ईसा से करते थे। उनके ईसा होने में एक कसर बाकी थी। वह उस गोली ने पूरी कर दी! हमने उस व्यक्ति को गोली का निशाना बनाया जो सत्य का प्रचारक था, जो अहिंसा का प्रतिपादक था, जो प्रेम का पुजारी था! हमने उस व्यक्ति के प्राण लिए जो दुखियों के आँसू पोंछता था, जो दुर्बलों को अभयदान देता था, जो पीड़ितों का पक्षपाती था! हमने उस व्यक्ति को चिर-निद्रा में सुला दिया जो पृथ्वी की साँस था! हमने उस व्यक्ति को न जीने दिया जिसने हमारी युग-युग की क्रूर शृङ्खलाओं से हमें मुक्त किया, जिसने हमारा सिर ऊँचा किया, जिसने हमें मानवता का पाठ पढ़ाया! जिसने हमें प्रकाश दिया, हमने उसके जीवन-दीप को बुझा दिया! उफ! महाप्रेम का क्या यही प्रतिदान होता है!

पंत के 'श्रद्धा के फूल' में गहरे झाँक कर देखें तो शोक पूरा भरा हुआ है, पर वह एक विचारशील दार्शनिक का शोक है। शोक से अधिक वहाँ

सान्त्वना देने का प्रयत्न है, उस शोक के समुद्र में से उठकर नवीन प्रकाश की रश्मियों को ग्रहण करने की चेतावनी है, दुःख से ऊँचा उठकर दुःख में बड़े बनने की शिक्षा है। एक दृष्टि से यह ठीक भी है। शोक उसके लिये करते हैं जो अधार्मिक हो, जो युद्ध-भूमि से पीठ दिखाकर भाग आया हो! ऐसी निर्मल विभूति के लिए जो हृदय से ब्राह्मण और कर्म से क्षत्री था, ऐसे शुद्ध-चेतन के लिए जो कर्म करते-करते मा धारित्री की गोद में गिरा, ऐसे प्रकाश-पुंज के लिये जिसने राम, कृष्ण और बुद्ध के समान ही कवियों, चित्रकारों और मूर्तिकारों को सृजन के लिए प्रेरणा दी, ऐसी भावना के लिये जो प्रार्थना के लिए जाते हुए स्वयं प्रार्थना बनकर चढ़ गया, क्या शोक करना? ऐसी स्पृहणीय मृत्यु किसी सुकरात, किसी ईसा और किसी गांधी की ही हो सकती है!

'श्रद्धा के फूल' के प्रथम गीत की पहली ही दो पंक्तियों में इस हत्या का आभास दिया गया है। यह दूसरी बात है कि कवि के अंतर की कोमलता ने उसे काव्यात्मक रूप दे दिया है--

अन्तर्धान हुआ फिर देव विचर धरती पर,
स्वर्ग रुधिर से मर्त्यलोक की रज को रँगकर!

महात्मा गांधी जैसे विराट व्यक्तित्व के महापुरुष के उठ जाने से भारत-माता कैसी विषाद-मग्ना हो गई इसका कितना सजीव चित्रण कवि ने निम्नलिखित पंक्तियों में किया है--

हिम किरीटिनी, मौन आज तुम शीश झुकाए
सौ वसन्त हों कोमल अंगों पर कुम्हलाए!
वह जो गौरव शृंग धरा का था स्वर्गोज्ज्वल,
टूट गया वह?

महात्मा गांधी की हत्या का प्रभाव इस देश के निवासियों पर विशेष रूप से और संसार पर सामान्य रूप से पड़ा। इस देश के वे इतने अपने हो गए थे कि उनके उठ जाने को प्रत्येक प्राणी ने अपने किसी आत्मीय का उठ जाना अनुभव किया। शायद ही कोई ऐसा व्यक्ति हो जो उनके लिए न रोया हो। इस स्थल पर मुझे मैथिलीशरण गुप्त की वे पंक्तियाँ स्मरण आती हैं 'अच्छा

बुरा बस नाम ही रहता सदा है लोक में, वे धन्य हैं जिनके लिए हों लीन सज्जन शोक में ।' और गांधी जी वास्तव में धन्य थे !

देश के कलाकारों में से बहुतों ने उस शोक को अभिव्यक्ति दी। पन्त जी भी एक ऐसे समर्थ कलाकार थे जिन्होंने उस शोक से उद्भूत करुणा और वेदना के फूल अपने ढंग पर खिलाए। प्रत्येक कलाकार की अभिव्यक्ति में अपने स्वभाव का योग भी रहता है। पंत जी महात्मा गांधी को साधारण व्यक्ति नहीं मानते जिनकी मृत्यु पर साधारण व्यक्तियों का सा शोक मनाया जाय। महात्मा गांधी साधारण थे भी नहीं। कवि ने उन्हें देवता, दिव्य चेतना, आत्मा का शिखर, मानवता का मेरु, युग मानव आदि कहा है। फिर भी उसकी भावना जैसे तुष्ट नहीं हो पाती। पन्त जी ने जैसा एक स्थान पर इंगित किया है महात्मा गांधी राम, कृष्ण, मसीह और बुद्ध की परम्परा में थे। ऐसी दशा में यह उचित ही हुआ कि कवि ने उस शोक को वैयक्तिक रंग न देकर देश का शोक माना, भारत-भूमि को शोक-मग्ना देखा और एक द्रष्टा की भाँति, यद्यपि वह द्रष्टा एकदम तटस्थ नहीं है, उस शोक का चित्रण किया।

कवि ने माना है कि वह एक स्वर्गीय आभा थी जो पृथ्वी पर अपना कार्य समाप्त करके स्वर्ग को लौट गई; परन्तु जो लौटते-लौटते भी जीर्ण जाति के मन के खँडहर के अंधकार को हर गई। ऐसी दशा में श्मशान में पीपल के वृक्ष में घट बाँधने की अपेक्षा यह अच्छा होगा कि जीवन की सुन्दरता का घट हम उन्हें अर्पित करें; उनके लिए हम क्या स्मारक खड़ा कर सकेंगे, भविष्य का नव भारत ही उनका जीवित स्मारक होना चाहिए। एक स्थान पर कवि ने महात्मा जी के तीन प्रिय सिद्धान्तों—सत्य, अहिंसा, विश्व प्रेम—का इस संबंध में बड़ा सुन्दर प्रयोग किया है—

आओ, उसकी अक्षय स्मृति को नींव बनाएँ,
इस पर संस्कृति का लोकोत्तर भवन उठाएँ !
स्वर्ण शुभ्र धर 'सत्य' कलश स्वर्गोच्च शिखर पर
'विश्व प्रेम' में खोल 'अहिंसा' के गवाक्ष वर !

पृथ्वी ही नहीं सारी प्रकृति ही आज शोक-मग्न है। उस शोक को कवि दार्शनिक रूप देता हुआ प्रश्न करता है—

आज प्रार्थना से करते तृण तरु भर मर्मर,
सिमटा रहा चपल कूलों को निस्तल सागर!
नम्र नीलिमा में नीरव, नभ करता चिंतन,
श्वास रोक कर ध्यान मग्न सा हुआ समीरण!

क्या क्षणभंगुर तन के हो जाने से ओझल
सूनेपन में समा गया यह सारा भूतल?

कवि देखता है भारत जननी अधिक दुःखी है। उसे वह अनेक प्रकार से धैर्य बँधाता है—

(क) हाय, आँसुओं के आँचल से ढँक नत आनन
तू विषाद की शिला बन गई आज अचेतन,
ओ गाँधी की धरे, नहीं क्या तू अकाय-व्रण?
कौन शस्त्र से भेद सका तेरा अछेद्य तन?
उठ, ओ गीता के अक्षय यौवन की प्रतिमा!

(ख) खोलो, मा, फिर बादल सी निज कबरी श्यामल,
जन मन के शिखरों पर चमकें विद्युत् के पल!

यहाँ तक तो ठीक है, पर इसके उपरांत कवि अपनी कल्पना में डूब जाता है। उसे दिखाई देता है पृथ्वी पर गांधी युग अवतरित हो गया है और सत्य एवं अहिंसा अन्तर्राष्ट्रीय वृत्तियाँ बन गई हैं। सामान्य अनुभव की बात है कि महात्मा गांधी की मृत्यु के उपरान्त देश की दशा गिरती ही चली गई है और बराबर गिरती जा रही है। अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति भी तनातनी की स्थिति है। अतः कवि ने यह सब कहाँ देखकर लिखा है, कहा नहीं जा सकता।

(१) देव, तुम्हारी पुण्य स्मृति बन ज्योति जागरण
नव्य राष्ट्र का आज कर रही लोह संगठन!

(२) देख रहा हूँ, शुभ्र चाँदनी का सा निर्झर
गांधी युग अवतरित हो रहा इस धरती पर !
(३) भारत की नारी ऊषा सी आज अगुंठित !
(४) सत्य अहिंसा बन अन्तर्राष्ट्रीय जागरण
मानवीय स्पर्शों से भरते हैं भू के व्रण !

पं० जवाहरलाल नेहरू

'स्वर्ण किरण' की जवाहरलाल नेहरू कविता में कवि जवाहरलाल की लोक-प्रियता की चर्चा करते हुए उनसे यह आशा करता है कि भारत की स्वतन्त्रता का उपयोग वे विश्व को नवीन जीवन सन्देश देने के लिए करें। कुछ पंक्तियाँ देखिए—

जय निनाद करते जन, हे जनगण के नायक,
इस विशालतम जन समुद्र के भाग्य विधायक !
उर के चिर तारुण्य, पाँति में युवति युवक गण
खड़े प्रीति सौंदर्य द्वार बन अपलक लोचन !
जननि तुम्हारा मुख शिशुओं में करतीं चुम्बन,
मानव होंगे वे किसके आदर्श कर ग्रहण ?
खुलें तुम्हारे हाथों युग युग के जड़ बन्धन,
ज्योति ज्वार सा जगे सुप्त भू का उपचेतन !
हो भारत स्वातन्त्र्य विश्व हित स्वर्ण जागरण,
रक्त व्यथित भू पिए शांति सुख का संजीवन !

'अतिमा' में महात्मा गांधी के बाद के युग को पन्त जी ने नेहरू-युग कहकर श्री नेहरू के व्यक्तित्व, उनके कार्य और सिद्धान्तों की महत्ता को मुक्त हृदय से स्वीकार किया है। रचना में बहु-प्रचारित 'पंचशील' की चर्चा भी उन्होंने कर ही दी है—

अभिवादन,
हे नेहरू-युग के नए संचरण
शत अभिवादन,

शुभ्र अहिंसा अश्व सौम्य कर रहा दिग्विजय
नेहरू का मन ही नव युग का मन निःसंशय !

जय मध्यम पथ !
जय तृतीय बल !
शांति क्षेत्र होता दिग् विस्तृत,
संभव भू पर सहस्थिति निश्चित,
देखो, बढ़ता मानवता का रथ

धीरोद्धत,—
पंचशील का ले ध्रुव संबल !

कार्ल मार्क्स

'युग वाणी' में मार्क्स के प्रति जो भावना व्यक्त हुई है उसमें अधिकतर तो मार्क्स के दर्शन की व्याख्या है और थोड़ी उनके प्रति प्रशंसा वृत्ति—

साक्षी है इतिहास, किया तुमने दुन्दुभि से घोषित—
प्रकृति विजित है, मानव ने की विश्व सभ्यता स्थापित !

विकसित हो, बदले जब जब जीवनोपाय के साधन,
युग बदले, शासन बदले कर गत सभ्यता समापन !
सामाजिक सम्बन्ध बने नव, अर्थ-भित्ति पर नूतन,
नव विचार, नव रीति नीति, नव नियम, भाव, नव दर्शन !
साक्षी है इतिहास,—आज होने को पुनः युगांतर,
श्रमिकों का शासन होगा अब उत्पादन यंत्रों पर !
वर्ग हीन सामाजिकता देगी सबको सम साधन,
पूरित होंगे जन के भव जीवन के निखिल प्रयोजन !
दिग्-दिगन्त में व्याप्त, निखिल युग-युग का चिर गौरव हर,
जन संस्कृति का नव विराट् प्रासाद उठेगा भू पर !
धन्य मार्क्स ! चिर तमच्छन्न पृथ्वी के उदय शिखर पर,
तुम त्रिनेत्र के ज्ञान चक्षु-से प्रकट हुए प्रलयंकर !

अरविंद

सन् १६४७ के उपरान्त की अपनी रचनाओं में पन्त जी जिस व्यक्ति से सबसे अधिक प्रभावित हुए, वे हैं योगिराज अरविंद। चेतना के जिस विकास का धुँधला स्वप्न और पृथ्वी पर स्वर्ग उतारने की जो चित्रमयी कल्पना पन्त जी ज्योत्स्ना-काल से कर रहे थे, वह अरविंद के अध्ययन के उपरान्त उन्हें पूरी होती दिखाई दी। पन्त जी ने देखा जिन सूक्ष्म तत्वों पर वे सोचते रहते हैं, उन पर बहुत पहले ही श्री अरविंद ने बहुत सुन्दर रूप से सोचा विचारा है। अतः अपनी रचनाओं में मुक्त हृदय से पन्त जी ने अरविंद-दर्शन का अनुवाद किया। जिस व्यक्ति के विचारों से हम प्रभावित होते हैं, उसके व्यक्तित्व के प्रभाव से भी प्रायः हम बच नहीं पाते। 'स्वर्ण किरण' 'स्वर्ण धूलि' और 'युगांतर' की कई रचनाओं में अरविंद के प्रति अपनी भक्ति-भावना उन्होंने प्रदर्शित की। उन्हें पन्त जी ने 'योगेश्वर', 'चेतना का दिव्य उत्पल', 'अति मानव', 'मानव ईश्वर', 'कवि ऋषि' और 'दिव्य जीवन के दूत' आदि कहा है। उत्तरा की भूमिका में उन्होंने स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है—

"श्री अरविंद को मैं इस युग की अत्यन्त महान् तथा अतुलनीय विभूति मानता हूँ। उनके जीवन-दर्शन से मुझे पूर्ण संतोष प्राप्त हुआ। उनसे अधिक व्यापक, ऊर्ध्व तथा अतल स्पर्शी व्यक्तित्व, जिनके जीवन-दर्शन में अध्यात्म का सूक्ष्म, बुद्धि अग्राह्य सत्य नवीन ऐश्वर्य तथा महिमा से मंडित हो उठा है, मुझे दूसरा कहीं देखने को नहीं मिला। विश्व-कल्याण के लिए मैं श्री अरविंद की देन को इतिहास की सबसे बड़ी देन मानता हूँ। इसके सामने इस युग के वैज्ञानिकों की अणु शक्ति की देन भी अत्यंत तुच्छ है। उनके दान के बिना शायद भूत विज्ञान का बड़े से बड़ा दान भी जीवन्मृत मानव जाति के भविष्य के लिए आत्म-पराजय तथा अशांति ही का वाहक बन जाता। मैं नहीं कह सकता संसार के मनीषी तथा लोक-नायक श्री अरविंद की इस विशाल आध्यात्मिक जीवन-दृष्टि का उपयोग किस प्रकार करेंगे अथवा भगवान् उसके लिए कब क्षेत्र बनायेंगे।"

कविता में अपनी श्रद्धा-भावना को कवि ने इस प्रकार व्यक्त किया है—

(१)

ज्योति श्री अरविंद, चेतना के दिव्योत्पल,
पूर्ण सच्चिदानन्द रूप शोभित स्वर्णोज्वल !
स्तर पर स्तर कर पार चेतना के योगेश्वर,
स्वर्णारुण से नव्योदित तुम चिदाकाश पर,
अधिमानस से भी ऊपर, विज्ञान भूमि पर,
तुम अध्यात्म तत्व के हिमगिरि से स्थिर निर्भर !
एक स्तम्भ उपनिषन् ब्रह्म विद्या के निश्चय,
ज्योति स्तम्भ दूसरा देव का शब्द असंशय
स्वर्ग और वसुधा का करने स्वर्णिम परिणय,
इन्द्रचाप का सेतु रच रहे तुम ज्योतिर्मय।
कवि ऋषि तुमने सूक्ष्म दृष्टि से कर ज्यों चित्रित,
रहस शक्ति से निखिल सृष्टि फिर कर दी विकसित !
मानव उर प्रच्छन्न तुम्हारा नव पद्मासन,
तन मन प्राण हृदय ये तुमको देव, समर्पण !

—स्वर्ण किरण

(२)

श्री अरविंद, सभक्ति प्रणाम् !
विश्वात्मा के नव विकास तुम,
परम चेतना के प्रकाश तुम,
ज्ञान भक्ति श्री के विलास तुम,
पूर्ण प्रकाम !

—स्वर्ण धूलि

(३)

आज जब कि नीरस असार विश्री लगता जग-जीवन,
जीवन का सौंदर्य फूल-सा मुरझा रहा सुरभि-क्षण,

अन्तर्विश्वासों के उन्नत शृंग रहे ढह भू पर,
सूख गया चिर स्रोत प्रेरणा का, उर हुआ अनुर्वर !
ध्वंस भ्रंश हो गये विगत आदर्शों के जब खँडहर,
कुचल रहा मानव आत्मा को जड़ भौतिक आडम्बर !
तुम्हें पुकार रहा तब अन्तर, भावी मानव ईश्वर,
नव्य चेतना, नव मन, नव जीवन का भू को दो वर !
जीवन मन से ऊपर, तुम नव जीवन में, नव मन में,
मानवता को बाँधो अभिनव ऐक्य मुक्ति बन्धन में !

—युगांतर

रवीन्द्रनाथ ठाकुर

रवीन्द्रनाथ ठाकुर पहले व्यक्ति थे जिनसे कवि अपने जीवन में प्रभावित हुआ। उनके ऊपर जो युगांतर में कवि ने कविता दी है वह बड़ी मार्मिक और रसपूर्ण बन पड़ी है। भावनाओं के प्रवाह के कारण यह रचना अतुकांत हो गई है। रवि बाबू के श्राद्ध-दिवस पर श्रद्धांजलि अर्पित करते हुए कवि पहले जगत की वर्तमान स्थिति से उन्हें परिचित कराता है—

इन वर्षों में
अधिक नहीं कुछ बदल सका धरती का जीवन,
बल्कि, तीसरे विश्व युद्ध के लिए धरा के
राष्ट्र आज सन्नद्ध दीखते अणु विस्फोटों,
रुज किटाणुओं, गरल वृष्टि से—वसुंधरा पर
महा प्रलय, अन्तिम विनाश लाने को उद्यत !!

इसके उपरान्त तुरन्त ही वह अपने प्रिय विषय पर आ जाता है कि प्राणी आज अपनी आत्मा के वैभव को विस्मृत कर बैठे हैं और भौतिकता की बाढ़ में बहे जा रहे हैं—

भौतिकता लोहे के निर्मम चरण बढ़ा कर
रौंद रही मानव आत्मा को, जो यंत्रों के

विकट अस्थि पंजर में अन्तिम साँस ले रही !
देव, आपका वह अन्तराष्ट्रीय स्वप्न भी
अभी नहीं साकार हो सका भू पलकों पर...

एक गहरे आनन्द का सन्देश भी उन्हें देना है—

एक सुनहली रेखा है काले बादल में !
आज आपका प्रिय भारत स्वाधीन हो गया,
छूट गई दासता, युगों की लौह शृंखला
टूट गई......

और इसके साथ उतने ही गहरे शोक का दूसरा सन्देश भी है। इस संदेश से गुरुदेव को भी गहरा आघात लगने की आशंका है क्योंकि उस घटना से उनका भी बहुत गहरा सम्बन्ध है—

बापू यद्यपि नहीं रहे ! वह मानवता के
देव शिखर,—अपने शोणित से नव जीवन का
युग प्रभात रँग, लुप्त हो गये !—मुक्त हो गये !
सम्बोधन करते थे जो गुरुदेव आपको !

और तब वह दोनों को पास-पास खड़ा करके देखता है—

रूप मांस थे आप, आत्म पंजर थे वे दृढ़
ऊर्ध्व रीढ़ हो, शांति निकेतन की पृथ्वी पर
जिसे चाहते थे दोनों ही स्थापित करना
स्वप्नों से, कर्मों से, जग के रण प्रांगण में
जन मंगल के हितः अह, दोनों चले गये तुम !

पर रवीन्द्रनाथ आजकल स्वर्ग में हैं, यह विचार उठते ही पंत जी की कल्पना के रंगीन पंख खुल जाते हैं। स्वर्ग, सुर सुन्दरियाँ, रवीन्द्रनाथ से रसिक ! अह !!! बहुत दिनों के शुष्क विचार-व्यापार के उपरान्त कवि को अब एक ऐसा अवसर मिला जब वह अपने सारे सौंदर्य-बोध, सारे रस-बोध को जाग्रत कर सके। निश्चित रूप से पन्त जी की बहुत सी दबी और दमित

भावनाओं को यहाँ निकास (Escape) प्राप्त हो गया है। इस दीर्घ उद्धरण के लिए पाठक मुझे क्षमा करें—

विचरण करते होंगे, कवि गुरु, आप अतीन्द्रिय
स्वर्ग लोक में संप्रति......
पारिजात मंदार प्रभृति सुमनों की स्वर्गिक
स्वप्निल सौरभ नासा द्वारों में प्रवेश कर
आन्दोलित रखती होगी प्राणों को नित नव
भावों से, स्वप्नों से, सुर सौंदर्य बोध से,...
क्षण भर को अपलक रह जाते होंगे लोचन
सुरांगनाओं का सौंदर्य विलोक अपरिमित !
देह शिखाओं से अनन्त यौवन की आभा
फूट फूट कर विस्मय से भरती होगी मन !
मसृण सुरँग छाया-पट से छन तन की शोभा
झलका करती होगी सौष्ठव रेखाओं में,
स्तिमित शरद घन से कंपित विद्युल्लेखा सी,—
झंकृत कर अन्तरतम सत्ता के तारों को !
स्वप्नों के शिखरों से उठ उठ श्वसित पयोधर
टकराते होंगे, आकांक्षा के भुवनों से,
जिन पर धर कल्पना श्रांत शिर कविर्मनीषी
लेते होंगे क्षण विराम, फिर स्वप्न-मग्न हो !

और वही राग—

एक बार फिर आओ कवि, इस विधुर देश को
अपनी अमर गिरा से नव आश्वासन देने !
बिखर गया मानव का मन अणुवीक्षण पथ से
बहिर्जगत में, स्थूल भूत विज्ञान से भ्रमित !
अन्तर्दृष्टि विहीन मनुज निज अन्तर्जग के
वैभव से अनभिज्ञ, हृदय से शून्य, रिक्त है !

आज आत्मघाती वह, अपने ही हाथों से
महा जाति का महा मरण निर्माण कर रहा
भौतिक रासायनिक चमत्कारों से अगणित !
ऐसे मरणोन्मुख जग को, कहता मेरा मन
और कौन दे सकता नव जीवन, आश्वासन,
शान्ति, तृप्ति,—निज अन्तर्जीवन के प्रवाह से
भारत के अतिरिक्त आज ?
कहता मेरा मन, भारत के ही मंगल में
भू मंगल, जन मंगल, देवों का मंगल है !
—देव आप आशीर्वाद दें जन भारत को !

अवनीन्द्रनाथ ठाकुर

भारत के प्रसिद्ध चित्रकार श्री अवनीन्द्रनाथ ठाकुर की ७५ वीं वर्ष गाँठ के अवसर पर कवि ने उन्हें 'चित्र कवि', 'रंगों का गायक', 'अमर शिल्पी' आदि बताते हुए जन-मन में मानवता के चित्र अंकित करने की प्रार्थना की है।

आज आपकी वर्ष गाँठ के शुभ अवसर पर
करते हम समवेत प्रार्थना, वृद्ध चित्र कवि,
फिर फिर ऐसे हर्ष दिवस आएँ, दे जाएँ
नवल सुनहली गांठ आपके वयस सूत्र में !
अमर शिल्पि, मानव की आशाऽकांक्षाओं में
नव्य रंग रुचि संगति ध्वनि छाया प्रकाश भर
आप चेतना पट पर जन जन के रँग जावें
मनुष्यत्व की आभा रेखा छवि देवोपम,—
स्वर्ग आपको दिव्य स्वास्थ्य दे दीर्घ आयु दे !

इनके अतिरिक्त हिंदी के चार साहित्यकार हैं जो पंत जी की भावना का आधार बने हैं—वे हैं आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी, राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त, पं० सूर्यकांत त्रिपाठी निराला और श्रीमती महादेवी वर्मा। इन रचनाओं में प्रत्येक साहित्यकार के व्यक्तित्व के विश्लेषण के साथ उसके साहित्यिक

कार्यों की चर्चा और उनका काव्यात्मक मूल्यांकन है। इन साहित्यकारों में उन्होंने श्री मैथिलीशरण गुप्त और महादेवी जी को विशेष महत्ता दी है। गुप्त जी को 'स्वर्ण किरण' का अशोक वन समर्पित है और महादेवी जी को 'स्वर्ण धूलि' के वैदिक मन्त्रों के अनुवाद। चारों गीतों के विशिष्ट अंश हम नीचे उद्धृत करते हैं—

—आचार्य द्विवेदी के प्रति—

भारतेन्दु कर गए भारती की वीणा निर्माण
किया अमर स्पर्शों ने जिसका बहुविधि स्वर-संधान,
निश्चय, उसमें जगा आपने प्रथम स्वर्ण झंकार
अखिल देश की वाणी को दे दिया एक आकार!

वाग्मि! आपने मूक देश को कर फिर से वाचाल,
रूप रंग से पूर्ण कर दिया जीर्ण राष्ट्र कंकाल!

चिर स्मारक सा उठ युग युग में भारत का साहित्य
आर्य, आपके यशः काय को धरे सुरक्षित नित्य!

—श्री मैथिलीशरण जी गुप्त—

शैशव ही से रहा आपके प्रति आकर्षण
ललित भणिति का किया प्रीतिवश चपल अनुकरण!
सरस्वती से स्वयं आपका सुन वीणा क्वण
कर्ण बन गए जन के प्यासे जह्नु के श्रवण!
'सूर सूर तुलसी शशि'...लगता मिथ्यारोपण
स्वर्गंगा तारापथ में कर आपके भ्रमण!
स्वर्ण कलश कवि यश की यशोधरा निःसंशय,
बसा गए साकेत, शिल्पि, नव आप चिरंतन;
व्यथा कथा लिख गए गुप्त हृत्पत्र पर अभय,
भारत नारी तीर्थ उर्मिला का उर क्रन्दन!

—श्री सूर्यकान्त त्रिपाठी के प्रति—

छन्द बन्द ध्रुव तोड़, फोड़कर पर्वत कारा
अचल रूढ़ियों की, कवि तेरी कविता धारा
मुक्त, अबाध, अमंद, रजत निर्झर सी निःसृत,—
शिलीभूत सौंदर्य, ज्ञान, आनन्द अनश्वर
शब्द शब्द में तेरे उज्ज्वल जड़ित हिम शिखर !
शुभ्र कल्पना की उड़ान, भव-भास्वर कलरव !
हंस, अंश वाणी के, तेरी प्रतिभा नित नव !
अमृत पुत्र कवि, यशः काय तव जरामरणजित
स्वयं भारती से तेरी हृत्तंत्री झंकृत !

—महादेवी—

दीपशिखे, तुमने जल जल कर ऊर्ध्व ज्योति की वर्षण !

———

गीति-नाट्य काव्य रूपक और पंत जी

एक युग ऐसा था जब हिन्दी नाटकों में पद्य की भरमार रहती थी। पात्रों के कथोपकथन तब कविता में चलते थे। नाटकीय होते हुए भी ऐसे कथोपकथन कानों को थोड़े खटकते अवश्य थे, क्योंकि बातचीत करने का यह स्वाभाविक ढंग नहीं है। इस प्रवृत्ति के विरुद्ध विद्रोह हुआ और तब धीरे-धीरे कथोपकथन गद्य में लिखे जाने लगे। आगे चल कर कुछ यथार्थवादी नाटककारों ने तो गीतों तक को अपने नाटकों में स्थान नहीं दिया। इस प्रकार जहाँ साहित्यिक नाटकों में यह स्वाभाविक विकास हो रहा था, वहीं छायावाद-काल में साहित्य की एक नई शाखा पनप रही थी जिसे 'गीति नाट्य' का नाम दिया गया। यह नाम बहुत उपयुक्त नहीं है। किसी-किसी गीति नाट्य जैसे 'अनघ' में बीच-बीच में मधुर गीत भी पाए जाते हैं; पर ये नाटक गीतियों या उद्‌गीतियों पर आधारित नहीं है, यहाँ तक कि सभी तुकांत तक नहीं और कुछ तो मुक्त छन्द में हैं, अतः ये काव्य-प्रधान तो हैं, पर गीति-प्रधान नहीं। ऐसी दशा में पता नहीं यह नाम कैसे चल पड़ा।

इन गीति नाट्यों में घटनाएँ प्रायः अतीत से उठाई गई हैं। ये घटनाएँ ऐसी हैं जो अपनी मार्मिकता के कारण जनता की स्मृति में घर किए हुए हैं। कुछ बड़े कवियों जैसे मैथिलीशरण गुप्त, जयशंकर प्रसाद और सूर्यकांत त्रिपाठी निराला सभी ने गीति नाट्य लिखे। आगे चल कर भगवतीचरण वर्मा और सियारामशरण गुप्त ने इसमें अपना योग दिया। इनमें किसी ने करुणा के प्रसार, किसी ने भारतीय संस्कृति की झलक दिखाने, किसी ने राष्ट्रीय भावना से प्रेरित होकर और किसी ने नैतिकता के स्वीकृत सिद्धांतों पर आघात करने के लिए अपने कथानकों में थोड़ा परिवर्तन भी किया, पर यह समझना भूल होगी कि जैसे टी० एस० इलियट ने इबसन और शा की धारणाओं के विरुद्ध विद्रोह करके गीति नाट्य के साहित्यिक आंदोलन को बल प्रदान किया, वैसे

Library Sri Pratap Coll...
Srinagar.

ही यहाँ भी कवियों में कोई ऐसी चेतना काम कर रही थी। नहीं, ऐसी कोई बात नहीं थी।

'प्रसाद' के करुणालय की कथा वैदिक काल से संबंध रखती है। इसके प्रमुख पात्र हैं महाराज हरिश्चन्द्र, रोहित, विश्वामित्र, वशिष्ट, अजीगर्त और शुनःशेफ आदि। इस कहानी के द्वारा कवि उस काल में प्रचलित यज्ञ-प्रथा की उस करुणाहीनता को चित्रित करता है जिसके उल्लेखमात्र से हमारे रोंगटे खड़े हो जाते हैं। एक ओर वशिष्ट हैं जो एक बालक की बलि दिलाने में बिल्कुल नहीं हिचकते, दूसरी ओर अजीगर्त है जो पेट के लिए एक भोले शिशु को बेच सकता है, तीसरे विश्वामित्र हैं जो इस बात को भूल जाते हैं कि उन्होंने एक अबला के साथ कितना भारी विश्वासघात किया है। एक कट्टर है, एक लोभी, एक पतित। हरिश्चन्द्र भी ऋषियों के हाथ की कठपुतली मात्र हैं और रोहित यह नहीं सोचता कि जीवित रहने का जो अधिकार उसे प्राप्त है वह औरों को भी।

इस गीति नाट्य में 'प्रसाद' ने बड़े ही कौशल से याज्ञिक क्रियाओं की क्रूरता को गर्हित ठहराया है और हमारे हृदय में करुणा जगाकर यह चेतावनी दी है कि मनुष्य का वास्तविक धर्म मानवता है।

करुणालय मात्रिक छंद में बँधा हुआ है जिसमें विराम चिन्ह वाक्य के बीच में भी आते हैं। कथानक को अभिनयात्मक ढंग पर उपस्थित करने के कारण उसमें एक प्रकार की गति, रोचकता और सजीवता आ गई है।

मैथिलीशरण गुप्त के 'अनघ' में हमारे राष्ट्रीय आंदोलन के सामाजिक पक्ष की एक झलक दिखाई गई है। इसका प्रमुख पात्र मघ है। मघ को यद्यपि गुप्त जी ने गौतम बुद्ध का एक साधनावतार बतलाया है, पर सच बात यह है कि महात्मा गांधी के व्यक्तित्व, सिद्धांत और कार्यों से प्रभावित होकर

है पाप की। तारा सोचती है जीवन क्षणिक है, अतः उसका भोग करना चाहिए। उसके पति बृहस्पति समझाते हैं जीवन नाशवान है, अतः त्याग करना चाहिए। तारा समझती है जीवन का सार प्रेम है। बृहस्पति समझाते हैं वह ज्ञान है। बृहस्पति का विचार है वासना का दमन करना चाहिए। तारा सोचती है उसकी तृप्ति हो तो अच्छा है। इसी बीच अपने पति के शिष्य चंद्रमा पर तारा की दृष्टि पड़ती है और वह उसके साथ बह जाती है।

इस प्रकार के जीवन-दर्शन पर युग क्या निर्णय देगा, कहा नहीं जा सकता, पर तारा का जो पतन हुआ है उसके लिए उसके पति गुरु बृहस्पति बहुत दूर तक उत्तरदायी हैं। अपनी युवती पत्नी की कोमल भावनाओं को न समझ कर उसे केवल ज्ञान के शुष्क उपदेश देने और चंद्रमा जैसे व्यक्ति पर घर का भार छोड़ कर बाहर चले जाने में उनकी बुद्धिमत्ता नहीं झलकती।

इस गीति नाट्य का प्राण उसका अन्तर्द्वन्द्व है। तारा के जीवन में यह अन्तर्द्वन्द्व अन्त तक बना हुआ है। पहले प्रेम और पति-भक्ति फिर आकर्षण और नैतिकता और अंत में वासना और कर्तव्य के अन्तर्द्वन्द्व ने इस कृति में चमक ला दी है। इस गीति नाट्य के द्वारा वर्मा जी ने नैतिकता के एक ऐसे प्रश्न को समाज के सामने रखा है जिस पर आगे आने वाले युग को गम्भीरता से विचार करना होगा।

सियारामशरण गुप्त का 'उन्मुक्त' द्वितीय महायुद्ध काल में लिखा गया है। इसमें लौह द्वीप निवासी कई द्वीपों पर विजय प्राप्त करके कुसुम द्वीप पर आक्रमण करते हैं। कुसुम द्वीप निवासियों की शक्ति बड़ी सीमित है, पर मातृभूमि की रक्षा के लिए वे संगठित होते हैं। इसके प्रमुख पात्र हैं : पुष्पदन्त, गुणधर और मृदुला। इनमें पुष्पदन्त युद्ध-प्रिय है, गुणधर आगे चलकर हिंसा-नीति के विरुद्ध हो जाता है और मृदुला अनन्त ममतामयी होने पर भी युद्ध-काल में भी हिंसा से काम लेना बुरा नहीं समझती। वह बड़ी कठिनाई से जयन्त नाम के एक यांत्रिक से भस्मकास्त्र तैयार कराती है, और शत्रु के विरुद्ध प्रयोग करना चाहती है। यान शत्रु के हाथ में पड़ जाता है और इस प्रकार कुसुम द्वीप निवासी पराजित होते हैं। इस पराजय के पल में अहिंसा का आलोक सहसा उदित होकर मानवता के लिए नई आशा बँधा जाता है।

'उन्मुक्त' भारत के एक संवेदनशील कवि की युद्ध के विरुद्ध वाणी है। सियारामशरण गुप्त के अनुसार हिंसा का एकमात्र उत्तर है अहिंसा। स्पष्ट है कि इस रचना पर गांधी-दर्शन का गहरा प्रभाव पड़ा है। यह गीति नाट्य द्वितीय महायुद्ध की प्रतिक्रिया स्वरूप लिखा गया है। इसी से हिंसा की विभीषिका के विरोध में मानवीय करुणा, उच्चकोटि की नैतिकता, संस्कृति और अन्तर्राष्ट्रीय भावना के प्रसार के महत्वपूर्ण पहलुओं पर, इसमें ज़ोर दिया गया है। यह एक सोद्देश्य कृति है जो अन्त में अपना मंगलकारी प्रभाव पाठक के हृदय पर छोड़ जाती है।

जैसे मञ्च के माध्यम को थोड़ा बहुत दृष्टि में रखकर गीति नाट्य लिखे गये, वैसे ही रेडियो को माध्यम बनाकर एक नई विधा का जन्म हुआ जिसे 'काव्य रूपक' कहते हैं। हम चाहें तो उसे गीति नाट्य के समान ध्वनि नाट्य भी कह सकते हैं। जैसे गीति नाट्य का विशेष आनन्द देखने से सम्बन्ध रखता है, वैसे ही ध्वनि नाट्य का सुनने से। काव्य रूपक पृष्ठभूमि संगीत और ध्वनि प्रभावों की सहायता विशेष रूप से लेता है। इनसे उसका प्रभाव कई गुना बढ़ जाता है। काव्य रूपक को यह छूट यहाँ तक प्राप्त है कि कवि अनेक युगों की हलचलों, अनेक व्यक्तियों के कर्मों यहाँ तक कि भविष्य में घटने वाली सम्भाव्य घटनाओं को केवल एक उद्घोषक, सूचक अथवा किसी स्त्री या पुरुष स्वर की सहायता से एक सूत्र में गूँथ सकता है। इस प्रकार काव्य रूपक की परिधि में कुछ भी समा सकता है। काव्य रूपकों को लिखने वाले अभी तक प्रायः रेडियो से संबंधित व्यक्ति रहे हैं। इनमें सुमित्रानन्दन पंत, भगवतीचरण वर्मा, उदयशंकर भट्ट, नरेन्द्र शर्मा, गिरिजाकुमार माथुर, सिद्धनाथ कुमार, भारतभूषण अग्रवाल और नरेश मेहता आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

पंत जी के काव्य-रूपकों के दो संग्रह अब तक प्रकाशित हो चुके हैं। इनके नाम हैं—'रजत शिखर' और 'शिल्पी।' दोनों संग्रहों में ९ काव्य रूपक संग्रहीत हैं : रजत शिखर, फूलों का देश, उत्तर शती, शुभ्र पुरुष, विद्युत वसना शरद चेतना, शिल्पी, ध्वंस शेष एवं अप्सरा। ये सभी रूपक प्रतीकात्मक हैं। इन प्रतीकों का संकेत पंत जी ने स्वयं कर दिया है—

रजत शिखर	मनुष्य की अन्तश्चेतना का प्रतीक
फूलों का देश	सांस्कृतिक चेतना का धरातल
उत्तर शती	स्वर्ण युग का स्मारक
शुभ्र पुरुष	महात्मा गांधी के व्यक्तित्व का प्रतीक
विद्युत वसना	स्वाधीनता की चेतना का रूपक
शरद चेतना	प्रकृति सौंदर्य का कल्पना-प्रधान रूपक
शिल्पी	कलाकार का अन्तः संघर्ष
ध्वंस शेष	नवजीवन निर्माण का स्वप्न
अप्सरा	सौंदर्य चेतना का रूपक

इस प्रकार ये रूपक एक विराट् विचार के अंश हैं जिनमें एक कवि के मन में उठे अन्तः संघर्ष से लेकर व्यक्ति और विश्व की सभी संभव समस्याओं पर विचार करते हुए अंत में नवजीवन-निर्माण की क्रांतिकारी योजना प्रस्तुत की गई है। इतनी विस्तृत विचारधारा को इस युग में किसी अन्य कवि ने इससे पहले प्रस्तुत नहीं किया।

इनके काव्य रूपक विचार प्रधान हैं। पंत जी का विश्वास है कि आज संसार में जो अशांति फैली हुई है उसका मूल कारण है संतुलन का अभाव। इसी से इन्होंने अपने काव्य रूपकों में आदर्श और यथार्थ, अध्यात्मवाद और भौतिकवाद, वस्तु पक्ष और भाव पक्ष, विज्ञान और काव्य, सृजन और विनाश एवं बाहर और भीतर के संतुलन की बात उठाई है। सच पूछें तो हिन्दी में इतना बड़ा समन्वयवादी कवि दूसरा हुआ ही नहीं।

इन रूपकों में पंत जी ने मुख्य पात्र के अतिरिक्त जो कवि का स्थानापन्न है, राजनीतिज्ञ, दार्शनिक, वैज्ञानिक और मनोविश्लेषक आदि पात्रों की अवतारणा की है और इस बहाने राजनीति, दर्शन, विज्ञान और मनोविज्ञान ने विश्व को जिस रूप में प्रभावित किया है, उसका विश्लेषण करने का अवसर इन्हें मिला है। एक स्थान पर बर्बर युग से आज तक का ऐतिहासिक विकास इन्होंने चित्रित किया है। कहीं-कहीं कथानक का विकास ससार की स्थिति, जनता या किसी महान भावना के चारों ओर किया गया है। 'ध्वंस शेष' में जिसे एक फैंटेसी (Fantasy) कहना चाहिए विराट् पात्रों जैसे ईश्वर

प्रकृति, काल और सभ्यता की उद्भावना की गई है। अणु-विनाश जैसी भयंकर घटनाएँ भी इन्होंने जुटाई हैं। प्राचीन मूर्तियों के बहाने कवि ने धर्म, अर्थनीति विकासवाद आदि पर विस्तार से अपने विचार प्रकट किए हैं। इस प्रकार इन रचनाओं में कवि के विचार का धरातल अत्यंत विस्तृत रहा है। इन काव्य रूपकों के अध्ययन से यह बात तो स्पष्ट हो जाती है कि इन दिनों पंत जी की चेतना विश्व की वर्तमान विषम परिस्थितियों से उलझ रही है और जीवन की व्यापक समस्याओं का वास्तविक समाधान खोजने में व्यस्त है। समाधान मिलेगा या नहीं, कहा नहीं जा सकता।

'ध्वंस शेष' के उपरांत इनका दूसरा महत्वपूर्ण काव्य रूपक है 'शिल्पी।' इसमें नित्य बदलती हुई वास्तविकता के भीतर से मानवात्मा के सत्य को मूर्तित करने के लिए कवि आकुल पाया जाता है। इनका शिल्पी एक मूर्ति बनाता है, दूसरी तोड़ता है, पर उसे संतोष नहीं मिलता। वह कहता है—

युग की आत्मा को, युग जीवन के प्रतीक को
मुझे प्रतिष्ठित करना होगा मानव मन की
युग निर्मम पाषाण शिला पर कला स्पर्श से,
तभी सफल होगा मेरा यह स्वप्न शिल्प का...

और एक दिन आता है कि उसकी साधना सफल होती है।

इन कृतियों में कवि संस्कृति के संदेशवाहक के रूप में आता है। पंत जी की दृष्टि से प्राचीन मान्यताएँ नष्ट हो रही हैं और व्यक्तियों का जीवन के प्रति दृष्टिकोण बदल रहा है। फिर भी उनका विश्वास कुछ चिरंतन सत्यों में है। वे चाहते हैं कि भविष्य का जीवन मानवता के उच्च मूल्यों पर आधारित हो।

इन रचनाओं पर अरविंदवाद का गहरा प्रभाव है। 'रजत शिखर' में मानस की क्रांति उपस्थित की गई है। उसमें ऊर्ध्व के अवरोहण और समतल के आरोहण के साथ असत् वृत्तियों को विस्थापित कर रागात्मक संतुलन स्थापित करने का प्रयत्न पाया जाता है। 'फूलों के देश' में मानव मन की अंध गुहाएँ दिव्य आलोक से चमत्कृत दिखाई गई हैं। 'उत्तरशती' में नव्य चेतना अधिमन के नभ से उतरती देखी गई है और ऐसी इच्छा प्रकट की गई है कि अधोमुखी तृष्णा अमृत चेतना में बदले। पंत जी इस परिवर्तनशील जगत को दिव्य चेतना

का लीलास्थल मानते ही हैं। उनके अनुसार अंतर के प्रकाश से ही बाह्य जगत दीपित होगा। 'अप्सरा' में कोमल और परुष भावनाओं के संग्राम को देवासुर संग्राम बतलाया गया है। कवि का विश्वास है कि एक दिन परुष वृत्तियाँ कोमल वृत्तियों में बदलेंगी। श्री अरविंद के समान पंत जी भी भागवत जीवन के विकास को ही वास्तविक जीवन समझते हैं।

अपने इन दोनों संग्रहों में एक ऐसे कलाकार की कल्पना पंत जी ने बार-बार की है, जिसका दृष्टिकोण ही जीवन के प्रति सच्चा दृष्टिकोण है। स्पष्ट है कि यह दृष्टकोण पंत जी का अपना दृष्टिकोण है। हम यहाँ इस विवाद में नहीं पड़ना चाहते कि उनके संबंध में उनके पाठकों और समीक्षकों का जो मत है वह मान्य है या अपने संबंध में उनकी जो धारणा बन गई है वह ठीक है। पर ऐसा लगता है कि पन्त जी के काव्य और व्यक्तित्व के प्रति जो आक्षेप समय-समय पर उठते रहे हैं उन्हें कुछ अतिरंजित रूप में उन्होंने इन रचनाओं में अभिव्यक्ति दी हैं। 'फूलों का देश' में कुछ स्वर कहते हैं—

कायर हो तुम कायर जो उपदेश दे रहे
नंगे भूखे लोगों को अध्यात्मवाद का!
कलाकार तुम नहीं, तुम्हारे दुर्बल उर में
वज्रघोष विद्रोह नहीं युग की प्रतिभा का।
खौल न उठता रक्त तुम्हारा घोर घृणा से
शोषित पीड़ित मानवता की नग्न व्यथा पर!
दया द्रवित भी नहीं दिखाई देते हो तुम!!
जग जीवन से विरत, निरत फूलों के वन में,
स्वप्न लोक में रहते हो तुम आत्मतोष के!
साथ नहीं दोगे तुम जन का युग संकट में
रिक्त कला सुन्दरता के थोथे आराधक!!

ऐसे ही 'शिल्पी' में इन पंक्तियों पर ध्यान दीजिए—

दु:ख दैन्य से जर्जर जब जनगण का जीवन,
कला कक्ष में बैठ, निभृत कल्पना स्वर्ग में,

आप व्यस्त हैं, यश की लिप्सा से प्रेरित हो !
मधुर व्यंजनों से कर अपनी उदर तृप्ति नित
आत्मा के हित खाद्य खोजते आप निरंतर
ललित कलाओं से पोषण कर अपने मन का,
संस्कारों की शोभा में उसको लपेट कर !

इतना तो स्पष्ट है कि इस प्रकार के आक्षेपों से पंत जी थोड़े क्षुब्ध हुए हैं—न होते तो इस प्रसंग को ही न उठाते। इतना ही नहीं, इसमें निहित जो आशय है, उसका उत्तर देने का प्रयत्न अपने ढंग से उन्होंने यहाँ-वहाँ किया है। अरविंदवाद के अनुसार इन आरोपों का उत्तर यह है—

भीतर भी हैं जनगण, भीतर ही जन का मन,
भीतर भी हैं सूक्ष्म परिस्थितियाँ जीवन की,
भीतर ही रे मानव, भीतर ही सच्चा जग,
जातिवर्ग श्रेणी में नहीं विभाजित है जो,
उसे नव्य संगठित, पूर्ण सक्रिय, चेतन कर
बहिर्जगत में स्थापित करना है मानव को।

इस प्रकार सुमित्रानंदन पंत में पिछले गीति नाट्यकारों से जो पहला अंतर पाया जाता है वह यह कि इन्होंने बाह्य घटनाओं से हटकर आंतरिक भावनाओं के चित्रण पर ज़ोर दिया है। ये आंतरिक संघर्ष को ही सब कुछ मानने वाले कवि हैं। यों इनके काव्य रूपकों में इनका युग पूर्ण रूप से प्रतिबिंबित हुआ है। आधुनिक युग की सभी प्रधान समस्याओं पर इन्होंने अपने ढंग से विचार किया है और उनके काव्यमय समाधान प्रस्तुत किए हैं। इस दृष्टि से इस युग का प्रतिनिधि कवि इन्हें कह सकते हैं। जिन जीवन मूल्यों की स्थापना पंत जी ने अपनी कृतियों में की है, वे बड़े व्यापक, उदार और सर्वमान्य हैं। 'रजत शिखर' और 'शिल्पी' दोनों में सुंदर भविष्य की कल्पना पाई जाती है। कहीं-कहीं तो इन्होंने ऐसा मान लिया है कि लोक में सभी कहीं आनंद और मंगल छा गया तथा श्री सौंदर्य और मधुरिमा की वर्षा होने लगी। आदर्शवादी,

आशावादी एवं भविष्यवादी व्यक्ति के विचारों की अंतिम परिणति ऐसी ही होती है।

जहाँ तक इन काव्य रूपकों की कला का प्रश्न है वहाँ यह समझना चाहिए कि ये अभिनय के लिए उतने नहीं लिखे गए, जितने अध्ययन के लिए। ये सभी काव्य रूपक आँल इंडिया रेडियो के लिए लिखे गए। लंबे काव्य रूपक 'भारत भारती' के अंतर्गत प्रसारित हो चुके हैं। भारत भारती उच्च सांस्कृतिक मूल्यों पर आधारित रेडियो का एक साहित्यिक कार्यक्रम है। छोटे रूपक कुछ विशेष अवसरों जैसे नव वर्ष, गांधी जयंती और शरद पर्व आदि के लिए भी लिखे गए। कहीं कहीं ध्वनि प्रभावों (Sound effects) और पृष्ठ-भूमि संगीत (Background Music) के प्रयोग से ऐसा भ्रम हो सकता है कि पंत जी ने रेडियो टेकनीक को स्वीकार कर लिया है। पर सच बात यह है कि इस दिशा में रेडियो पंत जी को प्रभावित नहीं कर पाया, पंत जी ने जैसा लिख दिया, उसे उच्च स्तर का कार्यक्रम (High-brow Programme) कहकर उसी रूप में प्रसारित कर दिया गया। किसी भी दृष्टि से इन्हें सफल रेडियो रूपक नहीं कहा जा सकता। रेडियो टेकनीक की दृष्टि से हमारे कुछ अन्य कवियों की रचनाएँ अधिक शक्तिशाली, मार्मिक और सफल बन पड़ी हैं। इन रूपकों में कथोपकथन आवश्यकता से अधिक लंबे हैं। कहीं-कहीं तो एक ही पात्र एक साथ सौ पंक्तियों से ऊपर बोल जाता है। ऐसे कथोपकथन सुनने के लिए श्रोता में सचमुच धैर्य चाहिए।

सामान्यतया जो नहीं दिखाई देता या जिसे हम कल्पना से ही जान सकते हैं, वह पंत जी के अंतर्नयनों के सामने खुलता और रूप ग्रहण करता दिखाई देता है। कहीं-कहीं भावनाओं का मानवीकरण भी इन्होंने किया है, पर मानवीकरण करने पर भी भावनाएँ, भावनाएँ ही रहती हैं। इस पर पच्चीकारी होती है—सूक्ष्म और बारीक। मनोवृत्तियों का अधिक विश्लेषण ऊब उत्पन्न करता ही है। कहीं-कहीं बात बहुत छोटी सी है। उस पर विचार का भारी भरकम ढाँचा इन्होंने खड़ा कर दिया है। इससे वांछित प्रभाव उत्पन्न नहीं हो पाता। सच बात यह है कि सौंदर्य के काल्पनिक वर्णन में पंत जी को बड़ा आनन्द मिलता

है। ऐसी दशा में भाव को खींच-खींच कर ये ऐसा झीना कर डालते हैं कि पाठक के मानस में उसका प्रतिबिंब ठीक से जग ही नहीं पाता। पंत जी ठोस वस्तुओं, घटनाओं और भावनाओं को भी कुछ इस प्रकार की सूक्ष्मता से मंडित करने के अभ्यासी हैं कि जीवन की वांछित मांसलता और उष्णता उनसे व्यक्त नहीं हो पाती।

———

नवचेतनावाद

काव्य में अरविंदवाद को नवचेतनावाद कहते हैं। भक्ति, अध्यात्मवाद और रहस्यवाद तीनों में भी चेतना के विकास की कहानी कही जाती है, पर अरविंदवाद इन तीनों से भिन्न एक नया चेतनावादी दर्शन है, इसी से काव्य में उसके लिए नवचेतनावाद का नाम दिया गया है।

अरविंद-दर्शन के प्रचार के और भी माध्यम और साधन हैं; पर उत्तर भारत के कवियों में अपने काव्य द्वारा उसका प्रचार एक मात्र पं० सुमित्रानंदन पंत ने किया है। इस प्रचार का कोई प्रभाव अभी साहित्यिकों पर भी नहीं पड़ा है, साधारण जनता की बात तो बहुत दूर है। इस दिशा में पंत जी का कोई अनुकरण भी नहीं कर रहा है। इस प्रकार इस क्षेत्र के वे ऐसे एकाकी नेता हैं जिनका कोई अनुयायी नहीं। संभवतः नवचेतनावाद समय की गति और उसके प्रवाह के अनुकूल अभी नहीं है।

पंत जी के काव्य-जीवन में यह तीसरा बड़ा मोड़ है। एक बार वे पश्चिम के रोमांटिक कवियों और पूर्व के रवीन्द्रनाथ के प्रभाव में आए। छायावाद के इस प्रभाव ने उन्हें लोकप्रिय बनाया। आगे चलकर उन्होंने मार्क्स से प्रभाव ग्रहण किया। प्रगतिवाद भी उनके जीवन में यश की वृद्धि करने के लिए ही आया; पर जब से वर्तमान को छोड़ भविष्य की चिंता उन्हें अधिक सताने लगी, उनके मन में ऐसा विश्वास जगा कि अंतर की क्रांति की बाहर की क्रांति करेगी, जब से वे अधिक अंतर्मुखी हुए, तब से उन्होंने अपने और अपने पाठकों के बीच एक दीवार खड़ी कर ली और अब बराबर उनसे दूर होते चले जा रहे हैं। संभवतः उन्हें इस बात का आभास अब होने लगा है। अपने एक लेख में उन्होंने कहा भी है—

"स्वर्ण किरण की काव्य दृष्टि को मेरे आलोचकों ने समन्वयवादी जीवन-दर्शन कहकर आत्म-संतोष ग्रहण किया है। मैं यह नहीं कहना चाहता कि उसके

पुष्कल चैतन्य की उन्होंने जानबूझकर उपेक्षा की है। नहीं, उसकी ओर उन्होंने संभवतः यथेष्ट ध्यान नहीं दिया है। और उसे समझने की चेष्टा भी नहीं जाग्रत हुई है। संभवतः समय आने पर 'स्वर्ण किरण' के युग की रचनाएँ जिनमें मेरी इधर की सभी रचनाएँ सम्मिलित हैं, पाठकों एवं आलोचकों का ध्यान, अधिक आकृष्ट कर सकेंगी और उनके लिए अधिक न्याय हो सकेगा...।"

मुझे ऐसा लगता है कि अरविंद-दर्शन भौतिक और बौद्धिक दृष्टि से सम्पन्न व्यक्तियों का ही जीवन-दर्शन बन सकता है—ऐसे व्यक्तियों का दर्शन जो जीवन की उलझनों से अपेक्षाकृत निश्चिंत हैं। निम्न वर्ग के भौतिक अभावों और बौद्धिक धरातल को देखते हुए यह आशा करना कि वे इस नवचेतनावाद को समझ सकेंगे, भूल ही होगी। जहाँ तक मध्य वर्ग का संबंध है वह आज सब से अधिक संकट-ग्रस्त है। वह आज ऐसे संघर्षों, संकटों और चिंताओं के बीच जीवनयापन कर रहा है कि इस ओर शायद ही ध्यान दे सके। तात्पर्य यह है कि निम्नवर्ग और मध्य वर्ग की समस्याओं का समाधान नवचेतनावाद के पास नहीं है।

शैली की दृष्टि से भी पंत जी का नवचेतनावाद बहुत दुरूह है। यह बात तो स्पष्ट है कि रचनाएँ अब वैसी मर्मस्पर्शी, सफल और शक्तिशाली नहीं होतीं जैसी पल्लव, गुंजन, युगवाणी और ग्राम्या काल में होती थीं। इसका मुख्य कारण यह है कि कला की दृष्टि से पंत जी अब प्रतीकवादी हो गए हैं। इन प्रतीकों का अर्थ पाठक नहीं जानता। उसके अंत:करण पर एक अस्पष्ट, झिलमिल सा चित्र बनता है जिससे उसे संतोष नहीं होता। और जब एक रचना के उपरांत अन्य इसी प्रकार की रचनाएँ उसके सामने आती हैं तो वे स्वभावतः ऊब उत्पन्न करती हैं, अतः पाठक यदि इनमें रस न ले सके तो यह उसका अपराध नहीं है। समीक्षकों को दोषी ठहराना भी व्यर्थ है। आज का कोई भी विवेकशील समीक्षक शायद ऐसे काव्य का समर्थन न कर सके जिसमें जीवन की वास्तविक समस्याओं से कतराकर केवल उस भविष्य के सुंदर सपने सजाए गये हों जिसे किसी ने देखा नहीं है।

श्री अरविंद ने अपने प्रसिद्ध ग्रंथ दिव्य जीवन (The Life Divine) में सृष्टि की सभी व्यापक समस्याओं पर आध्यात्मिक दृष्टि से विचार किया

Library Sri Pratap College
Srinagar.

है। उसमें प्रकृति और ईश्वर, पदार्थ और आत्मा, अहं और माया, ज्ञान और अज्ञान, जीवन और मृत्यु, कर्म और पुनर्जन्म, मन, बुद्धि और आत्मा, सुख और दुःख, सत् और असत् आदि के साथ और भी बहुत से महत्वपूर्ण विषयों पर वे चिंतन करते पाए जाते हैं। एक प्रकार से उन्होंने पूर्व और पश्चिम, भौतिकता और आध्यात्मिकता एवं कर्म, भक्ति और ज्ञान में समन्वय स्थापित करने का प्रयत्न किया है। इस समन्वय की उपलब्धि के लिए उन्होंने कठोर तप और जीवन-व्यापी साधना की थी। इससे जीवन को देखने का उनका अपना एक दृष्टिकोण बन गया। उसी दृष्टिकोण को अपनाकर पंत जी ने उनकी साधना से उत्पन्न तत्वों और उपलब्ध अनुभूतियों के कुछ अंशों की काव्यमयी व्याख्या की है।

नवचेतनावाद की मुख्य स्थापना यह प्रतीत होती है कि मनुष्य का अंतःकरण अपने विकसित रूप में नहीं पाया जाता, पर जब इसका विकास होता है तब प्राणी का व्यक्तित्व एक नए ही रूप में निखर उठता है। वह धीरे-धीरे दिव्यता प्राप्त करता है और अपने में अलौकिक आनंद की अनुभूति उसे होती है। व्यक्तित्व के विकसित होने पर मन की समस्त क्षुद्र भावनाएँ मिट जाती हैं। ऐसी दशा में बाह्य जगत के प्रति उसका व्यवहार बदल जाता है। परिणाम यह होता है कि अंतर का परिवर्तन बाहर भी परिवर्तन की सृष्टि करता है। धीरे-धीरे लोक-मंगल के विकास के साथ धरती पर स्वर्ग उतर आता है। आगे हम 'अतिमा' के आधार पर पन्त जी के हृदय पर पड़े अरविंदवाद के प्रभाव को स्पष्ट करेंगे।

नई चेतना

नई चेतना को पंत जी ने ऐसा दिव्य आलोक माना है जो अंतःकरण के तम को विदीर्ण करता है। उसे उन्होंने और भी कई सुन्दर नाम दिए हैं जैसे अग्नि विहंगम, स्वर्ग दूत और परिमल का वसंत। इस चेतना का उन्होंने वैसे ही आवाहन किया है जैसे कोई किसी दैवी शक्ति का करता है। अतः उसकी महत्ता स्वयंसिद्ध है। आवाहन करते समय कवि का मन श्रद्धा से परिपूरित है और उसे विश्वास है कि उसका जीवन किसी ऐसे शुभ कर्म में लीन है जिसका परिणाम मंगलमय होगा। इस चेतना का मुख्य गुण है—सृजनशीलता।

प्राणों के कुसुमायुध में धर
रहस चेतना के शर
रुद्ध भावना ग्रंथि बेधते
तुम अवचेतन तम हर
अतिक्रम कर मानस के तट
मज्जित कर जीवन वजन
लहरा उठता अंतस्तल से
मुक्त भागवत यौवन।
ओ मधु पतझर सृजन प्रलय के
पथ के पांथ विमोहन
शांति क्रांति के स्वर्ग दूत
विहँसो क्षितिजों में नूतन

मन और मनोविज्ञान से संबंध रखने के कारण उपचेतन, निश्चेतन और अतश्चेतन आदि शब्दों का प्रयोग इन रचनाओं में प्रायः मिलेगा। उपरोक्त उद्धरण में भावना ग्रंथि और अवचेतन का प्रयोग पंत जी ने किया ही है।

दिव्य करुणा

हमारी चेतना कुछ नहीं कर सकती, यदि उसे दिव्य करुणा का सहारा न हो। अरविंदवादी परमात्मा का नाम न लेकर 'दिव्य करुणा' का ही नाम लेते हैं। परमात्मा को श्री अरविंद ने मा माना है।

इस मा के अनेक नाम हैं जैसे परमा शक्ति, आध्यात्मिक शक्ति, विज्ञानमयी शक्ति, भागवती शक्ति, परा शक्ति। दिव्य रूपान्तर के लिए इसी शक्ति या मा का आवाहन करना पड़ता है। यह परा शक्ति अपरा प्रकृति में उसी समय काम कर सकती है जब साधक का अंतःकरण एकदम निर्मल हो और जब वह श्रद्धा युक्त होकर पूर्ण आत्म-समर्पण कर सके। इस साधना में सभी वासनाओं का परित्याग कर आत्म-समर्पण करना बहुत आवश्यक है। मा का परिचय देना कठिन है, पर वे एक साथ माहेश्वरी (ज्ञानमयी) महाकाली (शक्तिमयी) महा लक्ष्मी (सौंदर्यमयी) और महा सरस्वती (कलामयी) हैं। इस दिव्य रूप का

जिसका वर्णन श्री अरविंद के माता (Mother) ग्रंथ में मिलता है महारूप चतुष्टय कहते हैं।

आरोहण अवरोहण

हमारी चेतना को बल यही 'दिव्य करुणा' प्रदान करती है। जब ऊपर से इसका अवतरण (Descension) होता है, तब चेतना भी आरोहण करने (Ascension) में समर्थ होती है। अरविंदवादियों की दिव्य करुणा की यह भावना कृष्ण भक्तों के 'पुष्टिमार्ग' से जिसमें भगवान की कृपा के बिना भक्त कुछ कर ही नहीं सकता, बहुत मेल खाती है। दिव्य शक्ति के आवाहन के साथ अवरोहण के ये चित्र देखिए।

१. उच्च नभस्वत पथ की वासिनि,
तुहिन पंक्ति रजतोज्वल हासिनि,
धूल धूसरित भू के मग में
विचरो, कंचन घट लटकाओ।

अंध गुहाओं में प्रवेश कर
कुंठित सत्यों के सोए स्तर
प्रीति शिखाओं में प्रोज्वल कर
मनोभूमि पर उन्हें जगाओ।

२. तुम दीप्त कर गई अगम, मौन
आरोहों के निरवधि अंतर।

३. तुम महारात्रि के संकट में
अक्षय प्रकाश करतीं वितरित।

इसी प्रकार चेतना के आरोहण सम्बन्धी कई स्पष्ट चित्र भी उन्होंने अपनी रचनाओं में दिए हैं। एक चित्र देखिए—

यह प्रतिमा
मन से उठ ऊपर
पंख खोल शोभा क्षितिजों पर,

स्वर्ण नील आरोहों को तर
गंध शुभ्र रज साँसों में भर,
गीतों के निःस्वर झरनों में
स्वप्न द्रवित सुरधनु वर्णों में
अंतर शिखरों को नहलाती।

रूपान्तर

दिव्य करुणा जैसे-जैसे अवतरण करेगी और नवचेतना जैसे-जैसे उच्च स्तरों को पार कर विकास के पथ में आरोहण करेगी, वैसे ही वैसे मनुष्य के अंतःकरण का रूपान्तर (Transformation) होगा। पन्त जी का विश्वास है कि बाह्य जगत में जो आज परिवर्तन आ रहे हैं वह आंतरिक क्रांति के कारण ही। देखिए वे क्या-क्या देख पा रहे हैं—

सोच रहा मैं, नहीं स्पष्टतः देख रहा मैं
महत् युगांतर आज उपस्थित मनुज द्वार पर

बदल रहे मानव के भौतिक, कायिक, प्राणिक,
सूक्ष्म मानसिक स्तर, आध्यात्मिक भुवन अगोचर
जैवी स्थिति से उच्च भागवत स्थिति तक, संप्रति,

घूम रहा युग परिवर्तन का चक्र अकुण्ठित।
विस्मय क्या, यदि बदल रहा आर्थिक, सामाजिक,
धार्मिक, वैयक्तिक मानव ? यदि मनुज चेतना
अब सामूहिक, वर्गहीन बन रही बाह्यतः

स्वयं युगों का मानव ईश्वर बदल रहा अब,
निश्चेतन, उपचेतन, अंतश्चेतन के जग
परिवर्तित हो रहे, नए मूल्यों में विकसित।
उन पर आश्रित निखिल सांस्कृतिक सबंधों का
रूपान्तर हो रहा आज...

मनोवैभव

नवचेतना के विकास के साथ मन ऐसी आनंद दशा में हो जाता है कि उसका वर्णन शब्दों की शक्ति से परे है; फिर भी पंत जी ने उसका बड़ा विशद वर्णन किया है। तब मन में नया आलोक उदित होता है और व्यक्ति स्वप्नाविष्ट सा रहता है, हृदय अनिर्वचनीय सुख की भावना से पुलकित और स्पंदित रहता है, सारा अंतःकरण ही ज्योति, मधुरता, पवित्रता और सौंदर्य की चेतना से परिपूरित हो जाता है। तब साधक को ऐसा लगता है जैसे कहीं उजले झरने झर रहे हों, दीपकों की पाँति जगमगा रही हो, स्वर्गीय सुमनों की भीनी-भीनी गंध आ रही हो, संगीत की मधुर स्वर लहरियाँ उठ रही हों। एक वर्णन देखिए—

नए रुपहले क्षितिज निखरते मन के भीतर
आभा के रस स्रोत फूटते, पुलकित अंतर।

आः! वह ऊपर छाया स्वर्णिम ज्वाला का घन
दीप्त प्रेरणा तड़ितों में लिपटा अति चेतन।
अमृत बिंदुओं से झरते स्मित ज्योति प्रीति कण
अमरों के सुख वैभव में उर करता मज्जन
भारहीन अक्षय प्रकाश से पीड़ित अन्तर
रहस भावना के स्वर्गों में उठता ऊपर

यह स्थिति प्राचीन संत कवियों की उस रहस्यवृत्ति से बहुत कुछ मिलती-जुलती है जहाँ उन्हें भी हठयोग के आधार पर अंतःकरण में ऐसे लोक दिखाई देते थे, जिनमें कहीं चाँदनी के फौवारे छूट रहे हैं, कहीं सरोवर में उज्ज्वल हंस तैर रहे हैं, कहीं अमृत रस झर रहा है और कहीं संगीत की मधुर ध्वनियाँ फूट रही हैं। ऊपर के विवरण को कबीर के इन वर्णनों से मिलाइए।

१. जहाँ खेलत वसत रितुराज
जहाँ अनहद बाजा बजै बाज
चहुँ दिसि जोति की बहै धार
विरला जन कोई उतरै पार।

चोबा चंदन और अबीर
पहुप बास रस रह्यो गंभीर।
२. चुवत अमी रस, भरत ताल जहं
शब्द उठै असमानी हो।

लक्ष्य

आज के मनुष्य ने विज्ञान के सहारे भौतिक उन्नति तो कर ली है; पर आत्मा की गरिमा और वैभव से वह हीन है। अंतःकरण को खोखला रखने का परिणाम यह हुआ कि वह क्षुद्र स्वार्थों में फँसकर सभी कहीं कलह के बीज बो रहा है। मन की शांति उसे मिल नहीं पा रही। व्यक्ति के मन में अनेक प्रकार की कुण्ठाओं का जन्म हो रहा है और इस प्रकार वह निराशा के अंधकार में आबद्ध होता जा रहा है। बाह्य जगत में अभाव, दैन्य, कूटनीति और युद्धों की कमी नहीं। पंत जी के अनुसार बाहर शांति की स्थापना मनुष्य उसी समय कर सकता है जब उसका अंतःकरण बदल जाय। अतः नवचेतनावाद का लक्ष्य है व्यक्ति और विश्व के जीवन में सामंजस्य और स्वर-संगति स्थापित करना।

आओ इस स्वर्गिक बाड़व में अवगाहन कर
लौट चलें पावक पराग मधु का नव तन धर!
नव प्रकाश के बीज करें जन भू पर रोपण
शोभा महिमा से कृतार्थ हो मानव जीवन।

अरविंद के अनुसार प्राणी चाहे तो धरती पर ही दिव्य जीवन व्यतीत कर सकता है। परमात्मा से सम्पर्क स्थापित करना संतों का ही एकाधिकार नहीं है, सबके लिए यह संभव है। यदि व्यक्ति उस महाचेतन की ज्योति से अपने अंतर्मन को ज्योतित कर सके, तो भविष्य में श्रेष्ठतर व्यक्तियों का आविर्भाव होगा, जिससे व्यक्तियों की आत्मा में निहित आलोक और सौंदर्य की शक्तियाँ मुक्त होंगी और विश्व में आनंद की वर्षा होगी। संक्षेप में नए जीवन के लिए जिस नई चेतना की आवश्यकता है वह अति मानस (Supermind) की उपलब्धि के साथ अतिमानव (Superman) की सृष्टि है।

———

विचार जगत

पं० सुमित्रानंदन पंत में उनकी किशोरावस्था से ही एक ऐसी निर्मल मनोवृत्ति के दर्शन होते हैं जो उन्हें जीवन के शुभ पक्ष की ओर निरंतर प्रेरित करती रही है। उनकी ख्याति सौंदर्य और प्रकृति के कवि के रूप में अधिक है, परन्तु उनकी प्रारंभिक रचनाओं—वीणा, पल्लव, गुंजन आदि—में जीवन को शुभ्र से शुभ्रतर और शुभ्रतर से शुभ्रतम बनाने की उनकी आकांक्षा की अभिव्यक्ति बराबर होती रही है। उनका यह संस्कार युगांत, युगवाणी, ग्राम्या, स्वर्ण किरण में स्थान-स्थान पर खिल उठा है। पंत जी की ज्योत्स्ना नाटिका उसी प्रकार के स्वप्न की एक चित्रपटी है और अब इधर स्वर्ण धूलि उनकी आत्मा के संदेश की वाहिका बनी है। कहने का तात्पर्य यह कि जीवन को उज्ज्वल बनाने की यह भावधारा चाहे कहीं पृथुल और कहीं विरल रही हो, परन्तु पंत जी के काव्य में वह कहीं सूखने नहीं पाई।

सृष्टि और जीवन

सृष्टि के संबंध में अनेक मनीषियों ने विचार किया है और अपना-अपना मत दिया है। सृष्टि क्यों होती है, इस संबंध में कवि चुप है। संभवतः यह उसके क्षेत्र के बाहर की बात है; पर सृजन क्रिया को देखकर वह आश्चर्य-चकित होता है। वह एक रहस्य जो है! मिट्टी के गहरे अंधकार में पड़े एक छोटे बीज की शक्ति वह जानता है!

मिट्टी का गहरा अंधकार
डूबा है उसमें एक बीज,—
वह खो न गया मिट्टी न बना,
कोदों सरसों से क्षुद्र चीज़!

उस छोटे उर में छिपे हुए
हैं डाल पात औ' स्कंधमूल

गहरी हरीतिमा की संसृति,
बहु रूपरंग, फल और फूल !
वह है मुट्ठी में बन्द किए
वट के पादप का महाकार,
संसार एक ! आश्चर्य एक !
वह एक बूँद, सागर अपार !

कलाकार का तो इस क्रिया से और भी घनिष्ट परिचय है। निराशा का अंधकार जब उसके हृदय में छा जाता है, तब सुन्दर विचार का एक बीज उसमें उगता है। उससे कैसी विचित्र कला की सृष्टि होती है !

जैसे सृष्टि के कारण के संबंध में कवि विचार करता नहीं पाया जाता, वैसे ही जीवन की अनेक शंकाओं का समाधान भी खोजने वह नहीं जाता। जीवन क्या है ? हम क्यों जीवन धारण करते हैं ? पाप क्या है ? किसे कहते हैं पुण्य ? क्या है दुःख और क्या है सुख ? इनकी व्याख्या के चक्कर में पड़ने से वह यह कहीं श्रेयस्कर समझता है कि मनुष्य जीवन में विश्वास करे, उसमें रस ले, निर्भय होकर अपने पथ पर बढ़ चले। जीवन के सौंदर्य, वैभव और आनंद के प्रति कवि सहज-भाव से आकर्षित है और बिना किसी प्रकार की द्विधा के उसके प्रति आकर्षित होने का उपदेश वह सभी को देता है—

(क) जीवन का फल, जीवन का फल !
यह चिर यौवन-श्री से मांसल !
इसके रस में आनन्द भरा,
इसका सौंदर्य सदैव हरा,
पा सुख-दुख का छाया-प्रकाश
परिपक्व हुआ इसका विकास,
इसकी मिठास है मधुर प्रेम,
औ' अमर बीज चिर विश्वक्षेम !

(ख) नव ऊषा-संध्या अभिनंदित
नव नव ऋतुमयि भू, शशि-शोभित

विस्मित हो देखूँ मैं अतुलित
जीवन वैभव हे !

(ग) बढ़ो अभय विश्वासचरण धर !

जीवन के प्रति बढ़ती अनुराग की इसी भावना ने उन्हें इस बात पर बाध्य किया कि 'युगांत' में संकलित 'ताज' शीर्षक रचना में न वे ताजमहल का बाह्य सौंदर्य परख सके और न आंतरिक सौंदर्य। ताज को उन्होंने मृत्यु का शृंगार और मृत्यु का अमर पूजन बतलाकर मनुष्य की बुद्धि की निंदा की है। उस हृदय को जो उससे आकर्षित होता है उन्होंने मोह से अंधा हृदय बतलाया है—

हाय ! मृत्यु का ऐसा अमर, अपार्थिव पूजन ?
जब विषण्ण, निर्जीव पड़ा हो जग का जीवन !
मानव ! ऐसी भी विरक्ति क्या जीवन के प्रति ?
आत्मा का अपमान, प्रेत औ, छाया से रति !!
गत युग के मृत आदर्शों के ताज मनोहर
मानव के मोहांध हृदय में किए हुए घर !

इसी ताजमहल पर एक दूसरी रचना है रवीन्द्रनाथ ठाकुर की जो रम्यतम कल्पनाओं का कोष है। इसमें कवि का कहना है कि यह ताजमहल नहीं है, प्रेमी की अंतर्वेदना चिरंतन हो गई है, एक दीर्घ निःश्वास साकार हो गया है। मनुष्य सदैव नहीं रो सकता; अतः अपने अशांत क्रंदन को एक प्रेमी ने मौन बंधन में बाँध दिया। यह ताजमहल नहीं है, पाषाण में सौंदर्य का पुष्प खिला है। काल के कपोल पर यह आँसू की एक उजली बूँद है !

तब एक ही युग के दो समृद्ध-भाषाओं के दो महाकवियों के दृष्टिकोण में इतना अंतर !

ताजमहल पर भारत के एक तीसरे महान् साहित्यकार शरच्चंद्र की सम्मति है। 'शेष प्रश्न' में कमल के मुख से उन्होंने कहलाया है कि शाहजहाँ की और भी बेग़में थीं; अतः ताज प्रेम की अनन्यता की सृष्टि तो है नहीं। मुमताज़

की मृत्यु न होती तब भी ताज की सृष्टि शाहजहाँ के शिल्प-प्रेम और शिल्प-भावना की तुष्टि के लिए होती!

पन्त जी की भावना रवीन्द्रनाथ की अपेक्षा शरच्चंद्र के अधिक निकट है अर्थात् काव्य परिधि से दूर विचार क्षेत्र की है। पन्त और शरत् की भावनाएं अधिक सत्य हो सकती हैं; पर हैं विलक्षण धारणाएँ। संभव है ऐतिहासिक अनुसंधान से इनका अधिक संबंध हो, पर साहित्य से संबंध निश्चित रूप से कम है। यही कारण है कि पाठक के हृदय का रवीन्द्रनाथ की रचना से साधारणीकरण होता है, पन्त की रचना से नहीं। हृदय इस रचना में डूब ही नहीं पाता।

ताज को लेकर पन्त रवीन्द्रनाथ जैसी रम्य कल्पनाएँ नहीं कर सकते थे, ऐसा हम नहीं मानते। यदि पंत ने यह कविता उस समय लिखी होती जब उन्होंने 'अप्सरा' और 'भावी पत्नी के प्रति' रचनाएँ लिखी थीं, तो यह एक भिन्न प्रकार की अपूर्व माधुर्य से मंडित, रस-सिक्त रचना होती; पर 'युगांत' में पन्त जी चिंतन-प्रधान हो गए हैं और वस्तुओं को एक विशेष दृष्टिकोण से देखने लगे हैं। यह इस रचना से ही स्पष्ट है कि कवि की भावना यहाँ स्वतंत्र नहीं है। वह जग-जीवन की चिन्ता से ग्रस्त है। नग्न, क्षुधातुर, वासविहीन प्राणी उसकी आँखों में झूल रहे हैं। ऐसी दशा में ताज को रोमांस की दृष्टि से देखना संभव नहीं था। प्रारंभ से अंत तक यह रचना तुलनामूलक है। तुलना है मृत्यु और जीवन में, आत्मा और शव में, वैभवशालियों की तृप्ति और विषण्ण जीवन में! कवि का पक्ष वही है जो एक सहृदय उदार मानव का हो सकता है। मानवता का प्रत्येक समर्थक उनके इस दृष्टिकोण का समर्थन करेगा। परन्तु इतना फिर भी स्वीकार करना पड़ेगा कि इस रचना में पन्त जी बुद्धिवादी के रूप में अधिक आते हैं। शरत् की कमल के मुख से भी जो वैसी बातें निकली हैं, वे भी इसीलिये कि 'शेष प्रश्न' की कमल भी उत्कट बुद्धिवादिनी है। काशी में एक बार जब एक इक्के में मैंने बैठने से यह कहकर 'ना' की कि उसका घोड़ा मरियल सा लगता है, तो इक्के वाले ने मुझे सम-

झाया हुजूर, घोड़े की हड्डियाँ न गिनें इसकी चाल देखें। यों बहुत आँख के पास लाने से अपनी हसीन महरिया भी बुरी दिखाई देने लगती है!

वैसे सामान्य रूप से जीवन की कल्पना पन्त जी ने अखंड सुन्दरता के रूप में ही की है—

सुन्दर से नित सुन्दरतर,
सुन्दरतर से सुन्दरतम,
सुन्दर जीवन का क्रम रे
सुन्दर सुन्दर जग-जीवन!

जीवन के प्रति ऐसा स्वस्थ दृष्टिकोण होते ही व्यक्ति को चारों ओर सौंदर्य, आनन्द और मङ्गल की वृष्टि होती दिखाई देती है—

गाता खग प्रातः उठकर—
सुन्दर सुखमय जग-जीवन!
गाता खग संध्या-तट पर—
मंगल, मधुमय जग-जीवन!

हँसमुख प्रसून सिखलाते
पल भर है, जो हँस पाओ,
अपने उर की सौरभ से
जग का आँगन-भर जाओ।

पन्त जी का केवल इतना ही विश्वास नहीं है कि व्यक्ति की आंतरिक धारणा से उसका बाह्य-जीवन परिचालित होता है, वरन् वे यह भी मानते प्रतीत होते हैं कि यदि उसका बाह्य जीवन सुन्दर होगा तो आंतरिक जीवन भी सुन्दरता से जगमगा उठेगा—

(अ) सुन्दर विश्वासों से ही
बनता रे सुखमय-जीवन,
(आ) रम्य रूप निर्माण करो हे,
रम्य वस्त्र परिधान,

रम्य बनाओ गृह, जनपद को,
रम्य नगर, जनस्थान!
रम्य सृष्टि हो रूप जगत की,
रम्य धरा शृंगार,
बाह्य रूप हो रम्य वस्तु का,
होंगे रम्य विचार!

जीवन को लेकर 'स्वर्ण किरण' में पन्त जी की एक अत्यंत महत्वपूर्ण रचना है—स्वर्णोदय। इसमें उन्होंने शरीर की विभिन्न अवस्थाओं का चित्रण सूक्ष्मता के साथ किया है। इन अवस्थाओं का नाम है जन्म, किशोरावस्था, यौवन, प्रौढ़ावस्था, जरा और मृत्यु। कहने की आवश्यकता नहीं कि सम्पूर्ण जीवन को अंकित करने के लिए इतना विशाल पट हिंदी में पहली बार यदि किसी ने लिया है तो पं० सुमित्रानंदन पन्त ने।

यह रचना जितनी वर्णन-प्रधान है उतनी ही विचार-प्रधान। भाव और चिंतन का इसमें अपूर्व सम्मिश्रण है। बच्चे का जन्म होता है, उसके जन्म पर प्रसन्नता मनाई जा रही है, उसके लिये लोरी गाई जा रही है। कवि देखता है बच्चा पाँव फेंक रहा है, उसका क्रंदन अस्फुट स्वर में बदल रहा है, वह कभी-कभी मुस्कराता है। और बड़ा होकर वह चंदा को ताकता रह जाता है, दीप-शिखा की ओर हाथ नचाता है, चिड़ियों को पास बुलाता है। वह धीरे-धीरे घुटनों के बल चलता है। यह सब तो ठीक है, पर जैसा ऊपर संकेत कर चुके हैं अपनी सभी रचनाओं के समान कवि स्थान-स्थान पर इसमें भी चिंतनशील हो जाता है। सत्य यह है कि अपने चिंतन को अभिव्यक्ति देने के लिए ही कवि ने इस विषय को चुना है। कवि की दृष्टि से शिशु अमर-जीवन-यात्री है जो संसार में यात्रा करने आया है। मा के गर्भ से मुक्ति पाने वाले बच्चे के लिए वह कहता है—

जयति, प्रथम जीवन स्वर्णोदय,
रक्त-स्फीत, लो दिशा का हृदय!
काल तमस व्यवधान चीर कर

किसने मारा यह स्वर्णिमशर ?
जय अमर्त्य जीवन यात्री, जय !
गुहा-बद्ध चिर स्रोत हो स्खलित
जीवन पथ में हुआ प्रवाहित !
मुक्त अरूप रूप धर सीमित !

(२)

यह अनन्त यात्रा का रे पथ;
शिशु अनंत का यात्री शाश्वत,
वह अनादि से नित्य नवागत,
अपने ही घर का अभ्यागत !
सूर्य चन्द्र उसके ही लोचन,
श्वसन उसी के उर का स्पंदन;
उसका आत्म-प्रसार दिशा क्षण,
आदि सृष्टि का कारण,
शिशु अनंत का पांथ चिरंतन !

इस रचना का कुछ अंश वर्ड्सवर्थ की 'अमरता के संदेश' शीर्षक कविता से विलक्षण साम्य रखता है। वर्ड्सवर्थ ने भी शिशु को खेल खिलौनों के बीच देखते हुए उसे अनंत का यात्री बतलाया है—

Our birth is but a sleep and a forgetting;
The soul that rises with us, our life's star,
Hath had elsewhere its setting.
And cometh from afar.

वर्ड्सवर्थ और पन्त दोनों की रचनाएँ दो कारणों से उद्भूत हुई हैं। वर्ड्सवर्थ पाता है कि प्रकृति में जिस स्वर्गीय आलोक के दर्शन वह एक दिन किया करता था, अब नहीं कर पाता। पता नहीं क्यों प्रकृति अब उसे पहले जैसी स्वप्नमयी, सौंदर्यमयी, आलोकमयी, आनंदमयी प्रतीत नहीं होती। इसका रहस्य जानने के लिए वह रात-दिन आकुल रहता है। पर एक दिन

अपने प्रश्न का उत्तर उसे मिलता है और उस शंका का समाधान ही वह पूरी रचना है। कवि का कहना है कि आत्मा किसी अन्य लोक की निवासिनी है। बचपन में तो उस आलोक के दर्शन शिशु को होते रहते हैं; पर जैसे-जैसे वह बड़ा होता है, वैसे-वैसे उस आलोक से वह दूर होता चला जाता है। जैसे ही वह कुछ बड़ा हुआ कि धरती अपने आकर्षण से उसका मन अपनी ओर खींचती है—

Earth fills her lap with pleasures of her own.
Yearning she hath in her own natural kind,
And, even with something of a mother's mind...

अँग्रेजी कवि की प्रेरणा का स्रोत जैसे प्रकृति रही है, वैसे ही पन्त जी की प्रेरणा का स्रोत है एक विशेष प्रकार की विचार-धारा। पर जो बात धरती के संबंध में ऊपर वर्ड्सवर्थ ने कही है, वही बात पन्त जी भी किशोरावस्था के वर्णन के प्रारंभ में कहते हैं—

रूप रंगों में रहीं पुकार
पल्लवित विश्व प्रकृति की डाल,
पहन नव जीवन-ज्वाल !

इस अवस्था में प्रकृति की एक-एक वस्तु नवीन और हर्ष से युक्त लगती है। बचपन की विस्मय-भावना तब न जाने कहाँ चली जाती है। समान अवस्था वालों के साथ मैत्री स्थापित करने को मन करता है। नवीन अभिलाषाएँ जन्म लेती हैं और उन अभिलाषाओं को व्यक्त करने के लिए भाषा प्राणी को पहली बार इसी अवस्था में प्राप्त होती है। इन परिवर्तनों को देखकर कवि सोचता ही रह जाता है—

स्पर्श जगत में था जो जीवित,
स्वाद मात्र से बस कुछ परिचित,
स्वप्न लोक के उस वासी में
कैसे जागी बुद्धि, भावना, स्मृति, जिज्ञासा ?

Library Sri Pratap College, Srinagar.

कौन मिटाए ज्ञान पिपासा !
बोध निहित था क्या उर भीतर,
अथवा व्याप्त विश्व में बाहर ?
छिपा बिंदु में था क्या सागर,
बाह्य परिस्थितियों पर शिशु-विकास या निर्भर ?
बढ़ते या वे बहिरंतर की प्रतिक्रियाओं से लोकोत्तर ?
कहीं नहीं क्या सम्यक् उत्तर !

आगे यौवन का काल है जहाँ प्रकृति पर दृष्टि पड़ती है तो कोकिल कूकती है, मधुकर फूलों को चूमता है, पवन पुष्पों की गंध लेकर बह रहा है, जहाँ लहरें थिरकती हैं और लताएँ काँपती हैं ! रमणी की सुकुमारता, सुन्दरता और आकर्षण-शक्ति का वर्णन करने में पंत जी ने अपनी सारी कल्पना-शक्ति को यहाँ लगा दिया है। आकर्षण होता है, प्रेमी और प्रेमिका मिलते हैं और एक दिन पति-पत्नी बनकर अपनी गोद में एक नवीन शिशु को खिलाते हैं। उनका आँगन किलक और आनंद से भर जाता है। इस वर्णन में देखने की बात यह है कि कवि अपनी भावना के बहाव में कर्म के सौंदर्य को नहीं भूलता। बदल सके या न बदल सके पर यौवन संसार को बदलने के स्वप्न देखता अवश्य है—

अह, क्या करती रहीं पलित पीढ़ियाँ आज तक,
रक्त पंक जन धरणी का इतिहास भयानक !
रोग शोक, मिथ्या विश्वास, अविद्या व्यापक,
नंगे भूखे लूलों का जग हृदय विदारक !
कौन रहे इस क्रूर सभ्यता के संस्थापक,
यह जन-नरक कलंक मनुजता का, भू पातक !
बदलेंगे हम चिर विषण्ण वसुधा का आनन,
विद्युत् गति से लावेंगे जग में परिवर्तन !

प्रौढ़ावस्था में पहिली चिंता होती है—संतान की उचित शिक्षा-दीक्षा की। पति-पत्नी अब अपने चारों ओर की समस्याओं पर भी थोड़ा विचार करते हैं।

वे प्रायः यही सोचते हैं कि संसार को रहने योग्य कैसे बनाया जा सकता है। जीवन परोपकार में रत होना चाहता है और मन अधिक ईश्वर-विश्वासी हो जाता है। कवि की दृष्टि से प्रौढ़ व्यक्ति का चिंतन कुछ-कुछ इस प्रकार का रूप धारण करता है—

मध्य बिंदु क्या बहिरंतर का ? भव क्या प्रगति निरंतर ?
क्या हूँ मैं, क्या जग, क्या जीवन ? क्या कुछ इनसे भी पर ?
सदाचार क्या धर्म ? जगत में क्यों हैं विविध मतांतर ?
क्या है मिथ्या सत्य, मान जीवन के जिन पर निर्भर ?
दृश्य जगत औ, मन से पर क्या आत्मा नित्य, अगोचर ?
विकसित हुआ स्वयं यह भव, या इसका सृष्टा ईश्वर ?
क्या जड़, क्या चेतन ? मंथित अब जिज्ञासा से अंतर,
विद्युत् सी हो स्फुरित प्रेरणा देती ज्यों कुछ उत्तर !

और इस यात्रा का अन्तिम चरण है जरावस्था। एक ओर जीवन तृप्त है—सभी भोग तो भोग लिए हैं। घर धन-धान्य, पुत्र-पौत्रों से भरा है। दूसरी ओर शरीर में शक्ति नहीं रही, स्वप्नों के स्थान पर सत्य से परिचय हो गया, जीवन मृत्यु के मुख में जा रहा है, इस बात का आभास मिलने लगा। ऐसी दशा में अध्यात्म-चिंतन की मात्रा कुछ और बढ़ जाती है। प्राणी अपने अंतिम दिनों में शांति, परम शांति की कामना करने लगता है। परन्तु व्यष्टि की शांति समष्टि की शांति से ऐसी बँधी है कि जब तक विश्व में शांति स्थापित होने का कोई उपाय नहीं निकल आता, तब तक व्यक्ति को भी पूर्ण शांति नहीं मिल सकती। वृद्ध सोचता है—वृद्ध क्या सोचता है यहाँ स्पष्ट रूप से पंत जी सोच रहे हैं—विश्व-भावना ही शांति का एक मात्र उपाय है—

वृथा पूर्व पश्चिम का दिग् भ्रम
मानवता को करे न खंडित,
बहिर्नयन विज्ञान हो महत्,
अंतर्दृष्टि ज्ञान से योजित !

पश्चिम का जीवन सौष्टव हो
विकसित विश्व-तंत्र में वितरित,
प्राची के नव आत्मोदय से
स्वर्ण द्रवित भू तमस तिरोहित !

सर्वोपरि मानव संस्कृत बन
मानवता के प्रति हो प्रेरित,
द्रव्य मान पद यश कुटुम्ब कुल
वर्ग राष्ट्र में रहे न सीमित !
एक निखिल धरणी का जीवन
एक मनुजता का संघर्षण,
विपुल ज्ञान संग्रह भव पथ का
विश्व क्षेत्र का करे उन्नयन !

जीवन के संबंध में एक तीसरी रचना 'विनय-पत्रिका' में गोस्वामी तुलसीदास की है। पंत और वर्ड्सवर्थ से पहली समानता इस रचना की यह है कि तुलसीदास ने भी यह माना है कि आत्मा परमात्मा से पृथक होकर पृथ्वी पर यात्रा करने आती है, पर माया के वशीभूत हो वह अनेक प्रकार के कष्ट उठाती है। पहला कष्ट प्राणी उठाता है मा के गर्भ में, जहाँ वह उलटा लटका रहता है, जहाँ चारों ओर रक्त, कीट, मल और मूत्र से घिरा रहता है। पृथ्वी पर आते ही वह रोता है; पर संसार है कि उसके उस रोने पर भी प्रसन्नता मनाता है। दूसरा दुःख है यह कि यौवन में युवती के संसर्ग में आ मोह के वशीभूत हो वह रात-दिन मर्यादाहीन होकर अघ कमाता है। वृद्धावस्था में तो वह स्पष्ट ही सबके अनादर का पात्र बनता है। पर यह तो एक जन्म की बात है। अनेक जन्मों में जो त्रिविध प्रकार के वह कष्ट भोगता है, उन्हें कौन गिनावे !

इन तीनों रचनाओं में पन्त जी की रचना निश्चित रूप से श्रेष्ठतम है। एक तो इसलिए कि उनका विषय तुलसी और वर्ड्सवर्थ दोनों से अधिक व्यापक है और दूसरे इसलिए भी कि उनका जीवन दर्शन अपेक्षाकृत अधिक गंभीर, सहज-ग्राह्य और सरस है। तुलसीदास का उद्देश्य तो जीवन के प्रति विरक्ति

उत्पन्न करना है। यह ठीक है कि यह विरक्ति इसलिए उत्पन्न कराई गई है कि व्यक्ति स्वयं को भगवान के चरणों में अर्पित करे। मैं यह मानने को तैयार हूँ कि उद्देश्य उनका भी गंभीरतर है; पर मैं यह कहने के लिए भी बाध्य हूँ कि यह जीवन के प्रति अन्याय करना है। वर्ड्सवर्थ की भावना तुलसी से मुझे अधिक स्वाभाविक प्रतीत होती है। वर्ड्सवर्थ का उद्देश्य अपनी खोई हुई वृत्ति को फिर प्राप्त करना है। वसंत के दिनों में प्रकृति प्रसन्न है, संसार प्रसन्न है, पर कवि का हृदय उदास है। वह अनुभव करता है कि प्रकृति और लोक की प्रसन्नता में वह जो योग नहीं दे पा रहा, यह उसी की किसी कमी के कारण है। कविता के अंत में वह चिंतन के द्वारा मन के स्वाभाविक स्वास्थ्य को प्राप्त करता है और प्रकृति एवं जीवन के आनंद में योग देता है। इस रचना का केन्द्र कवि स्वयं है। बचपन के संबंध में थोड़ा दार्शनिक चिंतन करके वह अपनी बात समाप्त करता है। परन्तु पन्त जी की चिंता-धारा ने जन्म, बचपन, किशोरावस्था, यौवन, प्रौढ़ावस्था, जरा और मरण पर समान रूप से प्रकाश डाला है और यह अत्यन्त विदग्धता से सिद्ध किया है कि जीवन की सभी अवस्थाएँ आवश्यक और उपयोगी हैं। बच्चा तो सोचे ही क्या? किशोर है कि अल्हड़पन में सोचता ही नहीं। युवक प्रेम के संबंध में सोचता है। प्रौढ़ संसार के सम्बन्ध में। वृद्ध मृत्यु पर। कला के सम्बन्ध में भी यह बात देखने योग्य है कि बचपन की तुलना वसन्त के प्रारम्भ से, किशोरावस्था की वसन्त से, यौवन की ग्रीष्म और वर्षा के आवेग से, प्रौढ़ावस्था की शांत निर्मल शरद से और जरा की पतझर से की गई है। 'पल्लव' के 'परिवर्तन' के समान 'स्वर्ण किरण' की यह 'स्वर्णोदय' रचना भी पंत जी की अत्यन्त प्रौढ़, गंभीर और सफल रचनाओं में से है, इसमें सन्देह नहीं।

विश्व-भावना

पन्त जी का विचार जगत कभी भी सीमित नहीं रहा। वीणा काल से ही समग्र विश्व उनके चिंतन का विषय बन गया था। संसार को लेकर उनकी चिंता-धारा समय-समय पर उनके अनेक ग्रंथों में अनेक रूपों में फूट पड़ी है।

थोड़ा वैज्ञानिक आधार देते हुए सृष्टि-रचना के संबंध में 'उत्तरा' में वे विस्मय के साथ प्रश्न करते हैं—

किसकी लय में घूम-घूम
बन गए स्वयं तुम भास्वर
ओ नीरव नीहार, ज्योति पिंडों में
अगणित हँसकर।
कौन सत्य वह ? महाशून्य तुम
जिससे गर्भित होकर
महाविश्व में बदल गए
धारण कर निखिल चराचर !
पद्म-पत्र पर तुहिन स्वप्न-सा
हँसमुख, चंचल, सुन्दर
किसने जीवन का सम्मोहन
दिया मर्त्य-भव में भर !

इस गीत के अंतिम छंद में यहाँ जो जीवन की व्याख्या की गई है वह रम्य कल्पना मात्र है। संभव है सृष्टि के प्रारम्भ में जीवन कल्पना जैसा रम्य रहा हो, पर आज उसकी गति बदल गई है और इसी से कवि का उत्तरदायित्व भी बढ़ गया है। मनुष्य ने अब तक क्या किया है, इसके दो रूप देखिए—

(१) शत बाहुवाद, शत नामरूप
शत मन, इच्छा, वाणी विचार,
शत रागद्वेष, शत क्षुधाकाम,—
यह जगजीवन का अंधकार !
शत मिथ्या वादविवाद, तर्क,
शत रूढ़िनीति, शत धर्मद्वार,
शिक्षा, संस्कृति, संस्था, समाज,—
यह पशुमानव का अहंकार !

(२) आज आत्मघाती वह, अपने ही हाथों से
महाजाति का महामरण निर्माण कर रहा
भौतिक रासायनिक चमत्कारों से अगणित !
तर्क नियंत्रित यांत्रिकता के पद प्रहार से
ध्वस्त हो रहे अन्तर्मन के सूक्ष्म संगठन
सत्यों के, आदर्शों के, भावों, स्वप्नों के
श्रद्धा विश्वासों के, संयम तप साधन के,—
मनुष्यत्व निर्भर है जिन ज्योतिस्तंभों पर !

विनाश के मुख में जाते इस संसार को बचाने के लिए, इसे सुखी देखने के लिए, इसे सुन्दर बनाने के लिए पन्त जी बहुत आकुल हैं। यह आकुलता कहीं भावना, कहीं इच्छा, कहीं आकांक्षा और कहीं आशा के रूप में फूट पड़ी है ! देखिए—

(क) तप रे मधुर मधुर मन !
विश्व-वेदना में तप प्रतिपल,
जग-जीवन की ज्वाला में गल।

(ख) नव ऊषा-संध्या अभिनंदित
नव नव ऋतुमयि भू, शशि-शोभित,
विस्मित हो, देखूँ मैं अतुलित
जीवन वैभव हे !

(ग) झर पड़ता जीवन डाली से
मैं पतझड़ का सा जीर्णपात !
केवल, केवल जग-कानन में
लाने फिर से मधु का प्रभात !

(घ) जो सोए स्वप्नों के तम में
वे जागेंगे—यह सत्य बात
जो देख चुके जीवननिशीथ
वे देखेंगे जीवनप्रभात !

युग-युग की, विशेष रूप से आज की समस्याओं का समाधान क्या है, इस पर कुछ विचार पन्त जी ने 'स्वर्ण किरण' की 'इन्द्रधनुष' रचना में किया है। जैसा कवि ने स्वयं स्पष्ट कर दिया है, 'इन्द्रधनुष' 'जीवन-निर्माण' का प्रतीक है। कवि सदैव से आशावादी रहा है, अतः वह एक ओर आकाश में घटाओं को घिरते हुए देखता है, तो दूसरी ओर इंद्रधनुष की आभा भी उसकी आँखों से नहीं छिपी है; एक ओर आकाश का गर्जन-तर्जन सुनता है, तो दूसरी ओर उसे पूर्ण विश्वास है कि धरती पर हरियाली छायेगी। वह देखता है कि आज मनुष्य शक्ति का स्वामी है और वह यह भी जानता है कि शक्ति का सदुपयोग भी हो सकता है और दुरुपयोग भी; अतः उसकी वास्तविक चिंता है यह कि मनुष्य की शक्ति का उपयोग विनाश के लिए न होकर सृजन की दिशा में हो।

कवि ने इस रचना में तीन आवश्यकताओं पर बल दिया है—

(१) पेट के लिए श्रम की आवश्यकता पर।

(२) प्राण के लिए स्वस्थ प्रेम की आवश्यकता पर।

(३) बुद्धि के विकास के लिए शिक्षा—विशेष रूप से ललित कलाओं के परिशीलन की आवश्यकता पर।

पर आज सबसे बड़ी आवश्यकता है आत्मा के विकास की। मनुष्य की बहिर्चेतना आज जितनी जाग्रत है, अंतर्चेतना उतनी ही सुप्त। उसने रोग का निदान अत्यंत स्पष्टता से किया है—

भौतिक वैभव औ' आत्मिक ऐश्वर्य नहीं संयोजित,
दर्शन औ' विज्ञान विश्वजीवन में नहीं समन्वित।

और जिस समय मनुष्य के जीवन की तुलना प्रकृति के जीवन से वह करता है उस समय मानव-जग का सौंदर्य आनन्द और वैभव कितना फीका लगता है!

देखो हे, ऐश्वर्य प्रकृति का, उसका प्रति अणु जीवित,
उसका श्री सौंदर्य अमित, वह सृजन हर्ष आंदोलित!

नाच रही भू हरित यौवना ज्योति ग्रहों से वेष्टित
बाहु पाश में बाँध धरा को वारिधि चिर उद्वेलित !
सायं प्रात: गाकर खग करते जीवन अभिनन्दन,
सुख से सर्पित मुखर स्रोत नित, प्रीति स्रवित पिक कूजन !
संध्या ऊषा स्वर्णिम जीवन वैभव से चिर शोभन
ज्योत्स्ना में सोई भू को नभ तकता अपलक लोचन !
नील गगन में सुरधनु घन, घन उर में चपला कम्पित,
तरुओं पर कलि कुसुम, कुसुममें मधु, मधु पर अलि गुञ्जित,
सरसी में जल, जल में लहर, लहर किरणों से चुम्बित
केवल मानव उर अन्तर-सौरभ से आज न सुरभित !

अंत में कवि का कहना यह है कि मानव-जाति का कल्याण इस बात में निहित है कि अब मनुष्य व्यक्ति, समाज या देश के रूप में न सोचकर विश्व के रूप में सोचे और समस्त पृथ्वी के मंगल में ही अपना मंगल समझे—

महा प्राण रे विश्व चेतना हमें चाहिए केवल,
भू मंगल के साथ आज परिणीत व्यक्ति का मंगल !

अध्यात्म

पन्त जी ने उस परम तत्त्व को प्रेम का विषय बनाया है, यह रहस्यवाद के अंतर्गत दिखा चुके हैं; परन्तु जहाँ भावना माधुर्य-भाव की कोटि तक नहीं पहुँची, ऐसी रचनाएँ भी पंत जी की कृतियों में बिखरी पड़ी हैं। इनकी गणना अध्यात्म-चिंतन के अंतर्गत होगी। 'वीणा' में एक रचना है—श्रूयते हि पुरा लोके। इसमें पंत जी ने माना है कि मनुष्य एक पथिक है, यह संसार एक पथ और इस जग के परे सौंदर्य और आनंद का एक लोक है जहाँ उसे पहुँचना है। परन्तु जैसे मरीचिका में मृग भटक जाता है वैसे ही साधक भी पथ में ही भटक कर रह जाता है—

उस छवि के मंजुल उपवन को
इस मरु से पथ जाता है,

पर मरीचिका से मोहित हो
मृग मग में दुख पाता है!

इसी प्रकार 'युगांत' की छाया कविता में भी ब्रह्म को अज्ञेय सिद्ध करता हुआ कवि अद्वैतवाद के आधार पर जीव ब्रह्म की एकता की ओर संकेत करता है। ईश्वर क्यों नहीं दिखाई देता, इस बात को वह अत्यंत सहजभाव से सिद्ध करता है—

पट पर पट केवल तम अपार
पट पर पट खुले, न मिला पार!
सखि, हटा अपरिचय अन्धकार
खोलो रहस्य के मर्म द्वार।
मैं हार गया तह छील छील,
आँखों से प्रिय छवि लील लील,
मैं हूँ या तुम ? यह कैसा छल!
या हम दोनों, दोनों के बल ?
हम दो भी हैं या नित्य एक ?
तब कोई किसको सके देख ?

ये दोनों रचनायें प्राचीन भारतीय दार्शनिक विचार-धारा पर आधारित हैं और पन्त जी का स्वतन्त्र चिंतन व्यक्त नहीं करतीं। संसार को माया समझकर उसका तिरस्कार करना या ब्रह्म को एकमात्र सत्य मान कर सब कुछ मिथ्या घोषित करना कितने ही गम्भीर चिंतन की बातें समझी जावें, पर हैं वे जीवन और काव्य के लिए अनुपयुक्त। जो लोग जीवन को अनुराग की दृष्टि से देखते हैं उनका मन बहुत गहरे चिंतन में उतर कर घबराने लगता है। अधिक बुद्धिवादी होना जीवन के रस को खोना है! इस दृष्टि से 'गुंजन' की एक रचना जिसमें कवि चिंतन से तो विमुख नहीं होता, पर मात्र चिंतन को ही सब कुछ नहीं समझता, बड़ी रम्य बन पड़ी है। जीवन का सौंदर्य यदि सतह पर ही देखने को मिल जाय तो क्यों उससे वंचित रहा जाय ?

सुनता हूँ इस निस्तल जल में
रहती मछली मोतीवाली,
पर मुझे डूबने का भय है
भाती तट की चल-जल-माली !
आएगी मेरे पुलिनों पर
वह मोती की मछली सुन्दर,
मैं लहरों के तट पर बैठा
देखूँगा उसकी छवि जी भर।

यह भावना उस बात के विरोध में खड़ी की गई है जिसमें कहा गया है—

जिन खोजा तिन पाइयाँ, गहरे पानी पैठ,
मैं बौरी डूबन डरी, रही किनारे बैठ !

यों दोनों भावनाएँ ही अपने-अपने क्षेत्र में ठीक हैं—एक अध्यात्म के क्षेत्र की है, दूसरी लौकिक जगत की, एक असाधारण व्यक्तियों के लिए है, दूसरी जन-सामान्य के लिए। पर किनारे पर भी व्यक्ति केवल विवश बैठा रहे ऐसी बात नहीं। तट भी कम आकर्षक नहीं होता, यह पन्त जी ने ऊपर सिद्ध कर दिया है।

प्राचीन दार्शनिकों से यह पहला मतभेद हुआ और मैं समझता हूँ जीवन के पक्ष में यह स्वस्थ मतभेद है। जीवन के चारों ओर गहरी गम्भीरता फैला देना जीवन के प्रसन्न मुख को मलिन करना है।

स्मरण रखना चाहिए कि यह अध्यात्म का तिरस्कार नहीं है। कवि जीवन में ही प्राप्ति चाहता है। जीवन के तट पर बैठा-बैठा ही वह लहरों पर तैरने वाले मोती की कांति देखेगा !

इसी प्रकार 'युगांत' में वह जड़ता को भी चेतन के समान महत्ता प्रदान करता है। परम सत्य को अब तक केवल चेतन कहा गया हैं, पर कवि उसे जड़-चेतन दोनों कहता है। अपनी बात को पुष्ट करने के लिए उसने इतना

सरल और परिचित उदाहरण दिया है कि व्याख्या करने की आवश्यकता नहीं—

ए मिट्टी के ढेले अजान!
तू जड़ अथवा चेतना-प्राण?
कितने तृण, पौधे, मुकुल, सुमन,
संसृति के रूप रंग मोहन,
ढीले कर तेरे जड़ बन्धन
आए औ' गए!
खुल गया शून्यमय अवगुण्ठन
अज्ञेय सत्य तू जड़चेतन!

इसी प्रकार 'स्वर्ण धूलि' में छाया प्रकाश अर्थात् ज्ञान-अज्ञान दोनों के अस्तित्व को कवि स्वीकार करता है—

ज्ञानी ध्यानी कहते, प्रकाश शाश्वत प्रकाश,
अज्ञानी मानी, छाया माया का विलास!
यदि छाया यह, किसकी छाया?
आभा, छाया जग क्यों आया?
मुझको लगता
मन में जगता,
यह छायाभा है अविच्छिन्न,
यह आँख मिचौनी चिर सुन्दर,
सुख दुख के इंद्रधनुष रंगों की
स्वप्न सृष्टि अज्ञेय, अमर!

'स्वर्ण धूलि' में ही एक दूसरी रचना है—मुक्ति बंधन। इसमें कहा गया है कि यदि जीव को बंधन में डाल दिया जायगा तो उसकी उड़ानें रुक जायँगी—और यदि उसे केवल उड़ने दिया जायगा तब भी उसका काम नहीं चल सकता, क्योंकि चारा-पानी लेने के लिए उसे पृथ्वी पर उतरना ही पड़ेगा। अतः मुक्ति के लिए बंधन बहुत आवश्यक है—

क्यों तुमने निज विहग गीत को,
दिया न जग का दाना पानी,
आज आर्त अंतर से उसके
उठती करुणा कातर वाणी !
उड़ता होता क्या न गगन में ?
चुगता होता दाने भू पर,
अपना उसे बनाने तुमने
लिए जीव के पंख ही कुतर !
क्यों तुमने निज गीत विहग को
दिया न भू का दाना-पानी,
उसके आर्त हृदय से फिर फिर !
उठती सुख की कातर वाणी !

इस प्रकार लौकिकता और अध्यात्म, जड़ता और चेतनता, अज्ञान और ज्ञान, बंधन और मुक्ति के बीच का जो मिला-जुला मार्ग कवि ने खोजा है, उसे कहाँ तक और कब मान्यता मिलेगी, कहा नहीं जा सकता; परन्तु इसमें संदेह नहीं कि सामान्य पाठक के हृदय को वह मार्ग सरल और सीधा प्रतीत होता है।

चेतना का प्रश्न

अपनी पिछली रचनाओं अर्थात् 'स्वर्ण किरण', 'स्वर्ण धूलि' और 'उत्तरा' में पंत जी ने एक नवीन स्वर छेड़ा है जिसे एक शब्द में चेतनावाद कहते हैं। इस दिशा में वे प्रसिद्ध दार्शनिक श्री अरविंद से बहुत प्रभावित हैं। अत्यत संक्षेप में बात इतनी सी है कि पश्चिम जहाँ भौतिक उन्नति की सीमा पर पहुँच गया, वहाँ उसने अध्यात्म-भाव का तिरस्कार किया और दूसरी ओर पूर्व ने ऐसी आध्यात्मिक उन्नति की कि संसार से ही विरक्त हो गया। उचित मार्ग यह है कि भौतिकवाद और अध्यात्मवाद का समन्वय हो। यदि व्यक्ति ने लौकिक उन्नति की है तो उसकी चेतना भी वैसी ही विकसित होनी चाहिये और यदि उसकी चेतना विकसित है तो उसे लौकिक सुख से भी मुँह नहीं मोड़ना

चाहिए। सामंजस्य का अभाव ही व्यक्ति, समाज, देश और विश्व की अशांति का मूल कारण है।

कवि 'स्वर्ण-धूलि और 'उत्तरा' में अपने ढंग से संसार की वर्तमान स्थिति का विवरण देता है—

(१) काले बादल जाति द्वेष के,
काले बादल विश्व क्लेश के
काले बादल उठते पथ पर
नव स्वतंत्रता के प्रवेश के!
आज दिशा है घोर अँधेरी,
नभ में गरज रही रण भेरी,
—स्वर्ण धूलि

(२) नृत्य कर रही क्रांति रक्त लहरों पर
घृणा द्वेष की उठीं आँधियाँ दुस्तर!
कौन रोक सकता उद्वेग प्रलयकर,
मर्त्यों की परवशता, मिटते कट मर!
नव्य चेतना का विरोध करते जन,
यह जड़त्व भू मन का अंध पुरातन,
ध्यान मौन आराधक, साधक, गायक,
सोच मग्न रे मनोजगत के नायक
आंदोलित मानवता के अभिभावक
विश्व क्रांति यह : आपद काल भयानक!
—उत्तरा

इस भयंकर स्थिति पर विजय प्राप्त करने के लिए कवि कभी भगवान से प्रार्थना करता है, कभी कामना करता है कि यह स्थिति कैसे ही दूर हो और कभी आशा करता है कि यह स्थिति अवश्य दूर होगी। यहीं तक नहीं अपने आशावाद के बल पर वह मान लेता है कि संसार की अशांति दूर हो गई है और वह एक नए युग में प्रवेश कर रहा है—

(क) गरज रहा उर व्यथा भार से
गीत बन रहा, रोदन,
आज तुम्हारी करुणा के हित
कातर धरती का मन !

(ख) क्या नहीं कोई कहीं ऐसा अमृत घन
जो धरा पर बरस भर दे भव्य जीवन !
जाति वर्गों से निखर जन
अमर प्रीति प्रतीति में बँध
पुण्य जीवन करें यापन,
औ' धरा हो ज्योति पावन !

(ग) ज्ञात मर्त्य की मुझे विवशता,
जन्म ले रही नव मानवता,
स्वप्न द्वार फिर खोल उषा ने
स्वर्ण विभा बरसाई ?

जहाँ पंत जी की व्यक्ति पर दृष्टि रहती है वहाँ व्यक्ति-चेतना, जहाँ समाज पर दृष्टि रहती है वहाँ सामाजिक-चेतना और जहाँ विश्व पर दृष्टि रहती है, वहाँ विश्व-चेतना की बात वे करते हैं। भारत में आध्यात्मिक उन्नति बहुत हो गई है, अतः यहाँ के निवासियों से जीवन सौंदर्य को पहचानने की बात कहते हैं, पश्चिम में भौतिक उन्नति चरम सीमा पर पहुँच गई है, अतः वहाँ के व्यक्तियों को आध्यात्मिक सौंदर्य को परखने का संदेश देते हैं। परन्तु सब मिलाकर आज का संसार भौतिकवाद की ओर ही तीव्र गति से बढ़ा जा रहा है, इसी से सांस्कृतिक चेतना के जागरण की बात उन्होंने स्थान-स्थान पर भिन्न-भिन्न रूपों में उठाई है।

इस चेतनावाद को व्यापक धरातल पर लागू करने के अतिरिक्त पन्त जी ने अपनी रचनाओं में व्यक्ति की चेतना के विकास पर भी ध्यान दिया है। ऐसा चेतनावाद व्यक्ति की साधना के अंतर्गत आता है। चेतना के विकसित होते ही साधक का हृदय दिव्य सौंदर्य, दिव्य माधुर्य और दिव्य

आनंद से परिपूरित हो जाता है, उसमें दिव्य पुरुष निवास करने लगता है। स्वर्ण धूलि से कुछ उदाहरण लीजिए—

(अ) यह वह नव लोक
जहाँ भरा रे अशोक
सूक्ष्म चिदालोक !
शोभा के नव पल्लव,
झरता नभ से मधु रव;
शाश्वत का पा अनुभव
मिटता उर शोक
स्वर्ग शांति ओक !

(आ) यहाँ तो झरते निर्झर,
स्वर्ण किरणों के निर्झर,
स्वर्ग सुषमा के निर्झर !

(इ) सजल मानस में मेरे
अप्सरी कैसे एरे !

(ई) नयन में दृष्टि किरण,
श्रवण में शब्द गगन,
हृदय के स्तर स्तर में
उदित वह दिव्य वपुष !
तमस में गिर न रँगा,
नींद से पुनः जगा,
मरण के आवरण से
प्रकट वह चिर अकलुष !

परन्तु जैसा पीछे कई स्थानों पर दिखा चुके हैं उनकी सभी प्रकार की धारणाएँ एक व्यवस्थित विचार-धारा के अनुशासन में चलती हैं। दो विरोधी भावनाओं को एकांगी घोषित करते हुए, उन दोनों को अपने में समेट कर भी सत्य को वे, उससे परे बतलाते हैं। यही उनकी मौलिकता है। भौतिकवादियों और अध्यात्मवादियों दोनों से वे कहते हैं—

तुम भाप उन्हें कहते हँसकर,
वे तुमको मिट्टी का ढेला :
वे उड़ सकते, तुम अड़ सकते
जीवन तुम दोनों का मेला !
फिर भी यदि जड़ता तुमको प्रिय,
उनको चेतनता; दुख नितांत,
है सत्य एक,—जो जड़ चेतन,
क्षर अक्षर, परम, अनंत सांत !
—उत्तरा

परिवर्तन

'पल्लव' में पंत जी की एक काफी लम्बी रचना है, नाम है 'परिवर्तन।' यह रचना उनकी अत्यन्त प्रसिद्ध रचनाओं में से एक है। भावना का वेग इसमें प्रारंभ से अंत तक बना हुआ है; अतः रचना समाप्त करने पर पाठक भटकता सा रह जाता है। उसकी इच्छा होती है कवि इस संबंध में कुछ और कहता। 'पल्लव' और 'गुंजन' के बीच की यह एक कड़ी है। यहीं से कवि प्रकृति के दृढ़ बन्धन से थोड़ा छुटकारा पा जीवन-चिंतन की ओर बढ़ता है। परिवर्तन पंत जी की पहली महत्वपूर्ण विचार-प्रधान रचना है। यह वह पहिली रचना है जिसमें कवि व्यापक दृष्टि से सृष्टि की घटनाओं पर विचार करता है।

आज वह दृष्टि-पथ में आई वस्तु से केवल प्रभाव ही ग्रहण नहीं करता, उसके संबन्ध में सोचता-विचारता भी है; अतः इसमें पहली उल्लेखनीय बात है कवि की तुलनात्मक दृष्टि। वह वर्तमान की तुलना अतीत से करता है। पूछता है अतीत के सौंदर्य, समृद्धि, सुख अब कहाँ हैं ? कहाँ गये वे ? इसी प्रकार वह आज की तुलना पिछले कल और आगामी कल से करता है, एक अवस्था की दूसरी अवस्था से करता है। मधुऋतु में पतझर छिपा है, वर्षा की नदी सूख जाती है, यौवन वृद्धावस्था में परिवर्तित हो जाता है, प्रभात की लालिमा संध्या की उदासी में बदल जाती है, प्रणय के चुम्बन आँख के आँसुओं का रूप धारण करते हैं, हास्य निश्वासों का। कभी कुछ दिखाई देता है कभी कुछ—

Library Sri Pratap Coll…
Srinagar

कभी जन्म कभी मृत्यु; कभी उत्सव कभी क्रंदन। यहाँ का सुख अस्थिर है, वैभव अस्थिर है। अकेला वह ही अस्थिर नहीं है, प्रकृति की वस्तुएँ—आकाश, समुद्र, पवन—भी अस्थिर हैं—

अचिरता देख जगत की आप
शून्य भरता समीर निःश्वास,
डालता पातों पर चुपचाप
ओस के आँसू नीलाकाश;
सिसक उठता समुद्र का मन,
सिहर उठते उडगन !

अपने इन निरीक्षणों में नियम की एकसूत्रता स्थापित करने के लिए कवि इस परिणाम पर पहुँचता है कि इन सारी बातों का मूल कारण परिवर्तन है। परिवर्तन को कवि ने 'निष्ठुर', 'निरंकुश', 'नृशंस' आदि बतलाया है। कवि की दृष्टि से सृष्टि का समस्त उत्थान-पतन परिवर्तन की इंगित से होता है। एक चित्र देखिए—

अहे दुर्जेय विश्वजित, !
नवाते शत सुरवर, नरनाथ
तुम्हारे इंद्रासन तल माथ,
घूमते शत शत भाग्य अनाथ
सतत रथ के चक्रों के साथ,

तुम नृशंस नृप से जगती पर चढ़ अनियंत्रित,
करते हो संसृति को उत्पीड़ित, पद मर्दित,
नग्न नगर कर, भग्न भवन, प्रतिमाएँ खंडित,
हर लेते हो विभव, कला, कौशल चिर संचित।
आधि, व्याधि, बहु वृष्टि, वात उत्पात, अमंगल
वह्नि, बाढ़, भूकंप—तुम्हारे विपुल सैन्य दल,
अहे निरंकुश ! पदाघात से जिनके विह्वल

हिल हिल उठता है टल मल
पद दलित धरा तल !

इसी प्रकार रोग, शोक, लोभ, हिंसा, दैन्य, संहार के अशुभ परिणाम भी उसने दिखाए हैं जिनके कारण संसार में अशांति छा गई है। पल भर के लिए संसार की समस्त सुन्दरता उसे नष्ट होती दिखाई देती है। प्रभात की लालिमा में रक्त की धारा, संध्या की लाली में चिता की लपटों, आकाश के रूप में पूँजीभूत निश्वासों और समुद्र के रूप में आँसुओं की अनंत राशि के उसे दर्शन होते हैं—

रुधिर के हैं जगती के प्रात,
चितानल के ये सायंकाल;
शून्य निश्वासों के आकाश
आँसुओं के ये सिंधु विशाल !

परन्तु काव्य की साधना व्यर्थ हो जाती यदि यह असंयमित भावना, विकृत दृष्टिकोण और अस्वस्थ विचारधारा बने रह जाते। अधिक गंभीरता से विचार करने पर विनाश के कल्याणकारी पक्ष पर भी उसकी दृष्टि जाती है और अभाव की महत्ता पर भी—

(अ) मूँदती नयन मृत्यु की रात
खोलती नव जीवन की प्रात
शिशिर की सर्व प्रलयकर वात
बीज बोती अज्ञात !

(आ) तरसते हैं हम आठों याम
इसी से सुख अति सरस, प्रकाम,
झेलते निशि दिन का संग्राम;
इसी से जय अभिराम;
बिना दुख के सब सब सुख निस्सार,
बिना आँसू के जीवन भार !

अंत में कवि इस परिणाम पर पहुँचता है कि यदि सुख दुःख में परिवर्तित हो जाता है तो दुःख भी तो सुख में बदल जाता है। सच बात यह है कि यह देखना ही चित्र के दोनों पक्षों को देखना है। यहाँ आकर कवि सृष्टि को विकसित और परिचालित करने वाले परिवर्तन की वास्तविक आवश्यकता का अनुभव करता है और उसे नित्य नवीनता का नाम देता हुआ दुःख की भावना को एकदम मिटा डालता है—

नवलता ही जग का आह्लाद !

इस प्रकार इस द्वन्द्वात्मक जगत के संबन्ध में पन्त जी के निम्नलिखित निष्कर्ष हैं :

(१) संसार का सुख स्थिर नहीं है, वह दुःख में परिवर्तित हो जाता है।

(२) ऐसा परिवर्तन के चिरंतन नियम के कारण होता है।

(३) इस नियम के कारण सुख ही दुःख में बदलता हो ऐसी बात नहीं है, दुःख भी सुख में बदल जाता है।

(४) परिवर्तन न हो तो जीवन जीने योग्य न रहे।

चौबीस वर्ष की अवस्था में ऐसे गंभीर और व्यवस्थित विचारों एवं ऐसी प्रौढ़ कला से युक्त रचना काव्य-जगत का एक चमत्कार ही कही जायगी।

सुख-दुःख

दुःख का पहला प्रभाव यह होता है कि मनुष्य उसी में इतना डूब जाता है कि उसके सोचने की शक्ति ही मारी जाती है; पर ज्यों ही आघात की शक्ति कुछ क्षीण होती है त्योंही मनुष्य की बिखरी विचार-धारा एकमुख होकर गंभीर चिंतन में लीन हो जाती है। दुःख जितने बड़े विचारों को जन्म दे सकता है, सुख उतनों को नहीं। 'ग्रंथि' इसका प्रमाण है। 'पल्लव' की 'उच्छ्वास' रचना की भी यही दशा है। वहाँ प्रेम के आघात ने नवयुवक कवि को अनेक दिशाओं में सोचने-विचारने का अवसर प्रदान किया है। कहीं बचपन, यौवन और वृद्धावस्था पर वह अपने विचार प्रकट करता है, कहीं कर्म की कठोरता और मन की कोमलता पर, कहीं प्रेम और संदेह पर। बड़ों की दुर्बलता पर कितनी चमत्कारपूर्ण बात वह कहता है—

बड़ों में दुर्बलता है शाप !

नहीं चल सकते गिरिवर राह,
न रुक सकता है सौरभ वाह !
तरल हो उठता उदधि अथाह,
सूर का दुःख देता है दाह !

देख हाय ! यह, उर से रह-रह निकल रही है आह,
व्यथा का रुकता नहीं प्रवाह !

—पल्लव

यह दुःख का एक पक्ष हुआ जहाँ वह व्यक्ति की चेतना को विकसित करता है; परन्तु दुःख का दूसरा पक्ष भी है जहाँ वह व्यक्ति की चेतना को दबा देता है—

आते कैसे सूने पल,
जीवन में ये सूने पल ?
जब लगता सब विशृंखल,
तृण, तरु, पृथ्वी, नभ-मंडल ।

खो देती उर की वीणा
झंकार मधुर जीवन की,
बस साँसों के तारों में
सोती स्मृति सूनेपन की ।

—गुंजन

दुःख को छोड़ कवि सुख की परीक्षा करता है । वह देखता है जीवन का वास्तविक साथी सुख ही हो सकता है । अपने हृदय की आकांक्षाओं को छोड़ जब वह जगत के हृदय की आकांक्षाओं की ओर दृष्टि डालता है तब पाता है कि वे भी सुख के लिए लालायित हैं । यहीं तक नहीं सृष्टि में चारों ओर वह आनन्द का नृत्य होते देखता है । देखिए—

(अ) आँसू की आँखों से मिल,
भर ही आते हैं लोचन,

हँसमुख ही से जीवन का
पर हो सकता अभिवादन ।

(आ) आँखों की खिड़की से उड़-उड़
आते ये आते मधुर विहग,
उर-उर से सुखमय भावों के
आते खग मेरे पास सुभग ।

(इ) कलरव किसको नहीं सुहाता ?
कौन नहीं इसको अपनाता ?

(ई) जीवन का उल्लास—
यह सिहर सिहर,
यह लहर, लहर,
यह फूल-फूल करता विलास !

परन्तु कवि देखता है कि जहाँ सुख भी एक सीमा से बढ़ा कि जीवन को सँभाल नहीं पाता। अतिशय सुख से भी जीवन की गति कुंठित हो जाती है—

अपने मधु में लिपटा पर
कर सकता मधुप न गुञ्जन

अतः सुख की महत्ता को कवि ने एक सीमा तक ही स्वीकार किया है। एक सीमा ही तक वह दुःख की महत्ता को भी स्वीकार करता है। उसका कहना है कि फूल काँटों में ही खिलता है, सोना तपकर ही निखरता है, पृथ्वी भीगकर ही उर्वरा होती है—

अपनी डाली के काँटे
वेधते नहीं अपना तन
सोने सा उज्ज्वल बनने
तपता नित प्राणों का धन,

अंत में जैसा पन्त जी का स्वभाव है सुख-दुःख के संबंध में वे एक साम-

जस्य की भावना से काम लेते हैं। निश्चित रूप से 'अति' सुख की भी बुरी है और दुःख की तो घातक है ही। पर मुझे संदेह ही है कि अतिशय सुख किसी को मिलता भी है। यों पंत जी जैसा चाहते हैं यदि वैसा हो जाता तो संसार अधिक सुखी होता—

मैं नहीं चाहता चिर सुख,
मैं नहीं चाहता चिर दुख;
सुख-दुख की खेल मिचौनी
खोले जीवन अपना मुख।

सुख-दुख के मधुर मिलन से
यह जीवन हो परिपूरण;
फिर घन से ओझल हो शशि।
फिर शशि से ओझल हो घन।

जग पीड़ित है अति दुख से,
जग पीड़ित रे अति सुख से,
मानव जग में बँट जावें
दुख सुख से औ' सुख दुख से।

सुख-दुःख के संबन्ध में यह समाधान जगत के सामान्य प्राणियों पर ही लागू होता है। पर कवि इससे भी ऊँचा उठकर सुख-दुःख का दार्शनिक विवेचन करता है और उनके सम्बन्ध में एक सत्य की घोषणा कर मौन हो जाता है—

अस्थिर है जग का सुख-दुख
जीवन ही नित्य चिरंतन !
सुख-दुख से ऊपर मन का
जीवन ही रे अवलम्बन !

मुक्ति और बन्धन

ऐसी ही समस्या मुक्ति और बन्धन की है। संसार में रहकर प्राणी कहाँ

तक स्वतंत्र रह सकता है और कहाँ तक वह बंधन में है, यह भी एक प्रश्न है। कुछ हैं जो किसी प्रकार का बन्धन स्वीकार करने को तैयार नहीं; सभी प्रकार की स्वतन्त्रता चाहते हैं वे। स्पष्ट है कि इस प्रकार की स्वतंत्रता, स्वच्छंदता या उच्छृंखलता के लिए जीवन में कोई स्थान नहीं। स्वतंत्रता के अधिकार के साथ बंधन के कर्तव्य की भावना बँधी हुई है। कवि इस बात को कितने विश्वसनीय प्रमाण के आधार पर सिद्ध करता है!

पैग़म्बर के एक शिष्य ने
पूछा, 'हज़रत, बन्दे को शक
है आज़ाद कहाँ तक इंसाँ
दुनिया में पाबन्द कहाँ तक?'
'खड़े रहो' बोले रसूल तब,
'अच्छा पैर उठाओ ऊपर'

'जैसा हुक्म!' मुरीद सामने
खड़ा हो गया एक पैर पर!
'ठीक, दूसरा पैर उठाओ'
बोले हँसकर नबी फिर तुरत,
बार बार गिर कहा शिष्य ने
'यह तो नामुमकिन है हज़रत!'

'हो आज़ाद यहाँ तक, कहता
तुमसे एक पैर उठ ऊपर,
बँधे हुए दुनिया से कहता
पैर दूसरा अड़ा ज़मीं पर!'
पैग़म्बर का था यह उत्तर।

—स्वर्ण धूलि

भाव और कल्पना के समान विचार भी काव्य का एक आवश्यक अंग है। श्रेष्ठ काव्य में मार्मिक भावों और उच्च कोटि की कल्पनाओं के साथ उत्कृष्ट विचारों का नियोजन कवि लोग सदैव से करते आये हैं। कल्पनाओं और विचारों की

महत्ता इस बात में निहित है कि वे स्वतन्त्र न होने पावें, भावानुमोदित रहें। काव्य-जीवन के आरम्भ में भावनाओं का वेग कुछ अधिक तीव्र होता है। पद साधना करते-करते जब कवि की कला कुछ अधिक परिपक्व हो जाती है, केवल उसी समय रम्य कल्पनाओं और सुन्दर विचारों का जन्म होता है। युगांत-काल से ही पन्त जी एक ऐसे स्वर्ण युग का स्वप्न देख रहे हैं जहाँ समस्त विषमताएँ मिट जायँ, जहाँ धरती पर स्वर्ग उतर आए, जहाँ मनुष्य ईश्वर हो जाय। मनुष्य की धरती जो अब तक असुन्दर रही है उसका मुख्य कारण है—असामंजस्य। उसे स्वप्न और सत्य में, सुख और दुःख में, बन्धन और मोक्ष में, राष्ट्रीयता और अन्तर्राष्ट्रीयता में, भौतिकवाद और अध्यात्मवाद में सामंजस्य स्थापित करना होगा। अपनी बात कहीं कवि ने कहानियों के माध्यम से जैसे, 'नरक में स्वर्ग' और कहीं व्यक्तित्वों के विश्लेषण—जैसे मुहम्मद साहब, मार्क्स, गांधी और अरविंद—द्वारा कही है। लोकोपयोगी आदर्शों का चुनाव वह कहीं से भी कर लेता है। यही कारण है कि अपनी कल्पना की तुष्टि के लिए उसने वैदिक मंत्रों का अनुवाद किया। इसमें कवि ने अग्नि, आदित्य, इन्द्र, वरुण आदि जिन देवताओं के स्तवन-गान चुने हैं वे ज्योति, शक्ति और आनन्द के प्रदाता हैं। ये बातें उसकी चेतनावाद की विचारधारा से पूरा मेल खाती हैं। राष्ट्र-प्रेम की व्यञ्जना पन्त जी की रचनाओं में कहीं-कहीं हुई है, पर हृदय से वे अन्तर्राष्ट्रीयता के समर्थक हैं। यहीं तक नहीं, अखिल विश्व की कल्याण-कामना से उनके गीत भरे हैं। वे उदार मानवता के पोषक हैं—

आओ, स्थितियों से लड़ें
साथ-साथ आगे बढ़ें;
भेद मिटेंगे निश्चय
ऐक्य की होगी जय !
जीवन का यह विकास,
आ रहे मनुज पास !
उठता उर से रव है,—
एक हम मानव हैं
भिन्न हम दानव हैं !

Library Sri Pratap College
Srinagar.

अपनी भावनाओं द्वारा कवि जहाँ पाठकों के हृदय को आंदोलित करता है, वहाँ वह अपने विचारों द्वारा उनकी चेतना का परिष्कार भी करता है। निम्न कोटि के कवि और उच्च कोटि के कवि में यही अन्तर है कि एक हमें वासनाओं के गर्त में ढकेल देता है, दूसरा उच्च विचारों के लोक में विचरण करने का अवसर देता है। 'अतिमा' में पन्त जी की कई विचार प्रधान रचनाएँ ऐसी हैं जो हमें तुच्छ, निकृष्ट और निराशावादी भावनाओं से मुक्त कर उच्च, उन्नत और आशावादी दृष्टिकोण प्रदान करती हैं। पहली महत्वपूर्ण रचना है—'आः धरती कितना देती है।' इसमें यह दिखलाने का प्रयत्न किया गया है कि यह धरती बड़ी उदार है; पर इसकी उदारता से लाभ वे ही उठा सकते हैं जिन्हें इस बात का ज्ञान है कि इसमें गलत चीज़ बोने का कुछ फल नहीं होता। पृथ्वी में उगने वाली चीज़ के बीज फेंकने से ही हम उसके फलने की आशा कर सकते हैं। एक व्यक्ति बचपन में—बचपन ही कहिए उसे—धरती में पैसे बोकर यह आशा करता है कि वे उगेंगे। परिणाम जो हुआ होगा, उसकी कल्पना की जा सकती है। यही व्यक्ति एक दिन आँगन के कोने में कौतूहलवश मिट्टी की गीली तह को उँगली से सहलाकर सेम के कुछ बीज उसमें दबा देता है और एक दिन आश्चर्य-चकित होकर देखता है कि वहाँ इतनी फलियाँ उगती हैं कि वे न केवल उसके लिए बल्कि पड़ोसियों, बन्धु-बान्धवों और मित्रों तक के लिए आवश्यकता से अधिक होती हैं। यह रचना लोभ के विरुद्ध उदारता का जीवन व्यतीत करने का ही उपदेश नहीं देती, वरन् छोटे पैमाने पर मानवता की भावना विकसित करने का संकेत भी करती है।

इस कृति की 'संदेश' शीर्षक रचना भी ऐसी ही सशक्त है।

एक दिन जाड़े की दोपहरी में कवि का मन किसी अज्ञात कारण से खोया-खोया-सा रहता है। इतने में उसे नींद आ जाती है और वह वहीं अपने कमरे में बिछे तख्त पर सो जाता है। उठता है तो मन को कुछ भारी सा पाता है। उसे लगता है वह जीवन में कुछ कर नहीं पाया। ठीक उसी समय उसकी दृष्टि खिड़की से आती हुई धूप के उस उजले अंश पर पड़ती है जो फर्श पर

चमक रही है। धूप थोड़ी देर कवि से बात करके और उसके अन्तर के अवसाद को मिटाकर अपनी कंचन की पालकी में आकाश को लौट जाती है।

इस रचना में कवि ने बड़ी विदग्धता और काव्य-पटुता के साथ एक स्वस्थ और आशावादी दृष्टिकोण की जीवन में प्रतिष्ठा की है। कहने का कौशल ऐसा है कि मर्म को छूता है। वास्तव में विचार प्रस्तुत करने का स्वाभाविक ढंग यही है।

मन में उगे हीनता-भाव को मिटाने के लिए धूप कवि को समझाती हुई कहती है—

क्या हुआ तुम्हें, ओ जीवन शोभा के गायक,
तुम ज्योति प्रीति आशा के स्वर बरसाते थे!—
उल्लास मधुरिमा, श्री सुषमा के छन्द गूँथ
तुम अमरों को कर स्वप्नमूर्त्त, धर लाते थे!
क्यों आज तुम्हारी वीणा वह निस्पंद पड़ी?
लो, मैं असीम का लाई हूँ सन्देश तुम्हें
आओ, फिर खुली प्रकृति की गोदी में बैठो,
फिर दिक् प्रसन्न जीवन के आँगन में खेलो—
उद्देश्यहीन भी रहना जहाँ मधुर लगता!
मन को विराट् की आत्मा से कर सर्वयुक्त
तुम प्यार करो, सुन्दरता से रहना सीखो,—
जो अपने में ही पूर्ण स्वयं है, लक्ष्य स्वयं!
कवि, यही महत्तर ध्येय मनुज के जीवन का।

इस प्रकार पन्त जी के अनुसार शरीर धारण करने का सबसे बड़ा उद्देश्य यह है कि व्यक्ति प्रकृति को प्यार करता हुआ सुन्दरता से जीवन व्यतीत करना सीखे।

कहीं-कहीं पन्त जी ने कुछ वस्तुओं के स्वभाव का वर्णन किया है और जीवन के क्रम में विकास की जिस सीमा-रेखा पर वे हैं उसका निर्देश भी। इससे क्या सत् है क्या असत् इसका ज्ञान हमें होता है। 'प्रकाश पतिंगे

छिपकलियाँ' एक ऐसी ही प्रतीकात्मक और संकेतात्मक रचना है। कहीं किसी वस्तु के वर्णन के बहाने जीर्ण रूढ़ियों के प्रति हमारी तिरस्कार-वृत्ति को भी उन्होंने जाग्रत किया है जैसे 'केंचुल' शीर्षक रचना में। इसी प्रकार 'स्वर्ण मृग' में विषयों की ओर उन्मुख रहने वाले मन को प्राचीन काल के सन्तों की भाँति धिक्कारने के स्थान पर उदार दृष्टि से देखा गया है। यह दृष्टि न केवल अधिक संगत, मानवीय और पूर्ण है, बल्कि मौलिक भी। अपनी एक छोटी-सी रचना 'आत्म दया' में कवि ने यह प्रस्ताव रखा है कि दुर्बल व्यक्ति के प्रति हमारे मन में क्षमा के स्थान पर, उसे प्यार करने की भावना होनी चाहिये। इन सभी रचनाओं में अपनी कला द्वारा व्यक्ति के अन्तःकरण को अधिक से अधिक निर्मल और उच्च बनाने का प्रयत्न करते हुए हम पन्त जी को पाते हैं।

ये रचनाएँ कई कोटियों में विभाजित की जा सकती हैं—

(१) वे रचनाएँ जिनमें किसी घटना का सहारा लिया गया है जैसे 'आः धरती कितना देती है' और 'सन्देश' आदि।

(२) वे रचनाएँ जिनमें प्रतीकों का प्रयोग किया गया है जैसे 'स्वर्ण मृग', 'केंचुल' तथा 'प्रकाश पतिंगे छिपकलियाँ' आदि।

(३) ऐसी रचनाएँ जिनमें पाठक के हृदय को सीधे छूने का प्रयत्न किया गया है जैसे 'आत्म दया' में।

इन रचनाओं में मुझे एक ही बात कुछ खटकती है और वह यह कि पन्त जी कहीं-कहीं कवि-कर्म भूलकर सीधे उपदेश देने लगते हैं। काव्य में जहाँ तक विचारों का सम्बन्ध है कवि की शक्ति इस बात में निहित रहती है कि वे मुखर न होकर केवल ध्वनित हों। 'आः धरती कितना देती है' में जो हमारी दृष्टि से 'अतिमा' की सफल रचनाओं में से एक है, इस प्रकार की पंक्तियाँ उसके सौंदर्य को थोड़ा फीका और प्रभाव को कुछ क्षीण ही करती हैं—

इसमें सच्ची समता के दाने बोने हैं,
इसमें जन की क्षमता के दाने बोने हैं,
इसमें मानव ममता के दाने बोने हैं,
हम जैसा बोयेंगे वैसा ही पायेंगे।

'अतिमा' में जीवन के सम्बन्ध में कई प्रकार की धारणाएँ पाई जाती हैं। पहली यह कि जीवन का सब कुछ अस्थायी और सारहीन है। दूसरे स्थान पर जीवन की तुलना एक ऐसी सरिता से की गई है जिसके न आदि का पता है और न अन्त का; फिर भी प्रवाह की दृष्टि से यदि उस पर विचार करें तो मिथ्या नहीं कह सकते। वह चिर विकासशील है।

ऐसी रचनाओं में पन्त जी के स्वभाव की यही विशेषता है कि बड़े से बड़े तत्व को एकांगी दृष्टि से कभी नहीं देखते। जीवन को देखने के विभिन्न दृष्टि-कोणों को अपने पाठकों के सामने रखकर स्वयं अलग हो जाते हैं।

———

भाव और कला

भाव, विचार और कल्पना तीनों का ही यद्यपि जीवन और साहित्य में अपना-अपना महत्त्व है और तीनों के ही उचित सामंजस्य में जीवन की सफलता और साहित्य की सुन्दरता निहित है, फिर भी यह स्पष्ट है कि जीवन और साहित्य दोनों के क्षेत्र को भाव ही प्रधान रूप से घेरे हुये है। जीवन के अधिकतर कार्य क्योंकि भाव से परिचालित होते हैं, इसी से साहित्य भी जो जीवन की व्याख्या, जीवन का सार, जीवन की गति है, मुख्यतः भाव पर आधारित है। जीवन और जगत से प्रभावों को ग्रहण कर उन्हें भाव की भाषा में बदल देना और कला के माध्यम से इस प्रकार प्रस्तुत करना कि उनके सम्पर्क में आने वाले हृदय में वे भाव की भाषा में प्रतिध्वनित होकर प्रेषणीय हो सकें, कलाकार का पहला काम है। परन्तु भावों को एक हृदय से दूसरे हृदय में डालने का कार्य उतना सहज नहीं है, जितना सुनने में लगता है और यहीं कला का जन्म होता है। कितना अच्छा होता कि कवि लिखता और पाठक उसे सीधे समझ लेता, पर एक तो पाठक-पाठक में अंतर होता है, प्रत्येक का मानसिक विकास एक-सा नहीं होता और दूसरे कवि भी कविता का सौंदर्य भाव को थोड़ा प्रच्छन्न रखने और थोड़ा प्रस्फुटित करने में समझता है, यही कारण है कि कवि और पाठक के बीच में आलोचक जैसे तीसरे व्यक्ति की आवश्यकता पड़ जाती है। आलोचक और कुछ हो या न हो, पर साहित्यकार और पाठक का मर्म-मित्र अवश्य है।

काव्य के क्षेत्र में भाव और कला का संतुलन निरंतर साधना से ही उपलब्ध होता है। प्राचीन हिंदी-काव्य में कबीर में कला कम है, जायसी में कुछ विकसित है और बिहारी में उसी का आधिक्य है। सीमा से आगे खींचने पर यही कला केशव में खंडित हो गई है। दूसरी ओर मीरा में भाव का प्रबल वेग है, सूर में वही आवेश कुछ नियंत्रित होकर व्यक्त हुआ है और अष्टछाप के

कवियों में हृदय की उष्णता और भी कम होती गई है। 'काव्य के कठिन प्रेत' में यही भाव-धारा एकदम क्षीण मिलती है। भाव और कला का विलक्षण संयोग यदि कहीं पाया जाता है तो अकेले गोस्वामी तुलसीदास में। पन्त जी की समस्त काव्य-कृतियों पर विचार करके यदि किसी निष्कर्ष पर पहुँच जाय, तो यही कहना पड़ेगा कि उनमें भाव यद्यपि एकदम कहीं मिट तो नहीं गया, पर वह चिंतन के सामने बराबर दबता चला गया है। जहाँ तक कला का संबंध है वह धीरे-धीरे विकसित और प्रौढ़ होती चली गई है।

'वीणा' पन्त जी का पहिला कविता-संग्रह है और उस अवस्था के किसी भी कवि की जैसी प्रारंभिक रचनाएँ होती हैं, उनसे ये रचनाएँ अनेक दृष्टियों से कहीं अधिक अच्छी हैं। कम से कम जयशंकर प्रसाद के 'कानन-कुसुम' से जिसमें उनकी प्रारंभिक रचनाएँ संगृहीत हैं ये कविताएँ अधिक कोमल, अधिक सरस और कलात्मक हैं। यहाँ यह भी स्मरण रखना चाहिए कि पन्त जी अपने आविर्भाव से एक ऐसे साहित्यिक युग के विरोध में खड़े थे जिसका विशेष गुण इतिवृत्तात्मकता ही था। जिस किसी के हृदय में कविता का जन्म हुआ है वह किसी प्रकार के गहरे आघात से हुआ है; अतः आवेश का रहना अत्यंत स्वाभाविक है। यह आघात मृत्यु,प्रेम, अन्याय और संसार की क्षण-भंगुरता आदि में से किसी दिशा का हो सकता है। वीणा की रचनाओं में आवेश नहीं है, ऐसी बात नहीं; पर वह अपेक्षाकृत संयमित है। यह बात महादेवी जी के 'नीहार' और प्रसाद के 'कानन कुसुम' से जिनमें अलौकिक प्रेम और प्रणय-संबंधी रचनाएँ हैं तुलना करने से स्पष्ट हो सकती है। ऐसा लगता है कि प्रसाद और महादेवी ने आवेश को जहाँ तुरंत व्यक्त कर दिया है, वहाँ पन्त जी ने अपने भाव को हृदय की आग में कुछ दिनों पका कर बाहर प्रकट किया है। दूसरा कारण यह है कि जहाँ महादेवी और प्रसाद ने अपनी-अपनी प्रेरणा को प्रेमी के रूप में देखा है, वहाँ पन्त जी ने ईश्वर को मा के रूप में चित्रित किया है; अतः प्रणय और अनुराग के आवेश में जो अंतर है उसका बना रहना स्वाभाविक है। आवेश वैसे पंत जी का स्वभाव भी नहीं। उसका प्रभाव भी इन रचनाओं पर है। आगे की रचनाओं में प्रेम की चर्चा करते हुए जहाँ कहीं शृंगार का थोड़ा बहुत पुट है उसे उनके स्वभाव का अपवाद

समझना चाहिए। पन्त जी अत्यंत संस्कृत स्वभाव के प्राणी हैं। ऐसे प्राणी की पहली पहचान होती है—संयम। अपने क्रन्दन और अट्टहास को वह अधिक से अधिक संयम के साथ व्यक्त करता है। वीणा की रचनाओं में पन्त जी ने अपने को एक बालिका के रूप में कल्पित किया है; अतः उनके भाव में अनुराग की गहनता और मन की पवित्रता के साथ हृदय की सरलता और स्वभाव की तल्लीनता भी मिली हुई है। इस आत्म-समर्पण के अतिरिक्त कुछ रचनाएँ प्रकृति को संबोधित हैं। उनमें विस्मय, भोलेपन और आत्म-विस्मृति का भाव भरा हुआ है। इस प्रकार 'वीणा' के दो ही स्वर हैं—ईश्वर-प्रेम और प्रकृति-प्रेम :

(१) निर्मल कर, अति उज्ज्वल कर,
मंजुल कर, मुद मंगल कर,
जीवन-ज्योति जला अवदात,
ज्वालामय कर उर अम्बर !
मेरे चञ्चल मानस पर
पाद पद्म विकसा सुन्दर,
बजा मधुर वीणा निज मात !
एक गान कर मम अन्तर !

(२) तू कितनी प्यारी है मुझको
जननि, कौन जाने इसको,
यह जग का सुख जग को दे दे,
अपने को क्या सुख, क्या दुख ?

(३) इस अबोध की अन्धकारमय
करुण कुटी पर करुणा कर
अये रंध्र-मग-गामी स्वागत,
आओ, मुसका उज्ज्वलतर !
हे करुणाकर के करुणा-कर
तुम अदृश्य बन आते हो,

रज-कण को छू, बना रजत-कण
प्रचुर प्रभा प्रकटाते हो।
हे सुवर्णमय ! तुम मानस में
कमल खिलाते हो सुन्दर,
मेरे मानस में भी उसके
विकसा दो पद-पद्म अमर।

किसी भी कवि की पहिली कृति को काव्य-शास्त्र के कड़े नियमों से परखना उसके साथ अन्याय करना होगा। अभिव्यक्ति में कुशलता अभ्यास से ही आती है। पन्त जी की 'वीणा' भाव की दृष्टि से जैसी मनोरम लगती है कला की दृष्टि से भी वैसी ही पूर्ण है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। पन्त जी ने 'डर' और 'भोर' का प्रयोग स्त्री लिंग में किया है और 'साँस' का पुलिंग में, जब कि 'डर' और 'भोर' पुलिंग हैं एवं 'साँस' स्त्रीलिंग। इस प्रकार कहीं 'स्पर्शन' का प्रयोग है, कहीं 'देओ कान' का। जहाँ 'न' प्रयोग होना चाहिए वहाँ 'मत' का प्रयोग है। कहीं 'निर्माऊँ' बना लिया है। तुकों की कहीं-कहीं यही दशा है। 'रूम' की तुक में 'सूम' और 'तूम' भिड़ाये गए हैं। एक स्थान पर 'सुख पायेगा' की तुक में 'कैसे लेगा' आया है। पढ़ने पर यह तुक बड़ी टूटी-सी लगती है। प्रयत, प्रत्युत, चूर्णांत आदि शब्द भी जिनका प्रयोग हिंदी कविता में बचाना चाहिए बने हुए हैं। यह सब होने पर भी छंदों, अलंकारों और प्रतीकों पर कवि का बहुत अच्छा अधिकार सिद्ध होता है। अलङ्कारों में उपमा और रूपक का प्रयोग कवि ने सफलतापूर्वक किया है। छंदों में कहीं-किहीं अपनी ओर से छोटी-छोटी पंक्तियाँ जोड़कर एक प्रकार की नवीनता को कवि ने जन्म दिया है। प्रतीकों में कष्ट के लिये शूल, भावनाओं के लिये कलियों, माया के लिये बादल और ज्ञान के लिये दीपक को पन्त जी ने स्वीकार किया है। अनेक स्थानों पर भाव-धारा अत्यंत व्यवस्थित, अभिव्यक्ति अत्यंत सुष्ठ, भाषा अत्यंत मधुर और छंद अत्यंत प्रवाहपूर्ण हैं। खड़ी बोली कविता में इतनी सरसता, इतनी कोमलता और अपूर्व व्यंजना-शक्ति भरना पन्त जी का ही काम है जिसके कुछ लक्षण 'वीणा' में भी पाए जाते हैं। यह सब होते हुए भी कवि ने अत्यंत विनम्रता से स्वीकार किया है—

यह तो तुतली बोली में है
एक बालिका का उपहार;
यह अति अस्फुट, ध्वन्यात्मक है
बिना व्याकरण, बिना बिचार!
इस बोली में कौन सुनेगा
इसकी वीणा को निस्सार?
ताल-लय रहित मेरी वीणा
वीणा-वादिनि! कर स्वीकार!

प्रेम की भूमि में पन्त जी ने 'ग्रंथि' में प्रवेश किया। प्रारंभ में प्रकृति की पृष्ठभूमि है। मधुमास की संध्या है। रोमांस के लिए इससे उपयुक्त वातावरण और क्या होगा! प्रकृति का रम्य वर्णन करते-करते कवि एक ऐसी सूचना देता है जिसके हृदय धक से रह जाता है। सरोवर की लहरें उसकी नाव को निगल जाती हैं। इस शोक में हृदय डूबा ही है कि पाठक को पता चलता है कवि के प्राण एक बालिका ने बचा लिए। कहानी के प्रारंभ में भावनाओं का यह उतार-चढ़ाव अत्यन्त प्रभावशाली सिद्ध हुआ है।

शशि-कला सी एक बाला अपनी सुकोमल-जाँघ पर कवि का शीश रख चिंतित दृष्टि से उसका म्लानमुख निहार रही है। अधीरता मिश्रित आशा का यह वर्णन पढ़ने योग्य है। ज्यों ही कवि मूर्च्छा से जगता है कि आकाश में चन्द्रमा उग आता है। वसन्त की रात, उज्ज्वल आकाश में निर्मल चन्द्र का सहसा उदित होना, चाँदनी-सी उजली बाला की जाँघ पर एक अत्यन्त सुन्दर भावुक युवक का लेटकर उसके मुख को निहारना, लाज से दबी बालिका का सहज-भाव से एक बार पलकों को उठाना और गिरा देना, पास बैठकर युवक का प्रणय के लिए याचना करना और उत्सुकता से उत्तर की बाट जोहना, पर बालिका का केवल एक शब्द कह कर चुप हो जाना और लज्जा के कारण नखों से धरती कुरेदने लगना—अपने में एक कविता है। इस कविता के लिए किसी कविता की आवश्यकता नहीं।

तब कवि अपनी ध्यान-मग्ना प्रेमिका को उसकी सखियों से घिरा दिखलाता

है। वे अपने-अपने प्रेम का अनुभव उसे सुनाती हैं और इस प्रकार उसके हृदय में प्रणय-भावना को विकसित करती हैं। प्रणय के चलने वाले उन प्रसंगों में वह बालिका केवल मौन-भाव से साथ देती है। बहुत हुआ तो कभी मुस्करा देती है।

और एक दिन ऐसा भी आता है कि उसकी प्रणयिनी का ग्रंथि-बन्धन किसी और के साथ हो जाता है। कवि के हाथ आती है घोर निराशा!

इस प्रकार हम देखते हैं कि इस कहानी की भूमिका, इसका प्रारम्भ, विकास और चरम-सीमा विभिन्न भावनाओं के उत्थान-पतन से निर्मित हैं। घटनाएँ कथानक में नहीं के बराबर हैं। जो महत्वपूर्ण है वह भावनाओं का खेल है। इस खेल का अन्त करुण हुआ, यह दूसरी बात है।

ग्रंथि में प्राकृतिक सुषमा, करुणा, प्रणय, मनोविनोद और विषाद को कवि ने इस प्रकार सजाया है कि भाव के क्षेत्र में उसकी गहरी मनोवैज्ञानिक पैठ की सराहना करनी पड़ती है। भावनाओं के कुछ वर्णन देखिए—

जब विमूर्छित नींद से मैं था जगा
कौन जाने, किस तरह? पीयूष-सा
एक कोमल समव्यथित—निःश्वास था
पुनर्जीवन-सा मुझे तब दे रहा।
शीश रख मेरा सुकोमल-जाँघ पर,
शशि-कला सी एक बाला व्यग्र हो
देखती थी म्लान-मुख मेरा, अचल
सदय, भीरु, अधीर, चिंतित दृष्टि से।
इंदु पर, उस इंदु मुख पर, साथ ही
थे पड़े मेरे नयन, जो उदय से,
लाज से रक्तिम हुए थे;—पूर्व को
पूर्व था, पर वह द्वितीय अपूर्व था!
एक पल मेरे प्रिया के दृग-पलक
थे उठे ऊपर सहज, नीचे गिरे

चपलता ने इस विकंपित-पुलक से
दृढ़ किया मानो प्रणय सम्बंध था।
गिर पड़ा वह स्वप्न मेरा अश्रु-सा
पलक-दल को छू अचानक, कमल के
अंक में अटका तुहिन-जल अनिल की
एक हल्की थुपथुपी से सो गया!

हाय! मेरे सामने ही प्रणय का
ग्रंथि-बन्धन हो गया, वह नव-कमल
मधुप-सा मेरा हृदय लेकर, किसी
अन्य मानस का विभूषण हो गया।

'वीणा' के उपरान्त 'ग्रंथि' की कला में इतना अन्तर है कि देख कर आश्चर्य होता है। वीणा की सहज-सरलता, भोली मार्मिकता न जाने कहाँ चली गई है। लगता है जैसे बचपन खिंचकर यौवन होते ही अलंकरण के लिए आकुल हो उठा हो। यहाँ भाषा भिन्न प्रकार की है, चित्र भिन्न प्रकार के हैं, अलंकार भिन्न प्रकार के हैं और व्यंजना भिन्न प्रकार की है। कला की दृष्टि से 'ग्रंथि' पन्त जी की पहली प्रौढ़ कृति है। इस रचना पर संस्कृत शैली का बड़ा भारी प्रभाव है। तत्सम शब्दों का आधिक्य है और पंक्ति-पंक्ति में समास बिछे पड़े हैं। शैली की रुकावट के कारण एक-एक पंक्ति पर बिना सोचे पाठक अर्थ ग्रहण नहीं कर सकता और न कथानक के साथ आगे बढ़ सकता है। इसी से यह काव्य-कहानी वर्णन-प्रधान हो गई है। भावों की शक्ति भी कम नहीं है, पर वे यहाँ-वहाँ वैसे ही झलकते हैं जैसे पत्तों के ढेर में से कहीं-कहीं फूल मुँह निकाल कर हँसते हों। कथानक की दृष्टि से कहानी की गठन एकदम निर्दोष नहीं है। बीच-बीच में पंत जी पाठक को संबोधन करने लगते हैं, कहीं-कहीं घटना की सूचना पहले से ही दे देते हैं। कहीं-कहीं उनका वर्णन भी अनुपात से बढ़ जाता है जैसे तीसरी सखी की प्रणय-चर्चा जिसे एक अन्य प्रेमिका ने इतिहास का सा कोरा वृत्त गिनना बतलाया है। कहानी में नायिका के विवाह पर ही सार-भूमि (Climax) आ गई है। उसके उपरांत थोड़ी दुःख-चर्चा हो सकती थी; परन्तु

इसके स्थान पर कवि दर्शन, सौंदर्य, प्रेम, स्मृति, नियति, आशा, उन्माद, कल्पना, आँसू, वेदना, विरह, संसार, सुख, ज्ञान आदि पर व्याख्यान देने बैठ गया है। उसके दुःख में लोग जब उसे सान्त्वना देते हैं तो वह कहता है : विरस-उपदेश के ये उपल रहने दो। पर सच बात यह है कि कहानी के अंत में विरस उपदेश के उपल उसने भी कम नहीं मारे हैं। फिर भी कवि की अवस्था को देखते हुए और यह सोच कर कि जो व्यक्ति प्रधान रूप से गीतिकार है उसने प्रबंध की भूमि में प्रवेश किया है यह मानना पड़ता है कि 'ग्रंथि' एक सफल खंड-काव्य है—वैसा ही सफल खंड-काव्य जैसा प्रसाद का 'आँसू', निराला का 'तुलसीदास' और मैथिलीशरण गुप्त का 'नहुष'। मेरा पूरा विश्वास है कि पन्त जी ने गीतों के समान ही यदि थोड़े प्रबंध-काव्य भी लिखे होते तो हिंदी-साहित्य में उनका एक विशिष्ट स्थान होता।

अलंकारों का प्रयोग काव्य में अनजाने भी होता है, सावधानी से भी और जान-बूझकर भी। अर्थालंकारों के प्रयोग में यह बताना सदैव कठिन होगा कि कवि की दृष्टि पहले भाव पर थी या अलंकार पर; पर शब्दालंकारों का प्रयोग करते समय कवि थोड़ा सचेत अवश्य रहता होगा, ऐसा लगता है। फिर भी अभ्यास एक ऐसी चीज है कि प्रयोग को स्वाभाविक और सहज बनाया जा सकता है। पन्त जी के कुछ अनुप्रासों का प्रयोग देखिए—

(१) वह मधुर मधु-मास था, जब गंध से।
मुग्ध होकर झूमते थे मधुप-दल।
(२) मधुप-बाला का मधुर मधु मुग्ध राग।
(३) तरणि के ही साथ तरल तरंग में
तरणि डूबी थी हमारी ताल में।
(४) तरुणता की उन तरंगों में तरल।
(५) चपल चोखी चोट कर अब पंख की।
(६) ललित लोल उमंग सी लावण्य की।

तीसरे उद्धरण में अनुप्रास के साथ एक अन्य शब्दालंकार यमक भी सावधानी से प्रयुक्त हुआ है।

उपमाओं का प्रयोग 'ग्रंथि' में प्रचुरता से हुआ है। ये उपमाएँ बड़ी भाव-पूर्ण, रम्य और उपयुक्त हैं। नीचे तीन उपमाओं के उदाहरण दे रहे हैं। ये इतनी समर्थ उपमाएँ हैं कि चित्र एक दम आँखों के सामने घूम जाता है—

(१) तूल-सी मार्जार-बाला सामने
निरत थी निज बाल-क्रीड़ा में......
(वर्ण-साम्य)

(२) वह मृग सी चकित आँखों को फिरा
थी छिपाना चाहती अपनी दशा
(आकार और क्रिया-साम्य)

(३) कर्णमुक्ता चूम कोई गाल पर
प्रतिफलित थे ओस-बूँदों से धवल
(आकार और वर्ण-साम्य)

दो और उपमाओं को देखिए—

(१) जब विमूर्छित नींद से मैं था जगा
कौन जाने, किस तरह? पीयूष-सा
एक कोमल समव्यथित-निःश्वास था
पुनर्जीवन सा मुझे तब दे रहा।

(२) शीश रख मेरा सुकोमल-जाँघ पर
शशि-कला-सी एक बाला व्यग्र हो
देखती थी म्लान-मुख मेरा, अचल,
सदय, भीरु, अधीर, चिंतित-दृष्टि से।

पहला उदाहरण पूर्णोपमा का है। इसमें निःश्वास उपमेय, पीयूष उपमान, सा वाचक और पुनर्जीवन देना साधारण धर्म है। मूर्छित कवि के पास एक बाला व्यथित निःश्वास फेंक रही है। थोड़ी देर में कवि की साँस लौट आती है। लगता है जैसे उसका निःश्वास फेंकना व्यर्थ नहीं गया। पीयूष भी पुन-र्जीवन देता है और इन निःश्वासों ने भी पुनर्जीवन दिया। उपमा में इस प्रकार

यहाँ गुण-साम्य हुआ। जीवन-दान यद्यपि यहाँ निःश्वास ने नहीं, निःश्वास फेंकने वाले ने दिया है, निःश्वास का पीयूष से संबंध दूर का है, वास्तव में प्राणी ही पीयूष बन गया है, पर यह उपमा बड़ी कोमल और मार्मिक सिद्ध हुई है। इसी प्रकार दूसरे उदाहरण में बाला को जो शशि-कला बतलाया गया है, उससे उसकी सुन्दरता ही लक्षित होती है। केवल इतनी ही बात होती तब भी यह उपमा कम रम्य नहीं थी, विशेषकर ऐसी रम्य स्थिति में जब रोमांस प्रारंभ होने वाला हो। पर शशि-कला का एक और भी काम है—वह है अंधकार को मिटाना। आगे की पंक्ति में ही मूर्छित नायक का मुख 'म्लान' बतलाया गया है। ऐसी दशा में शशि-कला वाली उपमा कितनी सार्थक हो उठी है! शशि-कला उदित हुई है तो म्लानता नहीं ठहर पायेगी, ऐसी आशा बँधती है।

पर 'ग्रंथि' में उपमाओं के प्रति कवि का आकर्षण कहीं-कहीं आवश्यकता से अधिक हो गया है। मालोपमा के दो उदाहरण लीजिए—

(१) जब अचानक, अनिल की छवि में पला
एक जल-कण, जलद-शिशु-सा, पलक पर
आ पड़ा सुकुमारता-सा, गान-सा,
चाह-सा, सुधि-सा, सगुन-सा, स्वप्न-सा।

(२) गर्व-सा गिर उच्च-निर्झर-स्रोत से
स्वप्न-सुख मेरा शिलामय-हृदय में
घोष भीषण कर रहा है वज्र-सा,
वात-सा, भू-कंप-सा, उत्पात-सा!

आकाश में हल्के बादल छाए हुए हैं। वर्षा की आशा नहीं है। एक बूँद बादलों से चू कर पलक पर आ गिरती है। ऐसी दशा में जल-कण को जलद-शिशु कहना स्वाभाविकता और क्रिया की दृष्टि से अत्यंत उपयुक्त हुआ है; पर कवि इस क्रिया से एकदम भावपूर्ण हो उठता है और जलकण के लिये सुकुमारता, सुधि, सगुन, स्वप्न, चाह, गान आदि के अनेक उपमान जुटाता है। यों जलकण सुकुमार है ही, सुधि-सा अचानक भी आ गिरा है, संभव है इसके उपरांत नायिका को कोई शुभ फल मिलने वाला हो, अतः वह उसे शुभ सगुन

Library Sri Pratap College,
Srinagar

के रूप में ले रही हो। पर वह स्वप्न-सा, चाह-सा गान-सा भी है। हो सकता है कि कवि इन तीनों का भी कोई कारण बतला दे। फिर भी अधिक सोचने पर पाठक की कल्पना थकने लगती है। कहा जा सकता है कि मालोपमा तो बनती ही तब है जब उपमाओं की माला गूँथ दी जाय। ठीक है, पर वे ऐसी होनी चाहिए जो अपने प्रभाव को तुरंत उत्पन्न करें जैसे चिर परिचित उपमानों की यह मालोपमा—हिरनी-से, मीन-से, सुखंजन-समान चारु, अमल कमल-से विलोचन तिहारे हैं।

दूसरे उदाहरण में स्वप्न-सुख उपमेय है, गर्व उपमान, सा वाचक और गिरना साधारण धर्म। इसी स्वप्न-सुख के दूसरे पक्ष में उपमान हैं वज्र, वात, भू-कंप और उत्पात। इन्हें लेकर साधारण धर्म है भीषण घोष करना। एक ही उपमेय के दो साधारण धर्म इसलिए रखने पड़े कि कवि को चित्रों से बहुत मोह है। यदि कोई प्राचीन कवि होता तो सुख को बनाता उपमेय, स्रोत को उपमान और करुण घोष को साधारण धर्म। और केवल इतनी सामग्री से वह वांछित प्रभाव उत्पन्न कर देता। प्रभाव उत्पन्न करके वह आगे बढ़ जाता। परन्तु पंत जी एक-एक बात पर ठहरते हैं। निर्झर गिरता है शिला पर। शिला का उच्चारण करते ही उनका ध्यान इस ओर गया कि उनका सुख भी तो किसी पत्थर-हृदय से टकरा कर (ग्रंथि की नायिका को पत्थर कहने में मुझे संकोच लगता है) कराह उत्पन्न कर गया। निर्झर गिरता है ऊपर से नीचे, यह प्रक्रिया भी चित्रित होनी चाहिए, इसी से उन्होंने अमूर्त उपमेय (सुख) के लिए अमूर्त उपमान (गर्व) चुना। गर्व में भी तो व्यक्ति ऊपर से नीचे गिरता है। शिला की दुहरी सार्थकता दिखा ही चुके हैं। निर्झर के गिरने पर घोर ध्वनि होती है। उसकी उपमाएँ भी देनी चाहिए। इसी से घोष की व्याख्या करने के लिए आँखों के आगे लाए वज्र, वात, भू-कंप और उत्पात को। जब कभी वज्र-पात होता है, आँधी चलती है, भू-कंप आता है, उत्पात मचता है, तभी कुछ न कुछ नष्ट-भ्रष्ट होता है। इस प्रकार अपनी उपमाओं को पंत जी ने अंत तक निभा दिया है।

पंत जी चित्रों में सोचते हैं। यह बात थोड़ी-बहुत वीणा में भी पाई जाती है; पर ग्रंथि में तो बहुत बढ़ गई है। 'ग्रंथि' में थोड़े-थोड़े अवकाश के उप-

रांत कुशल तूलिका से अंकित चित्रों की भरमार है। नीचे के कुछ चित्र देखिए—

(१) मंजु-छाया के विपिन में पूर्णिमा
सजल-पत्रों से टपकती है जहाँ
विचरती हो वेश प्रतिपल बदलकर
सुघर मोती-से पदों से ओस के।

(२) तूल-सी मार्जार-बाला सामने
निरत थी, निज बाल-क्रीड़ा में-कभी
उछलती थी, फिर दुबक कर ताकती,
घूमती थी साथ फिर फिर पूँछ के।

(३) शीश रख मेरा सुकोमल-जाँघ पर
शशि-कला सी एक बाला व्यग्र हो
देखती थी म्लान-मुख मेरा, अचल,
सदय, भीरु, अधीर, चिंतित-दृष्टि से।

(४) स्वप्न के सस्मित-अधर पर, नींद में
एक बार किसी अपरिचित-साँस का
अर्ध-चुम्बन छोड़, मैं झट चौंककर
जग पड़ी हूँ अनिल-पीड़ित लहर-सी।

पहले छंद में यद्यपि नियति का वर्णन है; तथापि उससे एक ऐसा चित्र आँखों के सामने खड़ा होता है कि कहीं एक निर्जन बन है जहाँ वृक्षों की कोमल छाया पड़ रही है। वहीं पत्रों के अंतराल से हलकी चाँदनी छनकर पृथ्वी पर बिछ गई है। भीगे पत्रों से जो ओस के कण अभी गिरे हैं वे उस चाँदनी में हिलते और झलमलाते प्रतीत होते हैं। इस वातावरण में एक छाया-मूर्ति बार-बार इधर से उधर निकल जाती है। अत्यंत स्पष्ट होते हुए भी यह चित्र स्वप्न की सृष्टि जैसा प्रतीत होता है। इस चित्र का अंकन वैसे कोई चित्रकार भी कर सकता था; पर छंद की अंतिम दो पंक्तियों में जो गति को बाँधा गया है, वह

उसकी शक्ति से बाहर की बात थी। दूसरे चित्र में गति को और भी सजीवता प्रदान की गई है। नायिका वातायन के निकट बैठकर प्रभात की लालिमा में उद्यान का सौंदर्य निरख रही है। वहीं पास में उसकी प्रिय बिल्ली बैठी है। तूल (रुई) सी कहते ही उसके वर्ण और कोमलता एवं चिकनाहट का भान होता है। 'सामने' शब्द का उच्चारण करते ही लगता है जैसे वह हमारी आँखों के सामने ही आकर खड़ी हो गई हो। यही दशा 'उछलती' 'दुबक कर ताकती' आदि की है। इन शब्दों और वाक्यों से बिल्ली का कभी सहसा उछलना, कभी अपने में सिमटकर ताकना और कभी पूँछ उठाकर चक्कर काटना आदि प्रत्यक्ष हो जाते हैं। शब्दों के उच्चारण मात्र से अर्थ की ऐसी प्रत्यक्ष व्यंजना कराना पंत जी की ही कला का काम है। यह प्रकृति और प्रकृति के अधिक चेतन पशु-जगत की बात हुई। तीसरे चित्र में नर-नारी का चित्रण हम पाते हैं—शशि कला सी बाला, म्लान-मुख-मूर्च्छित एक युवक, सुकोमल जाँघ ! इस चित्र से हमारा परिचय कई बार हो चुका है। बाला अधीर है; अतः संभव है उसे इस बात का ध्यान न रहा हो कि उसने एक अपरिचित को कहीं लिटा रखा है। साधारण स्थिति में शायद ही कोई बाला किसी को इस प्रकार लिटा सके; पर सुकोमल जाँघ कहते ही पाठक को तो एक प्रकार की गुदगुदी का अनुभव होता ही है। सदय, अधीर चिंतित आदि शब्दों से यद्यपि दृष्टि का ही चित्रण हुआ है, पर इस दृष्टि में हृदय की पूरी हलचल अंकित हो गई है। चौथे चित्र में तो प्रणय-जीवन से संबंधित संयोग का एक व्यापार ही अपनी पूर्ण मधुरता में सजीव हो उठा है। एक रमणी स्वप्न देख रही है। देख रही है कि स्वप्न में वह लेटी हुई है, एक अपरिचित प्राणी (झूठ बोलती है, अवश्य कभी परिचित रहा होगा, न रहा होता तो स्वप्न में देख ही न पाती, पर सुंदरियों के मुँह से झूठ भी प्यारा लगता है) उसके निकट आता है। अपने अधरों को उसके अधरों के पास लाता है वह। साँस उसकी तीव्र हो जाती है। संभव है हृदय भी धड़क रहा हो। नायिका के अधरों पर स्मिति दौड़ जाती है। युवक उसकी अनुमति समझ अधरों पर अधर रखता है कि नायिका की आँख खुल जाती है। चेतना के आघात ने नायिका को जगा दिया, वैसे ही जैसे जल में सोई लहर को पवन का झकोरा जगा दे। यह चित्र कितना मनोवैज्ञानिक, कितना

सरल, कितना सजीव है, वर्णन करते नहीं बनता। इसी विषय को सूक्ष्मता प्रदान करने वाले अनुपम माधुर्य से मंडित कबीर के इस दोहे को भी देखिए—

सपने में साईं मिले
सोते लिया जगाय,
आँख न खोलूँ डरपता
मत सपना हो जाय।

जैसे विनय और प्रकृति 'वीणा' के विषय हैं, वैसे ही प्रणय और प्रकृति 'पल्लव' के। अध्यात्म-भावना इस ग्रंथ में भी रक्षित है। इसके अतिरिक्त कुछ रचनाएँ स्वतंत्र विषयों पर भी हैं।

'पल्लव' में प्रेम-संबंधी चार रचनाएँ हैं। इनमें 'उच्छ्वास', 'आँसू' और 'स्मृति' एक दूसरे से संबंधित हैं, 'विसर्जन' इनसे कुछ भिन्न है। अपने यौवन के प्रारंभ में पहाड़ी प्रदेश में कवि की भेंट एक सरल स्वभाव की सुन्दरी किशोरी से होती है। जीवन-वृक्ष में प्रेम की डाल पर कली-सी यह बालिका ज्यों ही खिली, कि रम्य पंखुरियों के आकर्षण और कोमल भावनाओं के पराग की गंध से खिंच-कर कवि भ्रमर के समान उसके अधरों के पास मँडराने आया। उसकी गुन-गुन को उस कली ने सुना और प्रेम के उस गान से उसके हृदय की कली-कली खिल गई। दूसरी ओर भावनाओं का विकास हो ही रहा था कि अधिक पास आने पर संदेह का काँटा भ्रमर के गात में ऐसा चुभा कि वह बिंधकर रह गया—रह गया जीवन भर को तड़पता। 'उच्छ्वास' में इतनी कहानी कहें 'आँसू' में कवि अपने दुःख पर आँसू बहाने बैठा है। इन दोनों रचनाओं में प्रणय का वर्णन स्मृति रूप में किया गया है। कथा अतीत से संबंध रखती है और घटना का ऐसा स्वरूप चित्रित किया गया है जिसमें प्रेम की कलिका खिलती ही है कि उसकी पंखुरियों को निर्दयता से नोंच-नोंचकर छितरा दिया जाता है। इस दुःख को भुक्तभोगी ही जान सकता है। दोनों रचनाओं के पढ़ने से लगता है कि कवि का हृदय टूटा हुआ है, उससे कहानी कही नहीं जा रही है, रो-रो कर, टूट-टूट कर, कराह-कराह कर वह अपनी कहानी सुना रहा है। रस की दृष्टि से यद्यपि यह कहानी श्रृंगार के विप्रलंभ पक्ष की है

और मिलन का भी इसमें वर्णन हुआ है, तथापि एक छोर से दूसरे छोर तक भावनाओं की पवित्रता इसमें बनी हुई है। प्रेम-भाव की गहराई, सूक्ष्मता और निर्मलता तीनों ही देखने योग्य हैं। प्रेम के ये वर्णन प्रकृति के वर्णनों से गुँथे हुए हैं। प्रकृति की गोद में चलने वाले इस प्रेम को देखकर प्राचीन-काल के तपोवन में चलने वाले प्रेम की सहसा याद आ जाती है—

(१) बाल्य सरिता के कूलों से
खेलती थी तरंग सी नित।

(२) सरलपन ही था उसका मन,
निरालापन था आभूषन,
कान से मिले अजान नयन!

(३) उसके उस सरलपने से
मैंने था हृदय सजाया,
नित मधुर मधुर गीतों से
उसका उर था उकसाया।

(४) अभी पल्लवित हुआ था स्नेह,
लाज का भी न गया था राग;
पड़ा पाला-सा हा! सन्देह
कर दिया वह नव राग विराग!

(५) किए भी हुआ कहाँ संयोग?
टला टाले कब इसका वास?
स्वयं ही तो आया यह पास,
गया भी बिना प्रयास!

यह 'पल्लव' ही है जिसमें अनुराग और चिंतन का मुख्य विषय प्रकृति बन गई है। लहर और पवन, निर्झर और बादल, नक्षत्र और छाया, भ्रमरी और वसन्त—प्रकृति की अनेक वस्तुओं पर स्वतंत्र भाव से कवि की दृष्टि गई है। प्रकृति में वह सौंदर्य, आनन्द और प्रेम के दर्शन करता है और आश्चर्य,

आह्लाद और अनुराग से भर जाता है। पवन कलियों से छेड़-छाड़ कर रहा है, मधुकरी फूलों का रस ले रही है और वसंत-श्री मा के पूजन के लिए सुसज्जित खड़ी है। प्रकृति की इस तल्लीनता को देखकर कवि भी आत्म-विभोर हो जाता है। प्रकृति के समान उसे भी हम प्रेम-मग्न, रस-मग्न, आनन्द-मग्न पाते हैं। केवल 'छाया' ही एक ऐसी रचना है जिसमें थोड़ी-बहुत करुणा की भावना हम पाते हैं। पर अन्त में उसे त्यागमयी दिखाकर विषाद के वेग को उसने क्षीण कर दिया है। प्रसन्न रहना और प्रसन्न रखना पंत जी की प्रकृति का यही प्रधान कर्म है। 'पल्लव' में प्रकृति अपने में पूर्ण प्रतीत होती है, प्राणी अपूर्ण; इसी से कहीं-कहीं वह उसे अपनी शिक्षिका के रूप में भी स्वीकार करता है और प्रकृति का प्रेम कहीं-कहीं मोह की परिधि को भी छू आता है। फिर भी भाव-विकास होने पर प्रकृति के साथ वह तादात्म्य प्राप्त करता है और यही भावना 'पल्लव' के पंत की स्वाभाविक भावना है। देखिए—

(१) ||छोड़ द्रुमों की मृदु छाया,
तोड़ प्रकृति से भी माया,
|बाले! तेरे बाल-जाल में कैसे उलझा दूँ लोचन?
भूल अभी से इस जग को!

—मोह

(२) ||सिखा दो ना, हे मधुप कुमारि!
मुझे भी अपने मीठे-गान,

—मधुकरी

(३) कहो हे प्रमुदित विहग कुमारि,
कहाँ से आया यह प्रिय गान?
विजन वन में तुमने सुकुमारि,
कहाँ पाया यह मेरा गान?

—सोने का गान

(४) मुसकुराते गुलाब के फूल
कहाँ पाया मेरा बचपन?—

सुभग मेरा भोला बचपन ?

—विश्व छवि

स्वतन्त्र रचनाओं में 'बालापन', 'स्वप्न', 'अनंग' और 'परिवर्तन' अत्यंत महत्वपूर्ण हैं। ये चारों रचनाएँ ही भाव की दृष्टि से बड़ी सफल बन पड़ी हैं।

ऐसा कौन है जिसे बड़े होने पर एक बार अपने बचपन की स्मृति न सताती हो ? जीवन की चिंताएँ जब आकर घेरती हैं तो यह निश्चिंत-जीवन कल्पना-पटी पर एकदम उदित हो जाता है; यौवन की मादकता से जब पीड़ा उत्पन्न होती है तो वह विकारहीनता, संसार का छल जब काँटे सा खटकता है तो वह अजानता, जीवन के सत्य से टकराकर जब भावनाएँ चूर-चूर हो जाती हैं तो वह क्रीड़ा-कौतूहलता, कितनी याद आती हैं ! यौवन के भार से अकुलाकर बचपन के स्वर्गीय जीवन की ओर लौट चलने को तब कितना मन करता है !

मेरा चिंता-रहित, अनलसित
वारि-बिम्ब-सा विमल हृदय,
इंद्रचाप-सा वह बचपन के
मृदुल अनुभवों का समुदय;
स्वर्ण गगन-सा, एक ज्योति से
आलिंगित जग का परिचय,
इंदु विचुम्बित बाल-जलद-सा
मेरी आशा का अभिनय !

इस अभिमानी अंचल में फिर
अंकित कर दो विधि अकलंक,
मेरा छीना बालापन फिर
करुण, लगा दो मेरे अंक !
अहो दयामय, फिर लौटा दो
मेरी पद प्रिय चंचलता,
तरल तरंगों-सी वह लीला
निर्विकार भावना लता !

वह काँटों में उलझी साड़ी,
मंजुल फूलों के गहने,
सरल नीलिमामय मेरे दृग
अश्रुहीन संकोच सने !

उसी सरलता की स्याही से
सदय, इन्हें अंकित कर दो
मेरे यौवन के प्याले में
फिर वह बालापन भर दो !

'बालापन' में कवि जैसे भोलेपन की भावना से भरा हुआ है, 'स्वप्न' में वैसे ही वह जिज्ञासा और विस्मय से परिपूर्ण है। एक सोते हुये शिशु को वह मुस्कराते पाता है। केवल इतना सा दृश्य उसके हृदय में न जाने कितनी रम्य कल्पनाओं और सूक्ष्म भावनाओं को जन्म देने में समर्थ होता है! भारतीय जन्मांतरवाद से लेकर पश्चिमी मनोविज्ञान का सहारा लेकर वह अनेक चित्र पाठकों की आँखों के सामने प्रस्तुत करता है। अपनी दृष्टि की परिधि को विस्तृत करता हुआ न केवल वह प्राणों के स्वप्नों की व्याख्या करता है, वरन् व्यापक प्रकृति के जीवन में प्रवेश कर मुकुलों, लहरों, पत्रों, पतंगों और विहग-बालाओं के स्वप्न-लोक में भी हमें ले जाता है। इसी का नाम सच्ची भावुकता है। अपनी कोमलता और कमनीयता में यह भावुकता अनुपम हो उठी है। 'स्वप्न' के कुछ भावपूर्ण चित्र देखिए—

(क) बालक के कम्पित अधरों पर
किस अतीत सुधि का मृदु हास
जग की इस अविरत निद्रा का
करता नित रह-रह उपहास?

उन स्वप्नों की स्वर्ण-सरित का
सजल ! कहाँ शुचि जन्मस्थान,
मुसिकानों में उछल उछल मृदु
बहती वह किस ओर अजान?

पलक यवनिका के भीतर छिप
हृदय-मंच पर छा छविमय,
सजनि, अलस के मायावी शिशु
खेल रहे कैसा अभिनय?
मीलित नयनों का अपना ही
यह कैसा छायामय लोक
अपने ही सुख-दुख, इच्छाएँ
अपनी ही छवि का आलोक!

(ख) सजनि, कभी क्या सोचा तूने
तरुओं के तम में चुपचाप
दीप-शलभ दीपों का चमका
करते जो मृदु मौनालाप
जलनिधि की मृदु पुलकावलि-सी
सलिल बालिकाएँ सुकुमार
स्वप्न-सिंधु सी उमड़, अतल के
बतलातीं क्या भेद अपार?
अलि किन स्वप्नों की भाषा में
इंगित करते तरु के पात,
कहाँ प्रात को छिपती प्रतिदिन
वह तारक स्वप्नों की रात?

और इसी प्रकार 'अनंग' में रसपूर्ण चित्रों की भरमार है। कवि ने उसे 'सौंदर्य का हृत्कम्पन' बतलाया है और यह सिद्ध किया है कि जीवन की एक-मात्र गति वही है। जड़ता को चेतना-सम्पन्न उसी ने तो किया है! समस्त सृष्टि का सूत्रधार वास्तव में वही तो है! पृथ्वी का कलियों से भर जाना, कलियों का गंध के उच्छ्वास फेंकना, समीर का गंध समेटकर नृत्य-रत होना अनंग की इंगित से ही संभव है; लहरों और किरणों का गले मिलना, हंस-हंसिनी का वारि-विहार करना, नर-नारी का एक दूसरे की ओर खिंचना कामदेव की इच्छा

की पूर्ति ही तो है; मेघ और हंस के दूत बनाकर प्रेम के संदेश भेजने की बात भी पहले प्रणयी प्राणियों के कान में चुप से मनोज ने ही तो कही थी! ऐसी कोई रम्य कल्पना और सरस भावना नहीं जो मनसिज से अछूती हो! कवि ने ठीक ही कहा है—

(१) हे त्रिलोकजित! नव वसन्त की
विकच पुष्प शोभा सुकुमार
सहम, तुम्हारे मृदुल करों में
झुकी धनुष सी है साभार;
बजा दीर्घ साँसों की भेरी
सजा सटे कुच कलशाकार;
पलक पाँवड़े बिछा, खड़े कर
रोओं में पुलकित प्रतिहार;
बाल-युवतियाँ तान कान तक
चल चितवन के वन्दनवार!
देव! तुम्हारा स्वागत करतीं
खोल सतत उत्सुक दृग-द्वार!

(२) तुमने भौंरों की गुञ्जित ज्या
कुसुमों का लीलायुध थाम
अखिल भुवन के रोम रोम में
केशर शर भर दिए सकाम!
मृगियों ने चंचल अवलोकन,
औ' चकोर ने निशाभिसार
सारस ने मृदु ग्रीवालिंगन
हंसों ने गति वारि विहार;
पावस-लास प्रमत्त शिखी ने
प्रमदा ने सेवा श्रृंगार

स्वाति तृषा सीखी चातक ने,
मधुकर ने मादक गुञ्जार।

'पल्लव' में 'वीणा' का सृजनात्मक-सहजभाव कुछ कम हो गया है और 'ग्रंथि' काल में संस्कृत काव्यों के अध्ययन का जो प्रभाव कवि पर पड़ा वह तत्सम शब्दों के प्रचुर प्रयोग के रूप में इसमें विद्यमान है। 'पल्लव' की भूमिका को पढ़ने से स्पष्ट हो जाता है कि पूरी तैयारी के उपरांत कवि इसकी रचना में संलग्न हुआ है। इस प्रवेश में सबसे पहला प्रश्न उठाया है उसने भाषा संबंधी। व्रज और खड़ी बोली के संग्राम में उसने खड़ी बोली का पक्ष लिया है। व्रज-भाषा-काव्य का यद्यपि वह बड़ा भारी प्रशंसक है, पर उसका विश्वास है कि रीति-कालीन काव्य में अंतर्जगत तिरस्कृत है और भाव एवं अलंकार एक सीमा में सिमटकर रह गए हैं। उस युग के नैतिक पतन पर उसकी दृष्टि गई है और कुछ कवियों के काव्य को उसने सम्मिलित रूप से कुत्सित प्रेम का फुहारा बतलाया है। अपने युग के लिए वह एक नई भूमि, नई भाषा, नई अभि-व्यंजना की आवश्यकता का अनुभव करता है। यद्यपि पंत जी का यह कहना कि "व्रजभाषा से मेरा अभिप्राय प्राचीन साहित्यिक हिन्दी से है जिसमें अवधी भी शामिल है" उनका भाषा-विज्ञान सम्बन्धी ज्ञान नहीं प्रदर्शित करता और यद्यपि यह प्रवेश उनके आवेश का साक्षी है, फिर भी आधुनिक भाषा और आधुनिक काव्य के निर्माताओं में उसका नाम रहेगा। छंद की दृष्टि से खड़ी बोली के लिये वे मात्रिक छन्दों को ही उपयुक्त समझते हैं। उसके लिये न संस्कृत के वर्ण वृत्त अधिक उपयुक्त हैं, न बँगला के छन्द, न अँगरेजी छन्द, यहाँ तक कि मुक्त छन्द भी नहीं। इसके अतिरिक्त उन्होंने अलंकार, व्याकरण और शब्द-शक्ति पर भी अपने विचार प्रकट किये हैं। शब्द और अर्थ दोनों की सार्थकता वे ऐसे भाव के अंगीभूत होने में समझते हैं जिससे रस की निष्पत्ति हो। यह सिद्धान्त सर्वमान्य है और शायद ही इससे किसी का विरोध हो। इस भूमिका में यद्यदि उन्होंने काव्य के बाह्यांग पर ही विचार किया है पर वहाँ शब्द, अर्थ, राग और ध्वनि की चर्चा में भाव और भाषा में सामंजस्य स्थापित हुआ है और इसमें सन्देह नहीं कि भाषा की आत्मा से उन्होंने अपना पूर्ण परिचय प्रकट किया है। एक स्थान पर उन्होंने पर्यायवाची शब्दों के विभिन्न

स्वरूपों पर प्रकाश डाला है। अर्थ की इस विविधता और इन गहराइयों का निर्वाह यथासम्भव अपने काव्य में उन्होंने किया है। व्याकरण के सम्बन्ध में भी उन्होंने एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न लिंग-भेद को लेकर उठाया है। यह किसी से छिपा नहीं है कि कुछ शब्दों का प्रयोग पंत जी अपनी रुचि के अनुसार जिस लिंग में चाहते हैं उसमें करते हैं। इसके लिये वे कहीं स्वाभाविकता, कहीं श्रुति-मधुरता और कहीं अर्थ-गौरव की बात सामने रखते हैं। उनकी इस बात को अभी तक मान्यता नहीं मिली। मनमाने ढंग पर लिंग-भेद के इस प्रयोग को उन्होंने अपना स्वभाव-वैषम्य (Idiosyncrasy) बतलाया है। इतना स्वयं कह देने पर अधिक आक्षेप के लिए वे स्थान ही नहीं छोड़ते।

'ग्रंथि' के प्रसंग में पंत जी की रम्य और सरस उपमाओं की चर्चा कर आये हैं। उपमा और रूपक पंत जी के दो अत्यन्त प्रिय अलंकार हैं। 'पल्लव' में उपमाओं का प्रयोग बहुत बढ़ गया है। किसी रचना में तो सैकड़ों उपमाएँ आई हैं जैसे 'छाया' में। इसके अतिरिक्त 'बादल' 'विश्व छवि', 'वीचि', 'अनंग' और 'शिशु' में भी उपमाओं की भरमार है। बिना उपमा के कवि जैसे आगे बढ़ ही नहीं पाता। 'पल्लव' में उपमाओं के माध्यम से अपने हृदय की बात व्यक्त करना जैसे पंत जी के काव्य की शैली ही बन गई है। इन उपमाओं में कल्पना का प्राधान्य है अर्थात् अधिकतर उपमाएँ कल्पना के सहारे खड़ी की गई हैं। स्पष्ट है कि जब कोई कवि उपमाओं का ढेर लगावेगा तो हार-थककर कल्पना का आश्रय ग्रहण करेगा ही! केवल कल्पना-वैभव के लिए छाया सम्बन्धी कुछ उपमान देखिए—

कौन कौन तुम परिहत-वसना
म्लान-मना, भू पतिता-सी
वात-हता-विच्छिन्न- लता - सी
रति-श्रांता व्रज-वनिता-सी ?

गूढ़ कल्पना सी कवियों की
अज्ञाता के विस्मय-सी,
ऋषियों के गम्भीर-हृदय-सी
बच्चों के तुतले-भय-सी;

Library Sri Pratap
Srinagar

मदिरा की मादकता-सी औ'
वृद्धावस्था की स्मृति-सी,
दर्शन की अति जटिल-ग्रंथि-सी
शैशव की निद्रित-स्मिति-सी;

तुम त्रिभुवन के नयन-चित्र-सी
यहाँ कहाँ से उतरी प्रात,
जगती की नेपथ्य-भूमि-सी,
विश्व-विदूषक-सी. अज्ञात !

आदि

इन और इसी प्रकार के अन्य उपमानों में छाया उपमेय के साथ जिस-जिस साधारण धर्म की समानता खोजी गई है वह आंशिक रूप में ही सत्य है और वह भी खींचातानी के साथ। 'पल्लव' में उपमाओं के प्रति कवि के हृदय में इतना आकर्षण बढ़ गया है कि वह मोह के रूप में परिवर्तित हो गया है। कहीं-कहीं तो कोई विषय आँखों के सामने आया नहीं कि कवि आँख मींचकर कल्पनाएँ करने लगता है। वे कल्पनाएँ प्रस्तुत विषय का चित्र कहाँ तक जगाती हैं और कहाँ तक नहीं, इस ओर वह ध्यान ही नहीं देता। कभी-कभी आवश्यकता से अधिक भावुक होना भी वैसे ही खटकने लगता है जैसे अभावुक होना। 'स्याही की बूँद' पर उपमाओं के इस फीके काल्पनिक वाग्जाल को देखिए—

अर्ध निद्रित सा, विस्मृत-सा,
न जाग्रत-सा, न विमूर्च्छित-सा,
अर्ध जीवित सा, औ' मृत-सा,
न हर्षित-सा, न विमर्षित-सा,
गिरा का है क्या यह परिहास ?

एकटक पागल-सा यह आज,
अपरिचित-सा, वाचक-सा कौन
यहाँ आया छिप-छिप निर्व्याज,
मुग्ध-सा, चिंतित-सा, जड़-मौन;
सजनि, यह कौतुक है यह रास ?

योग का-सा यह नीरव तार
ब्रह्म-माया का-सा संसार,
सिंधु-सा घट में, यह उपहार
कल्पना ने क्या दिया अपार;
कली में छिपा वसन्त विकास ?

'पल्लव' के प्रवेश में पंत जी ने अपनी कला के सौंदर्य पर भी कहीं-कहीं प्रकाश डाला है। विशेष रूप से वह स्थल देखने योग्य है जहाँ उन्होंने यह स्पष्ट किया है कि स्वरों की मैत्री से भावना किस प्रकार खिल उठती है। उससे एक बात का पता चलता है और वह यह कि पंत जी अपनी कला के सम्बन्ध में बहुत सचेष्ट रहते हैं। इससे शब्द-शिल्पी के रूप में तो उनकी ख्याति हो गई; पर एक बड़ी हानि यह हुई कि उन्हें लोग कल्पना का गायक कहने लगे। अभिव्यक्ति के क्षेत्र में जब भावना कल्पना के पंख लगाती है तो वहाँ कला (Art) न रहकर कलाबाज़ी (Artifice) रह जाती है। भाव के समान ही कला का भी एक रहस्य है। कला की उसी समय सृष्टि होती है जब कलाकार सचेत नहीं रहता। कलाकार और कुशल टैकनीशियन में अन्तर होता है भावनाओं का। जो कलाकार सृजन के पलों में आत्म-विभोर हो जाता है वह कला देता है, जो नहीं हो पाता वह टैकनीक देता है। अधिक सचेत रहने पर कलाकार उस ऊँचाई को नहीं छू पायेगा जो महान् काव्य का लक्षण है। ख़ैर !

जहाँ उपमाओं का जन्म भाव-मग्नता के भीतर से हुआ है, वहाँ सरसता की सृष्टि स्वतः हो गई है। एक नवजात शिशु को कवि देखता है। देखता है कि उसे न तो अपना ही कुछ बोध है और न संसार का। उसकी आत्मा की दिव्यता की ओर भी कवि का ध्यान जाता है और ध्यान जाता है इस ओर भी कि यह किसी दूर देश का वासी है। इन सारी बातों पर दृष्टि रखकर एक साँस में कवि न जाने कितने उपमान उसके लिए जुटाता है, पर इतना होते हुए भी वे सब कितने सार्थक हैं, कितने भावपूर्ण, कितने सरस ! ऐसे स्थलों को देखकर इच्छा होती है पंत जी को उपमाओं का सम्राट् कहा जाय !

कौन तुम अतुल, अरूप अनाम ?
अये अभिनव, अभिराम ?

कामना से मा की सुकुमार
स्नेह में चिर साकार;
मृदुल-कुड्मल-से जिसे न ज्ञात
सुरभि का निज संसार;
स्रोत से नव अवदात,
स्खलित अविदित-पथ पर अविचार
कौन तुम गूढ़ गहन अज्ञात ?
अहे निरुपम, नवजात !

वेणु-से जिसकी मधुमय तान
दुरी हो अंतर में अनजान;
विरल उडु से सरसी में तात !
इतर हो जिसका वासस्थान;
लहर-से लघु, नादान
कंप अंबुधि की एक महान;
विमल हिम-जल से एक प्रभात
कहाँ से उतरे तुम छविमान !

गीति-से जीवन में लयमान
भाव जिसके अस्पष्ट, अजान;
सुरभि से जिसे विहान
उड़ा लाया हो प्राण;
स्वप्न से निद्रित-सजग समान
सुप्ति में जिसे न अपना ज्ञान;
रश्मि से शुचि-रुचिमान
बीच में पड़ी वितान;
स्वीय स्मिति से ही हे अज्ञान,
दिव्यता का निज तुम्हें न ध्यान !

'अनंग' के सम्बन्ध में एक मालोपमा देखिये—

प्रथम हास से, प्रथम अश्रु से
प्रथम पुलक से, हे छविमान !
स्मृति से, विस्मय से तुम सहसा
विश्व स्वप्न से खिले अजान !

और देखिये कुछ ऐसी उपमाएँ जहाँ मूर्त्त उपमेयों के लिये अमूर्त्त उपमान लाये गये हैं—

(क) गिरिवर के उर से उठ-उठ कर
उच्चाकांक्षाओं से तरुवर
हैं झाँक रहे नीरव नभ पर,
अनिमेष, अटल, कुछ चिंता पर !

(ख) कभी लोभ-सी लम्बी होकर
कभी तृप्ति-सी हो फिर पीन।
—छाया

(ग) धीरे धीरे संशय-से उठ,
बढ़ अपशय-से शीघ्र अछोर,
नभ के उर में उमड़ मोह-से,
फैल लालसा से निशि भोर।
—बादल

पहले स्थल पर तरु मूर्त्त है, आकांक्षाएँ अमूर्त्त, दूसरे पर छाया मूर्त्त हैं लोभ और तृप्ति अमूर्त्त और इसी प्रकार तीसरे पर बादल मूर्त्त है संशय, अपयश, मोह एवं लालसा अमूर्त्त। सामान्य रूप से उपमाओं का काम इतने में ही समाप्त हो जाता है, पर पन्त जी अपनी उपमाओं की पूरी मूर्त्ति गढ़ते हैं। 'पहाड़ पर ऊँचे-ऊँचे पेड़ खड़े हैं' यह एक सामान्य कथन-मात्र होता; पर पहली ही पंक्ति में उन्होंने 'उर' शब्द का प्रयोग किस कौशल से किया है ! गिरि के उर से तरुवर वैसे ही उठकर आकाश की ओर जा रहे हैं जैसे व्यक्ति के उर से उठकर उच्च आकांक्षाएँ ! ऐसी स्थिति में पहुँचकर पेड़ों का नीरव नभ को ताकना और व्यक्ति का दूर सूने में दृष्टि गड़ाए खड़ा होना कैसे परिचित

व्यापार हैं ! आगे की दोनों उपमाओं में भी जितने अमूर्त्त उपमान हैं वे कितने सार्थक हैं।

इनकी उपमाएँ उस समय और भी खिल उठती हैं जब वे रूपकों या चित्रों के साथ प्रयुक्त होती हैं। थोड़ी चित्रों की चर्चा अब करें।

लेखक भगवान के समान एक सृष्टा है। नर-नारी, पशु-पक्षी, पृथ्वी-आकाश, सरि-समुद्र, वन-उपवन, निर्झर-सरोवर, लता-गुल्म, तृण-पुष्प, उषा-संध्या, आलोक-अन्धकार, सूर्य-चन्द्र, नक्षत्र-तारा आदि के रूप में भगवान ने जो सृष्टि की है, उसका रहस्य वह हमें समझाता है। वह सुन्दर सृष्टि को और सुन्दर रूप में चित्रित करता है। सृष्टि में व्यवस्था नहीं है, वह व्यवस्थित रूप में तथ्यों को हमारे सामने रखता है।

अपनी आत्म-विस्मृति के पलों में जिस सुन्दरता को देखकर कवि प्रभावित होता है, उसके संस्कार उसके हृदय पर पड़ जाते हैं। उन संस्कारों को अपने प्राणों के रस में डुबोकर वह एक चित्र अङ्कित करता है। मान लीजिये उसने उषा के दर्शन किये और इससे उसकी आत्मा को आह्लाद मिला। कोई पूछ सकता है कि क्या यह आनन्द अपने स्थान पर पर्याप्त नहीं है ? क्यों तो वह उस आनन्द को शब्द-बद्ध करता है और क्यों वह चाहता है कि उसकी रचना को सभी पढ़ें ? क्या यह आत्म-विज्ञापन नहीं हुआ ? इसका उत्तर यह है कि कवि जब अपने अन्तर की भावनाओं को दूसरे के हृदय में उड़ेलना चाहता है, तब उसका लक्ष्य प्रचार नहीं होता, वरन् जिस सुन्दरता को उसने देखा है, जिस रस में वह डूबा नहीं है, जिस आनन्द की उपलब्धि उसे हुई है, उन्हें वह अपने तक ही सीमित नहीं रखना चाहता, औरों तक भी पहुँचाना चाहता है। कवि वह निस्वार्थ प्राणी है जो रस का उपभोग दूसरों को बाँटकर करता है।

और यहीं पाठक की आवश्यकता पड़ती है। यदि लिखने वाले तो सब हों और पढ़ने वाला कोई न हो तो बड़ी विचित्र स्थिति खड़ी होगी। जब तक किसी रचना को कोई पढ़ने और समझने वाला न हो तब तक उसका कोई मूल्य नहीं है। कवियों के सम्बन्ध में जो यह कहा जाता है कि वे 'स्वांतः सुखाय' लिखते हैं, उसका तात्पर्य इतना ही है कि जब वे रचना करने बैठते हैं, उस समय उनका लक्ष्य धन कमाना या यश प्राप्त करना नहीं होता, शुद्ध आत्माभि-

व्यक्ति ही होता है। गोस्वामी तुलसीदास ने भी जो इस 'स्वांतः सुखायः' सिद्धांत के सबसे प्रबल पोषक थे इतना माना है कि जिस रचना का आदर विद्वान् न करें, समझना चाहिये कि कवि ने उस पर व्यर्थ श्रम किया।

तब कवि अपने लिये भी लिखता है और दूसरों के लिये भी। वह दूसरों के हृदयों को आंदोलित करने से लिये लिखता है! यदि वह अपने हृदय की बात को दूसरों के हृदय तक नहीं पहुँचा सकता तो वह समर्थ लेखक नहीं है। बात जब तक उसके हृदय में है, तब तक वह उसकी है; परन्तु जब वही बात बाहर आती है तो सभी की सम्पत्ति हो जाती है। अतः वह ऐसी होनी चाहिये जिसे अधिक से अधिक व्यक्ति अपना सकें। पाठक कवि से जो सबसे पहली आशा करता है वह यह है कि उसकी बात उसकी समझ में आ सके, वह कवि के हृदय से अपने हृदय का एकाकार कर सके, कवि के हृदय के तारों की ध्वनि में कहीं उसके प्राणों का तार भी ध्वनित होकर एक स्वर-सामंजस्य में डूब सके। भावों की यही समानानुभूति हमारे यहाँ साधारणीकरण कहलाती है और रस के मूल में रहती है।

इतनी बात कला या अभिव्यक्ति पक्ष को सामने रखकर ही कही गई। अनुभूति से भी अधिक कठिनाई अभिव्यक्ति को लेकर होती है। अनुभूति होना और बात है, व्यक्त करना और बात। पाठक को कठिनाई न हो, इसी से बड़े कवि अपनी बात इस ढंग से सामने रखते हैं जिससे उसका एक चित्र सा पाठकों की आँखों के सामने घूम जाय। महाकाव्यकारों में तो यह गुण विशेष रूप से पाया जाता है जैसे तुलसीदास में। मुक्तककारों में भी इसकी कमी नहीं रहती जैसे विद्यापति और बिहारी में। चित्र कहीं भाव के आधार पर खड़े किये जाते हैं, कहीं अलंकार-विधान द्वारा। विद्यापति में पहले प्रकार के चित्रों की भरमार है, बिहारी में दूसरे प्रकार के। अलंकारों में सांग रूपक एक ऐसा अलंकार है, कि उसके प्रयोग करते ही प्रयत्न न करने पर भी चित्र स्वतः खड़ा हो जाता है। यही कारण है कि बहुत से चित्रों की पृष्ठभूमि में सांग रूपक प्रायः रहता है। पन्त जी के चित्रों में भी उपमा और रूपक की रेखाएँ यद्यपि रहती हैं, फिर भी भाव का सहारा वे बराबर लिए रहते हैं। उनके कुछ चित्र देखिये :—

(१) मेखलाकार पर्वत अपार
अपने सहस्र दृग-सुमन फाड़
अवलोक रहा है बार बार
नीचे जल में निज महाकार;
जिसके चरणों में पला ताल
दर्पण-सा फैला है विशाल !!

(२) इंद्रधनु की सुनकर टंकार
उचक चपला के चंचल-बाल,
दौड़ते थे गिरि के उस पार
देख उड़ते-विशिखों की धार।
मरुत जब उनको द्रुत चुमकार,
रोक देता था मेघासार !

(३) बाल युवतियाँ तान कान तक
चल चितवन के बन्दनवार,
देव ! तुम्हारा स्वागत करतीं
खोल सतत उत्सुक दृग-द्वार !

पहले चित्र की चर्चा प्रकृति-वर्णन के प्रसंग में हम पीछे कर आये हैं। इसकी पहली पंक्ति ही देखिये—'मेखलाकार पर्वत अपार।' उसके उच्चारण करते ही एक ऐसा दृश्य आँखों के आगे खिंच जाता है मानो एक दूसरे से सटी हुई पहाड़ियों की एक पंक्ति दूर तक फैली चली गई हो ! यह एक वाक्य द्वारा चित्र अंकित करना हुआ। दूसरी पंक्ति में 'आँख फाड़कर देखना' लिखा है। इससे आश्चर्य की भावना प्रकट होती है। यहाँ मुद्रा-अंकन के लिए एक मुहावरे का प्रयोग किया गया। तीसरी पंक्ति में 'बार-बार' लाए हैं। इन शब्दों की सार्थकता यह है कि पर्वत को अपने विराट स्वरूप को देखने से सन्तोष नहीं होता। यही कारण है कि वह अपने रूप को एक बार, दो बार, दस बार, तात्पर्य यह कि बार-बार देख रहा है। इसे कहते हैं वाक्यांश द्वारा चित्र खड़ा करना। चौथी पंक्ति में 'महाकार' शब्द आया है। यह अकेला शब्द

ही पर्वत के विशाल आकार को ध्वनित करता है। पाँचवीं पंक्ति से गिरि की अपेक्षा ताल की नीचाई और छठीं पंक्ति से उसके जल की निर्मलता और साथ ही सरोवर का आकार दोनों एक साथ आँखों के सामने घूम जाते हैं। इस प्रकार पन्त जी कहीं पूरे वाक्य द्वारा, कहीं किसी मुहावरे द्वार, कहीं छोटे से वाक्यांश द्वारा और कहीं केवल एक शब्द द्वारा चित्र खड़े करते हैं और तब इन चित्र-खंडों से एक सम्पूर्ण चित्र बनता है। निश्चित रूप से इस प्रकार के दृश्य-विधान के लिए शब्दों की अपरिमित शक्ति और वृत्तियों की विविधता का ज्ञान अपेक्षित है। निश्चित रूप से ईश्वरदत्त प्रतिभा के सहारे ही कोई कवि भाव और कला का ऐसा अपूर्व मार्मिक सामंजस्य प्रदर्शित कर सकता है! ऐसे ही चित्र श्रेष्ठ काव्य की शोभा बनते हैं!

वर्षा के दिनों में जब इंद्रधनु उग आता है और बादल गरजकर बरसते हैं और बिजली क्षण में यहाँ और क्षण में वहाँ चमकती है, तब जन सामान्य के लिए ये चाहे साधारण-सी घटनाएँ हों, पर कवि इन्हें प्रकृति का एक सम्बद्ध व्यापार ही समझता है। इंद्रधनुष इंद्र का धनुष है जिस पर उसने टंकार दी है और गिरती हुई बूँदों की धाराएँ उसी के धनुष से बरसते बाण हैं। इस ध्वनि को सुनकर और तीरों को उड़ते देखकर बिजली के बालक उचकते हैं और दूर तक दौड़े चले जाते हैं—यह देखने के लिए कि वह कौन है जो अपने धनुष से इतने तीर बरसा रहा है! चंचल ही तो ठहरे! पर चंचल बालकों को घर के लोग इस प्रकार निकल जाने दें, तब न! इसी से पवन उन्हें जल्दी से पुचकार कर लौटा देता है।

इसमें 'उचक' 'चंचल' और 'द्रुत' शब्द देखने ही योग्य हैं। 'चुमकार' शब्द भी बच्चों को प्यार से बहकाने का भाव पूर्ण रूप से व्यंजित करता है। इसी प्रकार अंतिम पंक्ति में 'रोक देता था' से यह स्पष्ट प्रतीत होता है जैसे किसी की गति को किसी ने सहसा रोक दिया हो।

तीसरा चित्र अनंग को लेकर है। किशोरावस्था के समाप्त होते ही जब बालाएँ यौवन के प्रांगण में चरण रखती हैं, तब अनेक प्रकार के परिवर्तन उनके अंगों में होते हैं। सरल चितवन स्वतः कुछ चंचल हो जाती है और आँखें कुछ बड़ी प्रतीत होती हैं। हिन्दी का सारा रीति-काव्य इन बड़ी आँखों के वर्णनों से

भरा पड़ा है। बड़ी आँखें तो बहुतों की होती हैं, पर विशेष सौंदर्य चितवन का ही है। चितवन की चंचलता पर मनोवैज्ञानिक दृष्टि से विचार करें तो यह स्थिति उस समय उत्पन्न होती है जब युवती काम का अनुभव प्रथम बार करती है। ऐसी स्थिति में मन अपने प्रेमी की खोज में रहता ही है। तब खोज के इन पलों में उत्सुकता का बराबर बना रहना कितना स्वाभाविक है! अतः इस छंद में विशेष सौंदर्य विशेषणों के प्रयोग का है—'बाल' युवतियाँ, 'चल' चितवन, 'सतत-उत्सुक' दृग! साथ ही यह सौंदर्य किसी (कामदेव) के स्वागत का एक चित्र अंकित करने में भी है। जब कोई आता है तो बंदनवार सजाते हैं, उत्सुकता से उसकी बाट जोहते हैं और द्वार को उसके लिए खुला रखते हैं! यहाँ द्वार सुंदर है, बंदनवार सुंदर है, प्रतीक्षा करने वाले सुंदर हैं और जिसके स्वागत की तैयारी हो रही है वह तो परम सुन्दर है। सुन्दरता की ऐसी सृष्टि और कहाँ मिलेगी! इतना सब कुछ होते हुए भी यह वर्णन भारतीय सभ्यता के एकदम मेल में है। यह पन्त जी की परिष्कृत रुचि की तीसरी विशेषता है।

रहस्यवाद (वीणा) प्रेम (ग्रंथि) और प्रकृति (पल्लव) के उपरांत जीवन के आनन्द की ओर कवि 'गुञ्जन' में बढ़ा है। दुःख का भाव वहाँ मिट सा गया है और नए सुख की खोज में कवि है। उसके गान का विषय ही बदल रहा है, स्वर ही बदल रहा है। जीवन में सौंदर्य और आनंद दो ही वस्तुएँ उसे दिखाई देती हैं। इस सौंदर्य से आनंद का घनिष्ठ सम्बन्ध है, क्योंकि उसके दर्शन से ही तो आनंद की उपलब्धि होती है। 'गुञ्जन' के मुख्य विषय चार हैं—प्रार्थना, प्रकृति, प्रेम और जीवन-दर्शन। इन चारों विषयों को कवि ने आनंद की सिद्धि के लिए लिया है। 'प्रसाद' के काव्य-ग्रन्थों विशेष रूप से कामायनी में तो इस आनंद ने एक 'वाद' का ही रूप धारण कर लिया है; पर पंत में यह एक वृत्ति मात्र ही है, इसी से उनके संबंध में हम इसे आनंदवाद न कहकर आनंद का भाव ही कहेंगे। पंत जी भगवान से प्रार्थना करते हैं, तो कहीं आलोक की वर्षा करने को कहते हैं, कहीं मुसकान की और कहीं सौंदर्य की—

जग के उर्वर आँगन में
बरसो ज्योतिर्मय जीवन!

बरसो लघु-लघु तृण, तरु पर
हे चिर-अव्यय, चिर-नूतन !
बरसो कुसुमों में मधु बन,
प्राणों में अमर प्रणय-धन;
स्मिति-स्वप्न अधर-पलकों में,
उर अंगों में सुख-यौवन !
बरसो सुख बन, सुखमा बन
बरसो जग-जीवन के घन !
दिशि-दिशि में औ' पल-पल में
बरसो संसृति के सावन !

प्रकृति के वर्णनों में भी यही बात है। अधिकतर वर्णन वसंत सम्बन्धी हैं जो स्वयं सौंदर्य और आनंद की निधि है। 'गुञ्जन' की प्रकृति में कहीं वन के विटपों की डालें कोमल कलियों से लाल हो गई हैं, कहीं भौंरे गंध-अंध हो गूँज मचा रहे हैं और कहीं उन्हें मधु-संचय करते देख प्राणियों का मन भी जीवन-मधु-संचय को ललक उठा है। कलियाँ खिलती हैं, सौरभ उड़ रहा है, पक्षी चहचहा रहे हैं, लहरें अँगड़ाइयाँ ले रही हैं ! सारी सृष्टि ही आज जैसे आनंदमयी है। दो चित्र देखिए—

(१) गाता खग प्रातः उठकर—
सुन्दर, सुखमय जग-जीवन !
गाता खग संध्या-तट पर—
मंगल मधुमय जग-जीवन !

हँसमुख प्रसून सिखलाते
पल-भर है, जो हँस पाओ,
अपने उर की सौरभ से
जग का आँगन भर जाओ।

उठ-उठ लहरें कहतीं यह
हम कूल विलोक न पावें,

पर इस उमंग में बह-बह
नित आगे बढ़ती जावें।

(२) आज वन में पिक, पिक में गान,
विटप में कलि, कलि में सुविकास,
कुसुम में रज, रज में मधु, प्राण !
सलिल में लहर, लहर में लास।

तरुण विटपों से लिपट सुजात,
सिहरतीं लतिका मुकुलित-गात,
सिहरतीं रह-रह सुख-से प्राण !
लोम-लतिका बन कोमल गात।

गंध-गुंजित कुंजों में आज
बँधे बाँहों में छायाऽलोक।

प्रेम संबंधी रचनाएँ भी इसी आनंद भावना की दीर्घ-लघु-लहरियाँ हैं। 'भावी पत्नी के प्रति' रचना में अपूर्व सौंदर्य से मंडित एक मूर्ति कवि ने गढ़ी है जिसके अन्त में जीवन के एक स्थूल सुख को कल्पना के आवरण में चित्रित किया है। इसी प्रकार प्रेमिका की मुसकान के माधुर्य और नेत्रों की सुन्दरता पर भी कई रचनाएँ इस ग्रन्थ में हैं। ' आज रहने दो यह गृह-काज ' वाली रचना में, जिसकी चर्चा 'पंत की प्रेम-भावना' के अन्तर्गत हम पीछे कर आये हैं, पूरी मादकता भरी हुई है। 'मधुबन' शीर्षक रचनाओं में यद्यपि मधुमास का ही वर्णन है; परन्तु वहाँ भी कवि की दृष्टि से प्रकृति का सारा सौंदर्य इस बात में निहित है कि वह उनकी प्रिया के सौंदर्य की छाया मात्र है, यहाँ तक कि 'कब से विलोकती तुमको' वाली रचना भी जो विरह से संबंधित है अन्त में आशा के स्वरों में समाप्त हुई है। सौंदर्य और सुख के क्षणों के ऐसे कुछ चित्र हम नीचे दे रहे हैं—

(क) मुसकरा दी थी क्या तुम प्राण !
मुसकरा दी थी आज विहान ?

(ख) नील-कमल-सी हैं वे आँख!
डूबे जिनके मधु में पाँख—
मधु में मन-मधकर के पाँख!
नील-जलज-सी हैं वे आँख!

(ग) आज मधुवन की उन्मद बात
हिला रे गई पात-सा गात,
मंद्र, द्रुम मर्मर-सा अज्ञात
उमड़ उठता उर में उच्छ्वास!
नवल मेरे जीवन की डाल
बन गई प्रेम-विहग का वास?

(घ) सुमुखि, वह मधु-क्षण! वह मधु बार!
धरोगी कर में कर सुकुमार!
निखिल जब नर-नारी संसार
मिलेगा नव-सुख से नव-बार;
अधर-उर से उर-अधर समान,
पुलक से पुलक, प्राण से प्राण,
कहेंगे नीरव प्रणयाख्यान,
प्रिये, प्राणों की प्राण!

'गुञ्जन' में पहली बार चिंतनशीलता ने नई दिशा पकड़ी है। अपने सुख-दुःख से भिन्न दूसरों के सुख-दुःख से परिचित होने के लिए यहाँ कवि आकुल है। यहीं तक नहीं वह जीवन का सुख इस बात में भी मानता है कि विश्व-वेदना में अपने हृदय को डुबाकर जगत के साथ भाव की एकता का अनुभव कर सके। दूसरों का दुःख बाँटकर व्यक्ति की आत्मा एक प्रकार के ऐसे संतोष और आनंद का अनुभव करती है जिसे अपने योग-क्षेम से ऊपर उठे हुए निःस्वार्थ प्राणी ही जानते हैं—

(अ) देखूँ सबके उर की डाली—
किसने रे क्या क्या चुने फूल
जग के छवि-उपवन से अकूल?

(आ) तप रे मधुर मधुर मन!
विश्व-वेदना में तप प्रतिपल,
जग-जीवन की ज्वाला में गल,
वन अकलुष, उज्ज्वल औ' कोमल,
तप रे विधुर-विधुर मन!

'गुञ्जन' में सबसे उल्लेखनीय बात यह है कि कवि का जीवन-दर्शन अब बदल रहा है। ग्रन्थि' में जहाँ कवि को चारों ओर वेदना का साम्राज्य और पल्लव (परिवर्तन) में जहाँ उसे दुःख का आधिक्य दिखाई दिया, वहाँ 'गुञ्जन' में उसे सभी कहीं आनंद की वर्षा होती दिखाई देती है। वह अब सुन्दर वाणी का प्रशसक और सुन्दर कर्मों का समर्थक है, सुन्दर विश्वासों का पोषक और सुखमय जीवन का पक्षपाती है। अब वह अपने और सभी के जीवन में मुसकान और आलोक देखना चाहता है। जीवन के खेल में अब वह रस लेने लगा है—

क्या यह जीवन ? सागर में
जल-भार मुखर भर देना ?
कुसुमित-पुलिनों की क्रीड़ा—
व्रीड़ा से तनिक न लेना ?

आनंद-भावना को व्यक्त करने वाले कुछ और भी उदाहरण देखिए—

(क) कलरव किसको नहीं सुहाता ?
कौन नहीं इसको अपनाता ?
(ख) जीवन का उल्लास—
यह सिहर, सिहर,
यह लहर, लहर,
यह फूल-फूल करता विलास !
(ग) मेरा प्रतिपल सुंदर हो,
प्रतिदिन सुंदर, सुखकर हो,
यह पल-पल का लघु-जीवन

सुन्दर सुखकर, शुचितर हो !
हों बूँदें अस्थिर, लघुतर,
सागर में बूँदें सागर ;
यह एक बूँद जीवन का
मोती-सा सरल, सुघर हो !

'गुञ्जन' में कवि की भावुकता प्रकृति में सौंदर्य, जीवन में आनद और प्रेम में आकर्षण के माध्यम से व्यक्त हुई है अर्थात् यहाँ प्रकृति के सौंदर्य, जीवन के उल्लास और प्रेम के आकर्षण का वर्णन करते-करते उसका जी नहीं भरता, व्यक्ति और प्रकृति दोनों को उसने व्यापक जीवन के निकट लाकर देखा है; अतः उसका दृष्टिकोण अब बड़ा व्यवस्थित, स्वस्थ और संतुलित हो गया है। यह सत्य है कि जीवन के पलों को मूल्यवान समझ वह उन्हें सुन्दर बनाने का आकांक्षी है, पर यह बात ध्यान देने की है कि जीवन के इस उपभोग में भोग की स्थूल कामना उसमें नहीं पाई जाती। उसकी प्रेम-भावना में स्थूलता की कमी के कारण तीव्रता का अभाव है; पर उसके वर्णनों से मानसिक तृप्ति खूब होती है। वासना के पीछे जो छनी हुई संस्कृत कल्पना और मानसिकता रहती है, वह उसके काव्य में पूरी-पूरी पाई जाती है। अतः ऐसी कविताओं का आनंद वे पाठक अधिक उठा सकेंगे जो स्थूलता के पीछे पागल न रहकर उसमें छिपे सौंदर्य से उत्पन्न प्रतिक्रिया का कलात्मक रूप देखना पसंद करते हैं। उसकी भावुकता को संयम बराबर सँभाले हुए हैं। आनंद का स्फुरण यद्यपि यहाँ स्वाभाविक रूप से हुआ है; पर काव्य और जीवन दोनों को साधना समझने के कारण उसकी दृष्टि सामान्य संसारी की दृष्टि नहीं है, एक प्रसन्न दार्शनिक की ही दृष्टि है। यही कारण है कि पहले जहाँ वह दुःख की भावना से पराभूत हो गया था, वहाँ अब उसने दुःख पर विजय प्राप्त कर ली है, पहले जहाँ वह दुःख का समर्थन और उसकी व्याख्या करता फिरता था वहाँ अब सुख की महत्ता और उसकी व्यापकता की घोषणा करता फिरता है, जैसे बूँद-बूँद से एक दिन उसने वेदना का सागर भर दिया था वैसे ही कण-कण से अब उसने आनंद की गगन-चुम्बी राशि खड़ी कर दी है। 'गुञ्जन' एक प्रकार से दुःख पर आनंद की विजय की मधुर ध्वनि है।

Library Sri Pratap College
Srinagar.

पंत जी की कृतियों में 'गुञ्जन' ही एक ऐसी कृति है जहाँ उनके मन की भावुकता को ठीक से मुक्ति मिली है। मन की मुक्ति 'ग्रंथि' में भी है, पर वहाँ मन आवेशपूर्ण अधिक है। अभिव्यक्ति का ढंग भी वहाँ इतना सहज और कलात्मक नहीं है जितना इस गीति-ग्रंथ में। क्या संयोग, क्या वियोग, क्या रूप-वर्णन और क्या प्रकृति का उद्दीपनकारी प्रभाव, सभी सधी तूलिका से अंकित हुए हैं। इन्हीं गीतों में प्रेम के क्षेत्र में पंत जी के वास्तविक स्वभाव और उनकी सच्ची अनुभूति के दर्शन होते हैं।

मेरी दृष्टि से काव्य और कला दोनों दृष्टियों से 'गुञ्जन' पंत जी की अब तक की रचनाओं में सर्वश्रेष्ठ रचना है और यह तो निर्विवाद है ही कि वह सबसे सफल और लोकप्रिय रचना है।

कोमल भावों और प्रेरक विचारों के साथ कल्पना की रम्यता और सूक्ष्मता भी इस कृति में देखने योग्य हैं। प्रकृति के क्षेत्र में 'एक तारा' और 'नौका-विहार', प्रेम के क्षेत्र में 'कब से विलोकती तुमको' और 'आज रहने दो यह गृह-काज' के समान ही कल्पना के क्षेत्र की दो रचनाएँ 'भावी पत्नी के प्रति' और 'अप्सरा' हैं। इन दोनों रचनाओं में भावुकता कल्पना के भीतर से प्रस्फुटित हुई है।

प्रतिभा के समान कल्पना भी एक ईश्वरीय देन है। व्यक्ति इसका सदुपयोग भी कर सकता है और दुरुपयोग भी। मौलिकता की जननी यही कल्पना है। भाव और विचार की अभिव्यक्ति में चमक (Lustre) इसी के कारण आती है। इसी का उचित प्रयोग करके तुलसीदास हिंदी काव्य-जगत में प्रथम पद के अधिकारी हुए और इसी का प्रयोग विलक्षण ढङ्ग से करने के कारण केशव 'कठिन काव्य के प्रेत' कहलाए। उपर्युक्त दोनों रचनाएँ कल्पना-शक्ति का श्रेष्ठतम उदाहरण हैं। 'भावी पत्नी के प्रति' में तो कल्पना का थोड़ा आधार भी है—संभव है कवि की दृष्टि में कोई सौंदर्य मूर्ति घूम रही हो; पर 'अप्सरा' में तो वह आधार भी नहीं। पहली रचना फिर भी थोड़ी बहुत धरती से संबंध रखती है, पर दूसरी तो एक दम स्वर्ग की है। इस मूर्ति को कवि ने अपनी कल्पना से निर्मित किया है। इस सौंदर्य-मूर्ति को अंकित करने में कवि की कल्पना ने सारी प्रकृति में से सौंदर्य की सामग्री को एकत्र किया है, रूप के उपादानों को

जुटाया है। सौंदर्य का ऐसा अपूर्व चित्र पंत जी की रचनाओं में दूसरा नहीं पाया जाता। एक स्थल देखिए—

इंद्र लोक में पुलक नृत्य तुम
करती लघु-पद-भार!
तड़ित-चकित चितवन से चंचल
कर सुर-सभा अपार,
नग्न देह में नव-रँग सुर-धनु
छाया-पट सुकुमार,
खोंस नील-नभ की वेणी में
इंदु कुन्द-द्युति स्फार,
स्वर्गंगा में जल-विहार जब
करती, बाहु-मृणाल
पकड़ पैरते इंदु-बिंब के
शत-शत रजत मराल
उड़-उड़ नभ में शुभ्र-फेन कण
बन जाते उडु-बाल,
सजल देह-द्युति चल लहरों में
बिंबित सरसिज-माल

'इंद्र' शब्द के साथ ही वैभव और विलास की बहुत-सी भावनाएँ सम्बद्ध हैं और आगे चलकर 'अपार' शब्द लाए हैं, जिससे एक विराट सुर-सभा का चित्र आँखों के आगे घूम जाता है। 'लघु-पद-भार' और 'पुलक नृत्य' से लगता है जैसे मलय पवन का गात लिए कोई नर्तकी मंद गति से थिरक रही हो। चितवन को जो 'तड़ित-चकित' का विशेषण दिया है उससे कई बातें ध्वनित होती हैं। पहली यह कि चितवन कभी यहाँ, कभी वहाँ, अभी इस पर, अभी उस पर, पड़ रही है। नृत्य में यही स्वाभाविक है। दूसरे वह चितवन जहाँ भी पड़ती है वहीं चकाचौंध उत्पन्न करती है अर्थात् दृष्टि को चकित और हृदय को चमत्कृत करती है। दर्शक की दृष्टि उस चितवन को बाँध नहीं पाती। तीसरे वह

चितवन विद्युत् जैसी उज्ज्वल है। 'चंचल' शब्द द्वारा दर्शकों पर नृत्य का प्रभाव अंकित किया है। किसी प्रकार का कोलाहल नहीं है, पर सारी सुर-सभा हिल उठी है, सबकी टकटकी जैसे अप्सरा पर ही लगी हुई है।

दृष्टि फिर शरीर पर पड़ती है। नग्न देह है। उस पर इंद्रधनुषी-झीना पट है। वेणी में कुंद पुष्प लगे हैं जैसे नीले नभ में चन्द्रमा जड़ दिया गया हो।

'नग्न देह' कहते ही जो चित्र आँखों के सामने खड़ा होता है, उससे सभी सहृदयों का परिचय है। उससे मन में जो भाव (विकार शब्द का प्रयोग हम नहीं करेंगे) उत्पन्न होता है, वह भी किसी से छिपा नहीं। यह सत्य है कि इस नग्न देह पर यहाँ आवरण है, निरावरण नहीं है वह, पर वह आवरण इतना झीना है कि उसका होना न होना बराबर है। कभी-कभी सुन्दर देह पर झीना आवरण भावना को और भी उद्दीप्त करता है। परन्तु यह पंत जी की कला की विशेषता ही समझिए कि इस नग्न देह के वर्णन से वासना उत्तेजित नहीं होती, आत्मा एक प्रकार के सूक्ष्म आनन्द से भर जाती है। यही चित्र कम कुशल कलाकार के हाथ में पड़कर अश्लील हो जाता। अश्लीलता दृश्य में नहीं होती, दृश्य को आँखों के सामने फेंकने में होती है। यहाँ मुझे उस प्रसंग की याद आ रही है जब सीता जी प्रथम बार रंगभूमि में प्रवेश करती हैं। तुलसी का रूप-वर्णन भी उस प्रसंग में विलक्षण है। शरीर का वर्णन करते हुए एक स्थान पर वे कहते हैं, "सोह नवल तन सुन्दर सारी।" तुरंत ही उन्हें ध्यान आता है, राजाओं की दृष्टि इन पर पड़ेगी। हो सकता है वह दृष्टि विकार-ग्रस्त हो। इसी से कहते हैं—"जगत जननि अतुलित छवि भारी।" जब सीता जी को जगत की जननी बता दिया तो किसका साहस है कि बुरी दृष्टि डाल सके। परन्तु कला को यहाँ आघात पहुँचा है। आखिर, राजा लोग सीता जी को जननी समझकर तो स्वयंवर में आए नहीं थे! प्रशंसा की बात तो तब है कि आप रूप का वर्णन कर जायँ और उत्तेजना उत्पन्न न हो।

आगे की पंक्तियों में अप्सरा की 'क्रीड़ा' का वर्णन है। अप्सरा स्वर्गंगा में जल-विहार कर रही है। मृणाल सी कोमल बाहों से वह तैर रही है। प्रसिद्ध है कि मृणाल को हंस घेर लेते हैं। परन्तु मृणाल सी बाँह को यदि सच्चे हंस घेर लें तो न जाने अप्सरा की क्या गति हो, इसी से कवि ने चंद्रमाओं से

भी नहीं, चंद्रमाओं के प्रतिबिंबों के मरालों से उसे घिरवाया है। सच्ची भावुकता न होने से रीति-काल के एक कवि ने ऐसी ही स्थिति में अपनी नायिका की दुर्दशा करा दी है—

आनन हैं अरविंद न फूले, अलीगन भूले कहा मँडरात हो,
कीर कहा तुम्हें वायु लगी, भ्रम बिंब के ओठन को ललचात हो,
'दास जू' व्यालो न, वेणी बनाव है, पापी कलापी कहा इतरात हो,
बोलती बाल, न बाजती बीन, कहा सिगरे मृग घेरत जात हो।

जल में क्रीड़ा करने से उजले फेन इधर-उधर बिखर जाते हैं। वे ही तो आकाश के तारे हैं। इसी आकाश गंगा में कमलों की पंक्ति सुशोभित है। उसे देखकर भ्रम न होना चाहिए। वह और कुछ नहीं, अप्सरा के देह की द्युति ही प्रतिबिंबित हो रही है।

कैसी अपूर्व सौंदर्य की सृष्टि कवि ने की है। ऐसे ही चित्रों को लक्ष्य करके कीट्स ने कहा था : सौंदर्य-चित्र सतत-आनन्ददायी होते हैं—

A thing of beauty is a joy for ever.

'गुंजन' की कला 'वीणा', 'ग्रंथि', 'पल्लव' तीनों से भिन्न प्रकार की है, इसका आभास उसके गीतों को गुनगुनाते ही मिलता है। इन गीतों में संगीत के तत्त्व समाए हुए हैं अर्थात् ये गीत बड़े गेय हैं। पंत जी की सभी रचनाओं में सबसे अधिक गेय गीत 'गुंजन' में ही पाए जाते हैं। यों गुञ्जन में लंबी रचनाएँ भी हैं जैसे चाँदनी, एक तारा, मधुवन, अप्सरा, नौका विहार और भावी पत्नी के प्रति, पर इन रचनाओं के सस्वर पाठ से भी बड़ा माधुर्य बरसता है। भूमिका में पंत जी ने कहा है, "पल्लव की कविताओं में मुझे 'सा' के बाहुल्य ने लुभाया था, गुंजन में 'रे' की पुनरुक्ति का मोह नहीं छोड़ सका। 'सा' से जो मेरी वाणी का सम्वादी स्वर एकदम 'रे' हो गया, यह उन्नति का क्रम संगीत-प्रेमी पाठकों को खटकेगा नहीं, ऐसा मुझे विश्वास है।" परन्तु ध्यान से देखने पर गुञ्जन का संगीत 'रे' की आवृत्ति पर निर्भर नहीं करता 'न' के प्रचुर प्रयोग से उत्पन्न होता है। 'गुञ्जन' की अधिकतर रचनाओं की प्रथम पंक्ति और उसकी तुकों का अंत 'न' में होता है। देखिए—

(१) बन-बन, उपवन—
छाया उन्मन - उन्मन गुंजन,
नव - वय के अलियों का गुञ्जन !

(२) तप रे मधुर मधुर मन !
विश्व-वेदना में तप प्रतिपल,
जग-जीवन की ज्वाला में गल
बन अकलुष, उज्ज्वल औ' कोमल,
तप रे विधुर - विधुर मन !

(३) सुन्दर मृदु-मृदु रज का तन
चिर सुन्दर सुख-दुख का मन,
सुन्दर शैशव यौवन रे
सुन्दर सुन्दर जग-जीवन !

(४) मुसकुरा दी थी क्या तुम, प्राण !
मुसकुरा दी थी आज विहान ?

(५) आज शिशु के कवि को अनजान
मिल गया अपना गान !

—आदि

आधुनिक युग में गीत को जो गीति (Lyric) की संज्ञा मिली है वह ऐसी ही रचनाओं के कारण। ये गीतियाँ आत्म-परक, एक विशेष वृत्ति (mood) को व्यक्त करने वाली, संगीतात्मक और आकार में लघु होती हैं। इन गीतों में 'न' के अतिरिक्त, ऐसे व्यंजनों का प्रयोग भी बाहुल्य के साथ हुआ है जो संगीत की सृष्टि के लिए उपयुक्त और कोमल हैं जैसे 'ग' 'प' 'ब' 'व' 'म' 'ल' 'स' आदि। अनुस्वार का प्रयोग भी इन गीतों में खुलकर हुआ है। फिर भी इन रचनाओं का माधुर्य व्यंजनों की कोमलता, अनुस्वार के बाहुल्य और अनुप्रास के प्रयोग तक ही सीमित न रहकर कुछ अधिक गहरा है। पढ़ने से ही पता चलता है कि संगीत पूरी रचना में ही व्याप्त है। कहने का तात्पर्य यह है कि इन गीतों की आत्मा ही संगीतात्मक है।

इस राग के अंतर्गत उस ध्वनि को भी लेना चाहिए जो प्रकृति की बहुत सी वस्तुओं का गुण है और जिसकी अभिव्यक्ति विभिन्न माध्यमों द्वारा विभिन्न रूप धारण करती है। समुद्र में उसका कुछ रूप है, आँधी में कुछ, लहरियों में कुछ। नीचे के उदाहरणों पर ध्यान दीजिए—

(१) जगज्जलधि हिल्लोल विलोड़ित।
(२) मंद्र, द्रुम मर्मर-सा अज्ञात।
(३) बन-बन, उपवन—
छाया उन्मन-उन्मन गुंजन।
नव-वय के अलियों का गुंजन!
(४) गंध-गुञ्जित कुंजों में आज
बँधे बाँहों में छायाऽलोक!

पहले उदाहरण से लगता है जैसे लहरें एक दूसरे से टकराकर कोलाहल कर रही हों, दूसरे से जैसे वृक्ष के हिलने से पत्रों से मर्मर ध्वनि फूट कर हमारे कानों तक आ रही हो, तीसरे से जैसे भौंरे हमारे चारों ओर गूँजते फिर रहे हों और चौथे से जैसे कोई शीतल कुञ्ज है जहाँ गन्ध की भीनी महक के साथ मधुर ध्वनि परिव्याप्त है और इसी वातावरण में प्रेमी-प्रेमिका (यहाँ छाया और आलोक) निश्चित मन एक दूसरे का आलिंगन कर रहे हैं।

इस संगीत में किसी अंश तक योग देने वाली वह पुनरुक्ति भी है जिसके अनुसार कवि माधुर्य की वृद्धि के लिए शब्द या शब्द-समूह को दुहराता है जैसे—

यह जीवन का है सागर,
जग-जीवन का है सागर;
प्रिय प्रिय विषाद रे इसका,
प्रिय प्रि' आह्लाद रे इसका।

अलंकारों और चित्रों की बात 'ग्रंथि' और 'पल्लव' के संबंध में उठा ही चुके हैं; परन्तु 'गुञ्जन' में भी उनकी कमी नहीं। उनकी लंबी रचनाओं में उपयुक्त अलंकारों और मनोरम चित्रों की भरमार बराबर देखी जा सकती है।

'गुञ्जन' पंत जी की एक ऐसी कृति है जहाँ भाव की प्रौढ़ता और कला की प्रौढ़ता उठकर एक समतल भूमि पर गले मिलती हैं। पूरी तन्मयता से इसके गीतों की रचना कवि ने की है। ग्रन्थ के अंत में वह स्वयं कहता है—

मुझे न अपना ध्यान,
कभी रे रहा न जग का ज्ञान .
सिहरते मेरे स्वर के साथ
विश्व-पुलकावलि-से तरु-पात;
पार करते अनंत अज्ञात
गीत मेरे उठ सायं-प्रात;
गान ही में रे मेरे प्राण
अखिल - प्राणों में मेरे गान!

'वीणा' से 'गुञ्जन' तक पंत जी की कृतियों में ऐसी दो कृतियाँ नहीं हैं जिनमें कोई एक ही विषय प्रधान हो। किसी में कोई विषय प्रधान है किसी में कोई; परन्तु आगे की कृतियों में ऐसी बात नहीं है। एक ही विषय कई कृतियों में फैला हुआ है। इस दृष्टि से उनके ग्रन्थों को चार भागों में बाँटा जा सकता है—

(१) वीणा, ग्रंथि, पल्लव, गुञ्जन।
(२) युगांत, युगवाणी, ग्राम्या, युगांतर।
(३) स्वर्ण किरण, स्वर्ण धूलि, उत्तरा, अतिमा।
(४) रजत शिखर, शिल्पी।

'युगांत' से कवि लोक-चिंता में लीन हो जाता है; अतः भावुकता के निकास के उसे कम अवसर मिलते हैं। एक नवीन क्षेत्र में प्रवेश कर वह एक सर्वथा नवीन युग लाने के लिए आकुल है। ऐसी दशा में भावुकता को अधिक स्थान ही नहीं। चिंतित व्यक्ति की भावुकता अपने आप ही दब जाती है। प्रकृति के अपार आनंद को चित्रित करते हुए जीवन के प्रति विश्वासी और आशावादी होने का संदेश उसने इन कृतियों में दिया है। स्वयं कवि का आशावादी स्वर इसमें देखने योग्य है। इस ग्रन्थ के अन्त में महात्मा गांधी की उसने इसलिए

प्रशंसा की है कि वे उसे मानवता के उद्धारक प्रतीत हुए। मानव का खोया सुख उसे फिर मिलना चाहिए, यही अब उसकी चिंता का मुख्य विषय है। प्रकृति की सुन्दरता और निर्द्वन्द्वता के सामने मानव-जगत उसे श्री-हीन और लड़खड़ाता लगता है। नीचे के दो चित्र देखिए जिनमें उसकी भावुकता सहज-भाव से उभर आई है—

(१) वे चहक रही कुंजों में चंचल सुन्दर
चिड़ियाँ, उर का सुख बरस रहा स्वर स्वर पर!
पत्रों पुष्पों से टपक रहा स्वर्णातप
प्रातः समीर के मृदु स्पर्शों से कँप कँप!
शत कुसुमों में हँस रहा कुंज उड्ड-उज्ज्वल
लगता सारा जग सद्यः स्मित ज्यों शतदल!
है पूर्ण प्राकृतिक सत्य! किंतु मानव-जग!
क्यों म्लान तुम्हारे कुंज, कुसुम, आतप, खग?

(२) बाँसों का झुरमुट—
संध्या का झुटपुट—
हैं चहक रही चिड़ियाँ
टी-वी-टी—टुट्-टुट्!
वे ढाल ढाल कर उर अपने
हैं बरसा रहीं मधुर सपने
श्रम-जर्जर विधुर चराचर पर
गा गीत स्नेहवेदना सने!
ये नाप रहे निज घर का मग
कुछ श्रमजीवी धर डगमग डग,
भारी है जीवन! भारी पग!

'युगवाणी' में कवि की आकांक्षा को एक आधार मिलता है। यह आधार है मार्क्सवाद का। यह सोचना भूल होगी कि कवि मार्क्सवादी हो गया है। हाँ, मार्क्सवाद में जन-जीवन के लिए जो तत्त्व उपयोगी हैं उन्हें उसने ग्रहण किया

है। यहाँ वह अंतर्जगत के विकास के लिए गांधीवाद और बाह्य जगत के लिए मार्क्सवाद के समन्वय के पक्ष में है। न वह आत्मवाद को आँख मींच कर स्वीकार करता है और न भौतिकवाद को। सच्ची भावुकता की यही कसौटी है कि अपनी तुष्टि के लिए जहाँ भी उसे सार-तत्त्व दिखाई देता है वह वहीं से उसे ग्रहण कर लेती है। युग-वाणी अधिकतर एक सिद्धान्तवादी रचना है अर्थात् कवि अपनी कुछ मान्यताओं में पाठकों को दीक्षित कर रहा है; अतः भाव-पक्ष यहाँ भी तिरस्कृत है। प्रकृति संबंधी रचनाएँ ही कुछ अधिक सरस हैं। फिर भी अंतर की भावुकता कहीं-कहीं बड़ा रम्य रूप धारण करती है—

मेरे आँगन में, (टीले पर है मेरा घर)
दो छोटे-से लड़के आजाते हैं अक्सर;
नंगे तन. गदबदे, साँवले, सहज छबीले,
मिट्टी के मटमैले पुतले,—पर फुर्तीले!
सुन्दर लगती नग्न देह, मोहती नयन-मन,
मानव के नाते उर में भरता अपनापन!

'ग्राम्या' में ग्राम-जीवन का चित्रण हुआ है। यद्यपि पर्व-तीर्थ, नृत्य-गीत, पनघट और खेतों के रोमांस आदि के रूप में कवि ने गाँवों के सौंदर्य, आनन्द और उत्साह को भी चित्रित किया है, पर सब मिलाकर यह वर्णन अभावात्मक अधिक है। इससे गाँव की दरिद्रता, मलिनता, रूढ़िवादिता और अपूर्णता अधिक प्रत्यक्ष होती हैं। भारतवर्ष गाँवों का देश है और हिंदी के बहुत से कवि ग्राम जीवन से आकर्षित हुए हैं; पर सम्भवतः आधुनिक कवियों में पं० सुमित्रानंदन पंत ही अकेले ऐसे कवि हैं जिन्होंने ग्राम-जीवन पर एक ही स्थान पर व्यवस्थित रूप से इतना लिखा है। ग्राम-जीवन को लेकर उन्होंने पूरी पुस्तक ही लिख डाली है, यद्यपि यह दूसरी बात है कि यह भावुकता किस कोटि की और यह वर्णन कितना मार्मिक और सफल है। इन कविताओं को पढ़ कर गाँवों की ओर लौटने को नहीं, गाँवों की ओर से पीठ फेरने को मन करता है। प्रकृति और जीवन संबंधी ग्राम्या के दो सफल चित्र देखिए जिनमें कवि की भावुकता पूरी तरह से रम गई है—

(१) अब रजत स्वर्ण मंजरियों से
लद गई आम्र तरु की डाली,
झर रहे ढाँक, पीपल के दल
हो उठी कोकिला मतवाली।
पीले मीठे अमरूदों में
अब लाल-लाल चित्तियाँ पड़ीं,
पक गए सुनहले मधुर बेर
अँवली से तरु की डाल जड़ी।

(२) नारी की संज्ञा भुला, नरों के संग बैठ,
चिर जन्म सुहृद सी जन हृदयों में सहज पैठ,
जो बँटा रही तुम जग जीवन का काम काज
तुम प्रिय हो मुझे : न छूती तुमको काम लाज।
सर से आँचल खिसका है,—धूल भरा जूड़ा,
अध खुला वक्ष,—ढोती तुम सिर पर धर कूड़ा;
हँसती बतलाती सहोदरा सी जन-जन से,
यौवन का स्वास्थ्य झलकता आतप-सा तन से।

प्रगति सम्बन्धी इन कृतियों में एक प्रकार की नवीन कला का श्री गणेश हुआ है और वह कला है यह कि अब कवि कला को भाव से भिन्न कोई वस्तु नहीं मानता, भाव को ही उसने यह स्वतन्त्रता दी है कि वह अपनी कला व्यक्त करे। इन ग्रन्थों में वह सरल होने का प्रयत्न कर रहा है और प्रयत्न कर रहा है इस बात का कि वह अपने भाव को सहजभाव से प्रकट कर सके। फिर भी इस बात को एक दम नहीं भूल जाना है कि कला के क्षेत्र में इस नए प्रयोग को करने वाला कला-पारखी, कला-मर्मज्ञ और कलाकार है। यही कारण है कि वर्णनों में अब भी वैसी ही चित्रमयता बनी हुई है, विशेषरूप से प्रकृति-सम्बन्धी रचनाओं में। उदाहरण के लिए हम गंगा की साँझ, गंगा का प्रभात, संध्या के बाद, दिवा स्वप्न, रेखाचित्र आदि को देखें। प्रकृति-सम्बन्धी कविताओं में कहीं-कहीं प्रवाह भी विलक्षण है जैसे पुण्य प्रसू, आम्र विहग, झंझा में नीम

Library Sri Pratap College
Srinagar

आदि में। कहीं-कहीं विरोधी शब्दों के प्रयोग से चमत्कार भी उत्पन्न किया गया है जैसे 'बापू के प्रति' में। ध्वन्यात्मक शब्दों का प्रयोग और वर्ण-चित्रण भी कहीं-कहीं वैसा ही है। परन्तु ये ऐसे संस्कार हैं जिनसे पीछा छुड़ाना कठिन है। फिर भी यह बात स्पष्ट है कि विचारों के एक नवीन क्षेत्र को अपनाने के साथ ही कवि ने कला के नवीन क्षेत्र में पदार्पण किया है और जैसे पिछली रचनाओं में कला की रम्यतम अभिव्यक्ति 'गुञ्जन' में हुई वैसे ही अभ्यास के उपरांत कला की वास्तविक मुक्ति इधर की कृतियों में 'ग्राम्या' में ही कुछ हो पाई है। विवरण की ओर अधिक ध्यान होने के कारण कहीं-कहीं ऐसे शब्दों का प्रयोग कवि ने किया है जो गद्य में ही अधिक शोभा पाते हैं जैसे वाष्पाच्छादित, परिस्थितियाँ, वानस्पत्य, स्तंभवत्, स्फुरत्प्रभ, अनिर्वाप्य, फेनिलोर्मि, वेश्मतल, मृत्स्ना, तिग्म आदि। यह बात शब्दों तक ही सीमित नहीं है, कहीं-कहीं पंक्तियाँ भी ऐसी लगती हैं जैसे सोचते-सोचते ज्यों की त्यों लिख दी हों जैसे—

(१) आकुल उर्सी के लिए जन-मन।
(२) मूल व्यक्ति को फिर से ढालो।
(३) रहने योग्य कर दिया इसको।

इतना होने पर भी कवि को अपने कर्म से पूरा संतोष प्रतीत होता है। उसका कहना है—

तुम वहन कर सको जन मन में मेरे विचार,
वाणी मेरी चाहिये तुम्हें क्या अलंकार !

'स्वर्ण किरण', 'स्वर्ण धूलि', 'उत्तरा' और 'अतिमा' में एक नवीन चेतनावाद की स्थापना पंत जी ने की है। यह चेतनावाद प्राचीन अध्यात्मवाद से इस बात में भिन्न है कि वह संसार से विरक्ति उत्पन्न करता था, यह उसमें अनुरक्ति उत्पन्न करता है, वह व्यक्ति की मुक्ति का समर्थक था, यह सामाजिक कल्याण का, वह स्वर्ग के स्वप्न देखता था, यह पृथ्वी को ही स्वर्ग बनाने का अभिलाषी है। 'स्वर्ण किरण' में कवि ने अपने इस चेतनावाद की व्याख्या की है, 'स्वर्ण धूलि' में उसी को सामाजिक जीवन में लागू करके दिखलाया है और 'उत्तरा'

तथा 'अतिमा' में उस आनन्द का वर्णन किया है जो सिद्धि या स्वप्न के सफल होने से प्राप्त होता है। चेतना के इस विकास को उसने अनेक नामों से अभिहित किया है जैसे आंतरिक सत्य, आंतरिक वैभव, अंतर्जीवन, अंतर्गरिमा, आत्मिक धन, आत्मिक ऐश्वर्य आदि। चेतना के विकसित होने पर यह सम्भव ही नहीं है कि व्यक्ति का दृष्टिकोण संकीर्ण रह जाय। यही कारण है कि 'स्वर्णधूलि' की कुछ रचनाएँ जैसे पतिता, परकीया आदि बड़े उदार दृष्टिकोण का परिचय देती हैं। सभी प्रकार की क्षुद्रताओं और तामसी वृत्तियों का विरोध कवि ने इस ग्रन्थ में किया है। उत्तरा में थोड़ी तम की चर्चा, तम और सत् के संघर्ष और अन्त में तम पर सत् की विजय दिखाई गई है। उत्तरा सौंदर्य के जीवन, प्रेम के जीवन और आनन्द के जीवन-गीतों से भरी पड़ी है। ये चेतना के गीत हैं—साधना के गीत। वैसे इस काव्य का वर्तमान से इतना सम्बन्ध नहीं है जितना भविष्य से; अतः हम चाहें तो इसे भविष्य-काव्य भी कह सकते हैं। उत्तरा में कवि ने ऋषियों की सी दृष्टि लेकर भविष्य में आने वाले मानव के विकसित अन्तर के आनन्द का वर्णन किया है। एक विराट स्वप्न और उस स्वप्न की सिद्धि को ही अब कवि जीवन की सार्थकता समझने लगा है—

(१) कितने स्वप्न—मूक है भाषा !
मेरे इन प्राणों में कोमल !

—स्वर्ण किरण

(२) यहाँ तो झरते निर्झर
स्वर्ण किरणों के निर्झर
स्वर्ग सुषमा के निर्झर !

—स्वर्ण धूलि

(३) फूलों की ज्वालाएँ भरतीं
मेरे अन्तर में उद्दीपन,
जीवन के शोभा तम के प्रति
मेरे मन में चिर आकर्षण !

मिट्टी के तंद्रिल मानस में
जगते उज्ज्वल फूलों के पल,
मैं शोभा स्रष्टा, ज्ञात मुझे
ज्वाला का उसका अंतस्तल !
ये निःस्वर, सहज मधुरिमा से
अंतरतम कर देते झंकृत,
मैं वाणी का सुत, विदित मुझे
रमणीय अर्थ व्यंजित, अकथित !
मैं स्वप्नों का प्रेमी, मुझको
करता न सत्य जग का मोहित,
मैं बढ़ूँ ज्वार सा डुबा पुलिन
कूलों में बंदी बहे सरित।
मैं फूलों के कुल में जन्मा,
फल का हो मूल्य जगत के हित,
उर शोभा का दे अमर दान
मैं झर चरणों पर हूँ अर्पित !

—उत्तरा

'स्वर्ण किरण' एक प्रतीकवादी रचना है। कुछ प्रतीकों का अर्थ पंत जी ने स्वयं ही खोल दिया है जैसे अरुण ज्वाल (नव चेतना), स्वर्ण निर्झर (सौंदर्य चेतना), स्वर्णिम पराग (मन), ऊषा (मनः स्वर्ग) रजतातप (आत्म-निर्माण), इंद्र धनुष (जीवन निर्माण), स्वर्णोदय (जीवन सौंदर्य) आदि। इनके अतिरिक्त और भी प्रतीक आए हैं जैसे तड़ित, लता, रुधिर आदि। स्वर्ण, ज्वाल और रुधिर का प्रयोग कवि ने इधर की रचनाओं में बहुत किया है। स्वर्ण और ज्वाल के सम्बन्ध में तो कुछ नहीं कहना; परन्तु पंत जी की कोमल कल्पना रुधिर को कैसे सहन करती है, यह मेरी समझ में नहीं आता। इस शब्द के साथ एक प्रकार की वीभत्सता सम्बन्धित है और उससे रस में बाधा पड़ती है ऐसे कुछ प्रयोगों के उदाहरण हम नीचे देते हैं—

(१) धरा स्वर्ग-रक्त स्नात
(२) नव स्वप्न-रुधिर से सिहर सिहर
प्राणों का सागर लहराया !
(३) अब धरा हृदय-शोणित से रंग
नव युग प्रभात श्री में मज्जित।
(४) स्वर्ग रुधिर से अभिषेकित अब
नव युग की अरुणाई !
(५) रक्त सुरा प्यालों से करतल, प्रणय रुधिर से रंजित।
(६) स्वर्ग रुधिर मृन्मांस से बहे
उर में हो चेतना गहन व्रण।

यद्यपि 'स्वर्ण किरण' और उससे भी अधिक 'उत्तरा' में चेतना का मानवीकरण कवि ने किया है और इस प्रकार भावनाओं को नारी रूप देने से कोई न कोई चित्र आँखों के सामने घूमता ही है, पर ये चित्र पकड़ में आने वाले चित्र नहीं। जगने पर जैसे स्वप्न के सूक्ष्म चित्र बहुत कम स्मृति में रह जाते हैं वैसे ही ये चित्र मन में देर तक घुमड़ते नहीं प्रतीत होते। मनोवृत्तियों के विश्लेषण और रूप-चित्रण में कवि को कितना आनन्द आता है, यह बात 'स्वर्ण किरण' की 'ऊषा' शीर्षक रचना में देखी जा सकती है जहाँ उसने कल्पना, आशा, प्रतीति, करुणा, क्षमा, श्रद्धा, सेवा, भक्ति और मुक्ति के साथ क्रीड़ा की है। वर्णन की दृष्टि से सजल करुणा, आभादेही श्रद्धा, गंगाजल सी सेवा और रोमांचों की माला सी भक्ति लिखना ही पर्याप्त था; पर कवि ने इन मनोवृत्तियों की दृष्टि, अधर और वक्षस्थल का भी वर्णन किया है। स्पष्ट है कि भाव और कला की दृष्टि से पाठक ऐसे स्थलों पर उस आनंद का अनुभव नहीं कर सकता जो किसी रचना को पढ़ने से व्यञ्जना द्वारा सीधा और तुरंत उत्पन्न होता है।

इन तीनों ग्रंथों में कला यदि कहीं अनायास बही है तो 'स्वर्ण धूलि' में ही। कहीं कथोपकथन और कहीं कथा-शैली पर कवि ने अपने विचारों और भावों को बड़े सरल और सहज ढंग से वाणी दी है। पिछले कालों की 'गुञ्जन'

और 'ग्राम्या' के समान 'स्वर्ण धूलि' ही स्वर्ण-किरण उत्तरा काल की वह रचना है जो पाठकों को अपेक्षाकृत अधिक प्रिय रहेगी। 'स्वर्ण किरण' 'स्वर्ण धूलि' और 'उत्तरा' में वैसे प्रकृति, प्रेम और प्रार्थना संबंधी रचनाएँ समान रूप से सफल हैं। 'स्वर्ण किरण' के प्रकृति संबन्धी दो शृङ्गारी चित्र देखिए—

(१) वसुधा के उरोज शिखरों से खिसका चल मलयांचल,
सरिता के जाँघों से सरका लहरा रेशम सा जल!

(२) नवल उरोज सरोज हुए सरसी के दोलित,
लहरों का आँचल दे वह तन करती आवृत।

चलते-चलते कुछ नवीन उपमाओं के इधर के प्रयोग भी देखते जाइए—

(क) मेघों की गुरु गुहा सा गगन।
(ख) दीपशिखा सी जगे चेतना
(ग) चेतना समीरण सी बहती।
(घ) अब शरद मेघ सा मेरा मन
हो गया अश्रु झर से निर्मल।
(ङ) रजत झाँझ से बजते तरुदल।

'अतिमा' में चार प्रकार की रचनाएँ पाई जाती हैं : (१) व्यक्तिगत ढंग की (२) विचार-प्रधान (३) प्रकृति सम्बन्धी और (४) नवचेतनावादी। व्यक्तिगत ढंग की रचनाओं में पन्त जी ने अपने व्यक्तित्व, स्वभाव और कवि-कर्म की व्याख्या की है। इसमें जहाँ उन्होंने अपने विनम्र और संयत स्वभाव की चर्चा की है अथवा आत्म-प्रदर्शन से दूर रहने की बात उठाई है या स्वयं को अन्तर्मुखी वृत्ति का प्राणी बतलाया है या प्रभात का दूत और प्रीति एवं आशा का स्वरकार घोषित किया है, वहाँ तक शायद ही किसी का मतभेद हो। उनके सम्पर्क में आने वाले व्यक्ति और उनके काव्य के पाठक इससे अधिक ही उन्हें समझते हैं। पर एक स्थान पर उन्होंने अपने को 'अमर शिल्पी' भी लिखा है। यह बात आत्म-प्रदर्शन या आत्म-विज्ञापन से बढ़कर थोड़ी आत्म-श्लाघा के अन्तर्गत आती है। इन रचनाओं में पंत जी कहीं-कहीं बहुत

भाव-मग्न हो गये हैं। उनकी यह भाव-मग्नता पाठक को प्रभावित करती है। विचार-प्रधान रचनाओं में से जिन कविताओं में सीधे उपदेश दिये गये हैं, वे तो पाठक के मन को क्या छूतीं, पर जिनका आधार कोई मार्मिक प्रसंग है वे अन्तर को निश्चित रूप से आंदोलित करती हैं। कारण यह है कि वहाँ विचार भावपूर्ण परिस्थिति के भीतर से प्रस्फुटित हुये हैं। नवचेतनावादी रचनाओं में अनेक स्थल ऐसे हैं जहाँ यह प्रतीत होता है कि कवि ने मन के भीतर डूबकर इनकी सृष्टि की है; पर पाठक का मन वहाँ भी केवल चमत्कृत होता है, कवि के मन से तादात्म्य का अनुभव नहीं करता—वह क्योंकि कवि पर विश्वास करता है; अतः उसकी बात पर विश्वास ही कर सकता है। रस उसे इन रचनाओं में ढूँढ़ने पर भी नहीं मिलता। उसके लिये अभी ये बड़ी अपरिचित परिस्थितियों, विलक्षण अनुभव और असाधारण मनोभूमियों की रचनाएँ हैं। हाँ, प्रकृति संबंधी रचनाएँ बड़ी सशक्त और सफल बन पड़ी हैं। उनके अध्ययन से वह उसी रस का अनुभव करता है जिसका आस्वादन वह पल्लव-काल से करता आया है।

प्रतीक-विधान पंत जी के काव्य में 'वीणा-काल' से ही पाया जाता है। यह प्रवृत्ति धीरे-धीरे बढ़ती गई और 'स्वर्ण-किरण' में कुछ अधिक संख्या में प्रतीकों का प्रयोग पंत जी ने किया। इतना होने पर भी तब उन्हें वादी के रूप में नहीं स्वीकार किया जा सकता था। पर 'अतिमा' तक आते-आते प्रतीकों के प्रति पंत जी का मोह बढ़ गया है। एक प्रकार से अब उनकी कला का यह प्रधान रूप है; अतः इस सीमा पर आकर उन्हें निस्संकोच भाव से 'प्रतीकवादी' कहा जा सकता है।

इन प्रतीकों को दो कोटियों में विभाजित किया जा सकता है—

(१) प्रकृति-सम्बन्धी प्रतीक—

(क) आकाश मेघ और सुरधनु, क्षितिज अरुणोदय और अन्धकार, सरोवर कमल और परिमल, सागर ज्वार और तीर, शिखर और निर्झर।

(ख) नभचर, जलचर, कीट-पतंग आदि जैसे—

कौवे, मेंढक, बतखें, छिपकली, भृङ्ग, पतंगे आदि।

(२) अन्य प्रतीक—

तरणी, वंशी, पावक, नूपुर, दीप आदि ।

ये प्रतीक प्रायः अन्तःकरण की भावनाओं के स्थानापन्न होकर आये हैं । प्रतीक क्योंकि अर्थ को ध्वनित करते हैं; इसी से उन्हें प्रायः स्पष्ट नहीं किया जाता । कुछ ऐसे प्रतीकों का जिनकी व्याख्या कवि ने कर दी है एक उदाहरण लीजिये—

पर, प्रकाश, प्रेमी पतंग या
छिपकलियाँ केवल प्रतीक भर,
ये प्रवृत्तियाँ भू मानव की,
इन्हें समझ लेना श्रेयस्कर !
ये आत्मा, मन, देह रूप हैं
साथ-साथ जो जग में रहते ।

अपनी प्राचीन मान्यताओं के कारण 'अतिमा' में पंत जी ने स्त्रीलिंग-पुल्लिंग के प्रयोग में घपला किया है । सौरभ, छाता और क्षण को जो पुल्लिंग हैं उन्होंने स्त्रीलिंग माना है । देखिए—

(१) अमृत कोष भुवनों की सौरभ

(२) छोटी छोटी छाता

(३) प्रतीक्षा की क्षण

ऐसे ही वे एक स्थान पर 'जग' के साथ 'हंस' की तुक मिला गये हैं जो ठीक से खप नहीं पाई ।

कुछ रचनाओं के शीर्षक भी आज की प्रयोगवादी कविता का बढ़ता प्रभाव सूचित करते हैं जैसे 'कौवे, बतखें, मेंढक' एवं 'प्रकाश, पतिंगे, छिपकलियाँ' काव्य-कला पर विचार करना भी उनके विषयों में से एक प्रिय विषय रहा है । एक समय था जब वे कहा करते थे कि उनकी वाणी को अलंकारों की आवश्य-कता नहीं । इस बात का निर्वाह वे कभी नहीं कर पाये । 'विज्ञापन' में तो नई कविता के रूप-विधान के सम्बन्ध में उन्होंने बात को और भी बढ़ाकर कहा है—

छन्द बन्ध खुल गए,
गद्य क्या बनीं स्वरों की पातें ?
सोना पिघल कभी क्या
पानी बनता ? कैसी बातें ?
गीत गल गया सही,
मधुर झंकार नहीं पर खोई,
सूक्ष्म भाव के पंख खोल
अब मन में गंध समोई !
तुक ? शुक मुक्त हुआ
स्वर की रट के पिंजर से सहसा,
मन की डाल-डाल पर गाता
वह किंशुक-सा मुँह बाऽ !
तब क्या मोहक वाग्विलास यह,
या विकास कविता का ?

प्रारंभ से लेकर अब तक मात्रिक छंदों का प्रयोग ही पंत जी ने अधिकतर किया है। भाव में गति लाने के लिए इन छंदों में थोड़ी काट-छाँट वे कभी-कभी कर देते हैं। सैकड़ों ही छंदों का प्रयोग उन्होंने आज तक किया होगा, पर शायद ही कोई उदाहरण ऐसा मिले जहाँ छन्द का ढाँचा भाव की आत्मा के अनुकूल न हो। 'स्वर्ण धूलि' में कुछ छोटे-छोटे छन्दों का प्रयोग भी पंत जी ने किया है जो बहुत सफल बन पड़ा है। भाषा, छन्द, अलंकार सभी पर अब उनका असाधारण अधिकार हो गया है। प्रारंभिक रचनाओं का मुख्य बल रहा है 'शब्द', इधर की रचनाओं का बल रहा है 'अर्थ'। पहले अर्थ की व्यंजना शब्द के भीतर से होती थी, अब शब्द अर्थ में घुल गए हैं अर्थात् कला भाव में लीन हो गई है। कला की सबसे बड़ी सिद्धि यही है।

———

Library Sri Pratap College

मूल्यांकन

बीसवीं शताब्दी के लगते न लगते छायावाद-युग के निर्माण के लिए ईश्वर ने विराट प्रतिभा देकर किसी व्यक्ति को भेजना चाहा। परन्तु उसने देखा एक के स्थान पर उसकी आँखों के सामने चार आत्माएँ खड़ी हैं। वह असमंजस में पड़ गया। कुछ सोचने के उपरांत उसने प्रसाद को महाकाव्यत्व की गरिमा और आनंद का आलोक, निराला को पौरुष का स्वर और विद्रोह की आग, पंत को कल्पना की विभूति और संस्कृति का स्वप्न एवं महादेवी को अपने प्रेम की पीड़ा और आँसुओं की निधि सौंपकर विदा किया।

विराट प्रतिभा के आंशिक अधिकारी इन चारों महाकवियों की साधना की सामान्य चर्चा भी यदि की जाय तो युग का इतिहास ही खड़ा हो जाय। कारण यह है कि इनमें से प्रत्येक की अपनी देन ही अत्यंत महत्त्वपूर्ण और असाधारण है। अकेले पंत जी को ही लें तो हिंदी में पिछले पचास वर्ष के काव्य का सम्पूर्ण विकास उनकी कृतियों में रक्षित है। उनकी प्रतिभा की सबसे प्रमुख विशेषता है एक प्रकार की अभूतपूर्व मौलिकता जिसका परिचय उन्होंने अपने काव्य-जीवन के प्रारंभ से लेकर वस्तु और कला दोनों के क्षेत्र में अब तक दिया है। उन्होंने आत्मसात कुछ भी किया हो, अनुकरण किसी का नहीं किया। और यदि पूर्ववर्ती अथवा समकालीन प्रतिभाओं से प्रभावित होना दोष है, तो दोषी तुलसीदास और शेक्सपियर भी हैं। छायावाद की प्रतिष्ठा बड़ी व्यापक भूमि में अत्यंत विदग्धता से उनके काव्य में हुई और जब कभी रहस्यात्मक अनुभूति उनमें जगी, उसकी अभिव्यक्ति भी उन्होंने संकेतात्मक ढंग से की। प्रकृति-प्रेम और व्यक्तिगत-प्रेम का जैसा मार्मिक विकास उनकी रचनाओं में हुआ, वैसा पिछले एक हज़ार वर्ष के काव्य में भी कहीं नहीं पाया जाता। राष्ट्रीय भावना को भी उन्होंने वाणी दी; पर औरों की भाँति उन्होंने गांधी जी के केवल गुण ही नहीं गाए, गांधीवाद की वास्तविक आत्मा को सधी तूलिका से चित्रित भी किया। जागरण के अग्रदूत बनकर किसान, श्रमिक एवं नारी

की मुक्ति के लिए उन्होंने अपनी वाणी ऊँची की। आगे चलकर मार्क्सवाद के कल्याणकारी तत्वों को उन्होंने ग्रहण किया और अब संसार भर के दार्शनिक चिंतन के सार-स्वरूप चेतनावाद का संदेश वे दे रहे हैं जिससे विश्व-चेतना संबंधी एक प्रकार की विश्व-क्रांति का आयोजन वे कर रहे हैं। भाषा के क्षेत्र में जो प्रांजलता, जो मधुरता और जो व्यंजना उन्होंने खड़ी बोली को प्रदान की, वह सौ वर्ष में भी न प्राप्त हुई होती, यदि पंत जी ने काव्य-क्षेत्र में प्रवेश न किया होता। आज हम जिस भाषा के अनायास उत्तराधिकारी हैं, उसे गुप्त जी ने प्रयोगार्ह बनाया है और पंत जी ने काव्यमयी। काव्य का ऐसा बाह्य और अंतरंग विकास एक ही व्यक्ति में कठिनाई से पाया जाता है।

मौलिक और व्यापक होने के साथ यह काव्य समन्वयात्मक है। हिंदी के बड़े कवियों में कबीर, तुलसी, प्रसाद सभी समन्वयवादी थे। कबीर ने पारमार्थिक सत्ता की अभिन्नता, तुलसी ने भक्ति और ज्ञान के समन्वय तथा प्रसाद ने इच्छा कर्म और ज्ञान के संतुलन पर बल दिया। पंत जी ने तो सभी संभव विरोधी वस्तुओं में समन्वय स्थापित करके उससे परे अपने जीवन-दर्शन की प्रतिष्ठा की है। केवल एक ही ऐसा स्थल है जहाँ वे समन्वय स्थापित नहीं कर पाये और वह है कठोर और कोमल का। इच्छा होती है कि तुलसी के समान परुष वृत्तियों का सौंदर्य भी वे देख पाते। जीवन में निर्माण और विनाश दोनों की आवश्यकता है। विनाश की आवश्यकता भी निर्माण के लिए ही होती है। प्रकृति स्वयं वह सब कुछ नष्ट कर देती है जो रसविहीन, जीवनविहीन, उपयोगिताहीन हो जाता है और फिर उस स्थान को नवीन सृष्टि से भरती है। विकास के पथ में जो बाधा-विघ्न बनकर आये उसे नष्ट कर देना चाहिये। समय आने पर स्वयं नष्ट हो जायगा, केवल ऐसी कोमल कामना ही यथेष्ट नहीं है। विकास के सभी प्रेमियों के साथ कलाकार का धर्म है कि वह अशुभ को निर्दयतापूर्वक नष्ट करके शुभ के संपादन, स्थापन और नैरंतर्य में योग दे।

सन्देश इस काव्य का आशावादी और कल्याणकारी है। सन्देश कबीर ने भी दिया था, जायसी ने भी और तुलसी ने भी। पर इस युग के कवि का उत्तरदायित्व आज बहुत बढ़ गया है। ऐसी दशा में पंत जी की सांस्कृतिक

एकता की स्थापना का महत्त्व असंदिग्ध है। और इस बात पर तो कभी कोई संदेह कर ही नहीं सकता कि वे बड़े सदाशय व्यक्ति हैं।

पंत जी हिंदी के प्रथम श्रेणी के कवियों तुलसी, सूर की कोटि में आते हैं और आधुनिक हिंदी कवियों में भी उनका स्थान बहुत ऊँचा है। यदि क्रम पर ही आग्रह हो तो इस समय वह इस प्रकार है : मैथिलीशरण गुप्त, जयशंकर प्रसाद, सुमित्रानंदन पंत, सूर्यकांत त्रिपाठी निराला, महादेवी आदि। इस क्रम के परिवर्तित होने के अब कोई लक्षण दिखाई नहीं देते सिवाय इसके कि पंत, निराला, महादेवी में से कोई कामायनी की टक्कर का महाकाव्य भविष्य में लिख सके। पर ऐसी आशा भी अब केवल पन्त जी से ही की जा सकती है। प्रसाद की विराट प्रतिभा का वास्तविक उपयोग जैसे कामायनी में हुआ है, पंत जी की विराट कल्पना का उपयोग वैसे ही किसी महाकाव्य के रूप में सफलतापूर्वक हो सकता है। उनकी लम्बी और कुछ घटना-प्रधान रचनाओं को देखकर यह विश्वास जमता है कि महाकाव्य के लिए अपेक्षित चरित्र-चित्रण, सम्वाद और वर्णन की शक्ति उनमें कम नहीं है। कमी है वस्तु (Plot) निर्माण की। कल्पना की अपरिमेय शक्ति, विचारों की गंभीरता और प्रौढ़ता, साथ ही भावनाओं की मार्मिक गहराई, सब से उनका परिचय है। पर यदि आशंका की कोई बात है तो यही कि वे अपने कथानक का निर्माण रामायण के समान सामान्य जीवन को सीधे प्रभावित करने वाली घटनाओं के आधार पर कर सकते हैं या नहीं। कामायनी भी जो मानस की गम्भीरता, व्यापकता और उच्चता को नहीं छू पाई, उसका मुख्य कारण कथानक की यही विरलता है। पुजारी के हाथ में आरती कैसी ही आलोक और गन्धमयी हो, पर उसका उपयोग है मूर्ति के लिए ही, सूर्य और चन्द्र की रश्मियां से चाहे शत-शत स्वर्ण-रजत के निर्झर निरंतर झरें, पर वे गात धोते हैं धरती का ही।

अपने जीवन में पंत जी से एक बड़े सत्य की उपेक्षा हुई है और वह यह कि बाहरी संघर्ष को इनसे महत्ता नहीं मिली। संसार और समाज के बीच नित्य प्रस्फुटित होने वाले कर्म के सौंदर्य पर इनकी दृष्टि पड़ी ही नहीं। इसी से इनके काव्य में कोमलता तो राशि-राशि बिखरी पड़ी है; पर शक्ति का उसमें बड़ा अभाव है। कर्म के सौंदर्य को हिन्दी में समझा गोस्वामी तुलसीदास

और श्री मैथिलीशरण गुप्त ने। पंत जी जीवन भर कोमल भावनाओं के सौंदर्य पर ही बल देते रहे; पर तुलसी और गुप्त जी ने परुष वृत्तियों में भी सौंदर्य के दर्शन किए। इसी से पन्त जी की अपेक्षा ये दोनों अधिक व्यापक दृष्टि-सम्पन्न कवि कहलायेंगे। जीवन की मूल और प्रेरक वृत्तियों को समझने की जैसी अन्तर्दृष्टि इन दोनों कवियों को मिली, वैसी पंत जी को नहीं। कोमल वृत्तियों से ही जीवन भर चिपटे रहने के कारण पंत जी का अधिकार भावनाओं के बड़े सीमित क्षेत्र तक रह गया है।

कवि-कर्म मनोवृत्तियों की सूक्ष्म विवृत्ति में ही समाप्त नहीं हो जाता। वह ऐसे उदात्त चरित्रों का निर्माण भी करता है जिनके कर्मों से प्रेरणा ग्रहण कर हम अपने जीवन-पथ को प्रशस्त और आलोकित कर सकें। समान शक्ति-शाली दो कवियों में से गीतिकार की अपेक्षा प्रबन्धकाव्यकार का प्रभाव अधिक स्थायी होता है। जैसे कथाकार की शक्ति की वास्तविक परख कहानी से नहीं उपन्यास से होती है, वैसे ही कवि की परख गीतों से नहीं, महाकाव्य से होनी चाहिए। तुलसी, प्रसाद और प्रेमचन्द की कीर्ति के स्थायी स्मारक रामचरित-मानस, कामायनी और गोदान ही हैं। इन्हीं ग्रंथों में इन लेखकों का महान् व्यक्तित्व पूर्ण रूप से प्रस्फुटित हुआ है। मेरे कहने का तात्पर्य यह न समझा जाय कि प्रत्येक प्रबन्धकार गीतिकार से बड़ा होता है। नहीं, ऐसी बात नहीं है। उदाहरण के लिए हमारे सूरदास का स्थान तुलसी को छोड़कर सब के ऊपर है। प्रबन्धकाव्य लिखने पर भी इस युग के बहुत-से रचनाकार निराला और पन्त जैसे बड़े कवि नहीं। फिर भी अपने चारों ओर फैले व्यापक जीवन के सुख-दुःख और आनन्द-उत्साह में योग न देकर केवल अपने कल्पना-लोक में रत रहना ही प्रतिभा का उचित उपयोग नहीं कहा जा सकता। यह बड़े दुःख के साथ लिखना पड़ता है कि 'स्वर्ण-धूलि' से लेकर उनका इधर का काव्य पिछले काव्य की तुलना में श्री-हीन सा है। वे अब कवि से अधिक दार्शनिक और उपदेशक होते चले जा रहे हैं। लेकिन दर्शन तो काव्य नहीं है। पश्चिम के रोमांटिक कवियों और मार्क्स से प्रभावित होकर उन्होंने जो कुछ लिखा उसका अधिकांश हमारे काव्य की विभूति है। वह काव्य जीवन के निकट तो था; पर अब तो वे एक काल्पनिक और आदर्श मनःसृष्टि (Utopia) में

निवास कर रहे हैं। श्री अरविंद की छाया में पड़ा उनका अन्तिम चरण अपना कोई चिह्न छोड़ पाएगा, इसमें मुझे सन्देह ही है। मेरी दृष्टि से पंत जी के काव्य का यह ह्रास-काल है।

पन्त जी की कल्पना-शक्ति ऐसी है जो केवल प्रतिभाशाली कवियों में पाई जाती है। कल्पना का अपना एक स्वतन्त्र अस्तित्व होता है। यह तो निश्चित है कि जिसकी कल्पना-शक्ति कुंठित है वह साहित्य के किसी भी क्षेत्र में सफल नहीं हो सकता। इसके अतिरिक्त भाव और विचार के मूल में भी कल्पना काम करती है। कहने को हमारे पास न जाने कितना होता है! इस सञ्चय में से मौलिक अनुभूतियों और प्रौढ़ विचारों के चयन में एकमात्र कल्पना ही हमारी सहायता करती है। एक और भी बात है। भाव हमारे सुख-दुःख पर निर्भर हो सकते हैं, विचार हमारे संस्कारों, हमारे अध्ययन और जगत के व्यावहारिक ज्ञान पर आधारित; पर उन्हें दूसरों तक पहुँचाने के लिए कल्पना ही हमारे काम आयेगी। हम जो कहना चाहते हैं उसमें कोई क्रम नहीं होता, कोई व्यवस्था नहीं होती। यहाँ भी सहायता के लिए हम कल्पना का मुँह ताकते हैं। जहाँ तक पन्त जी का सम्बन्ध है उस कल्पना पर जो भाव और विचार के साथ अपना स्वतन्त्र स्थान रखती है, उस कल्पना पर जो जगत से मर्म-छवियों का चयन करती है और साथ ही उस कल्पना पर भी जो भावना को कला का रूप देती है, असाधारण अधिकार है।

भावना का क्षेत्र इनका प्रायः सूक्ष्म है जिसमें छनी हुई वासना का हल्का पुट लगा हुआ है। एक अर्थ में पन्त जी में भावुकता की कमी पाई जाती है। अनुभव इनका बड़ा सीमित है। स्वभाव से ये स्वप्नजीवी हैं और थोड़े अरिस्टोक्रैट भी, इसी से ठोस जगत के वास्तविक ज्ञान से ये दूर रहे हैं और जन-साधारण की व्यथा को तो कभी समझ ही नहीं पाए। अपने मन की पीड़ा से भिन्न लोक और संसार के दुःख को जहाँ पहचानने का प्रयत्न इन्होंने किया भी है, वह ऐसा ही है जैसे आजकल का कोई बड़ा नेता बाढ़ के दृश्य को हवाई जहाज से देखकर लौट आवे और एक वक्तव्य दे दे। इन्हीं सब कारणों से जीवन की मार्मिक अभिव्यक्ति इनके काव्य में नहीं पाई जाती। भावुकता की कमी और जीवन के अनुभव का अभाव, ये किसी भी कलाकार के व्यक्तित्व

की दो बड़ी सीमाएँ हो सकती थीं; पर पन्त जी ने इस अभाव को अपनी कल्पना से भर दिया है।

जहाँ तक विचारों का संबंध है, अपने युग की प्रवृत्तियों के सारभूत तत्वों को आत्मसात करने की इनकी क्षमता अपूर्व है। समकालीन अंतर्राष्ट्रीय समस्याओं पर विचार करने के कारण इन्हें हम इस युग का प्रतिनिधि कवि भी कह सकते हैं। खटकने वाली बात इतनी ही है कि एक तो इन ग्रहीत विचारों का कोई आधार होता है—बिना सहारे के पन्त जी कम चल सकते हैं, इन्हें गाँधी, मार्क्स और अरविंद का सहारा चाहिए ही—दूसरे इनके विचारों में कहीं-कहीं उलझाव (confusion) और अंतर्विरोध (contradictions) भी हैं ही।

पन्त जी की सौंदर्य-चेतना बड़ी समृद्ध और विकसित है। इसका आभास हमें प्राकृतिक सुषमा के चित्रों में सबसे पहिले मिलता है। प्रकृति के उपरान्त इनकी दृष्टि नारी पर पड़ी। मुग्धाओं की शारीरिक शोभा के चित्रण में पन्त जी ने कुछ भी उठा नहीं रखा। इस प्रकार काव्य का प्रथम चरण प्रकृति और नारी की सौंदर्य-सृष्टि में ही बीता है। दूसरे चरण में इनकी सौंदर्य-दृष्टि और भी व्यापकता ग्रहण करती है, यहाँ तक कि कुत्सित-कुरूप में भी इन्होंने सौंदर्य की झलक पाई है। इनका तीसरा चरण अन्तःकरण की ज्योति का अनुसरण करता दिखाई देता है और आजकल ये चेतना के दिव्य सौंदर्य के उद्घाटन में रत हैं। इस प्रकार इस सौंदर्य-शिल्पी ने सचमुच अपने काव्य में सुन्दरता के असंख्य शतदल खिलाए हैं।

पन्त जी का सम्पूर्ण काव्य उनके व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति है। इस व्यक्तित्व की शक्ति और सीमाएँ बहुत स्पष्ट हैं। कुछ भी हो, अपनी अनुपम कला, उदात्त कल्पना और सूक्ष्म सौंदर्य-बोध के सहारे गीति-काव्य के सीमित क्षेत्र में भी प्रकृति, अध्यात्म और संस्कृति जैसे बड़े विषयों को सँभालने के कारण पंत जी की गणना इस युग के बड़े कवियों में होगी।

———